सम्पत्ति शास्त्र

लेखक

कृष्ण सहाय अष्ठाना

एम० ए०

प्रकाशक

हिन्दी प्रेस, प्रयाग

१९५०] [मूल्य २॥)

भूमिका

अ यह बड़े ही सन्तोष की बात है कि अब प्रारम्भिक अर्थशास्त्र के अध्ययन से हमारे नवयुवकों और विद्यार्थियों को हाई स्कूल से देश की आर्थिक व सामाजिक स्थिति का कुछ क्रम बद्ध ज्ञान होने लगता है और उनका ध्यान गाँवों और उनकी समस्याओं की ओर आकर्षित होने लगता है।

वास्तव में देश की उन्नति ग्रामोन्नति पर भी निर्भर है, पर ग्रामों और नगरों के बीच एक बड़ी भारी खाई सी पाश्चात्य शिक्षा और आदर्श ने खोद रक्खी है, जिसका उत्तरदायित्व विदेशी बृटिश साम्राज्य पर था। पर अब वह स्वतः हमारे ऊपर आगया है।

इस खाई को पाट देना और इस अन्तर को शीघ्रातिशीघ्र दूर कर देना हमारी राष्ट्रीय उन्नति और ग्रामीण जागृति के लिये नितान्त आवश्यक है। इसलिये हमें अब एक ग्रामीण दृष्टिकोण और सच्ची भारतीय चेतना का अपने भावी नागरिकों में समन्वय करना है, जो हमें फिर गाँवों की ओर ले जायगी। उनकी आधुनिक समस्याओं पर गम्भीरता से विचार करने की और उन्हें संलग्न अध्ययन करने की एक अभिरुचि उत्पन्न करेगी। ऐसा मेरा विश्वास है।

मेरे तुच्छ विचार में अभी इस विषय की वैज्ञानिक ढंग से लिखी हुई पुस्तकों की संख्या बहुत ही कम है, और विद्यार्थियों के सामने अर्थ शास्त्रीय दृष्टि कोण भी बहुत संकुचित अथवा सीमित हैं। मैंने

बोर्ड के प्रास्पेक्टस को दृष्टि में रखते हुए सारी पुस्तक में ग्रामीण दृष्टि कोण बनाये रखने का और नवयुवकों में एक ग्रामीण और राष्ट्रीय चेतना जाग्रत करने का प्रयत्न किया है। इसीलिये कुछ आधुनिक और आवश्यक ग्राम समस्याओं पर विशेष ध्यान दिया है। जैसे 'ग्राम सुधार या जनता' और 'हमारी भोजन समस्या' आदि।

यों तो प्रत्येक समस्या पर बहुत कुछ लिखा जा सकता है। पर विद्यार्थियों की रुचि और शक्ति को ध्यान में रखते हुए उन्हें जटिल बनाने का प्रयत्न नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त कुछ चित्र और चार्ट भी दिये गये हैं, जो विद्यार्थियों को रुचिकर होंगे।

प्रत्येक अध्याय के अन्त में अभ्यास के लिये प्रश्न भी उनकी सहायता के लिये दे दिये गये हैं।

भाषा के विषय में मुझे केवल इतना ही कहना हैं कि अब हिन्दी हमारी राष्ट्र भाषा है और उसका समुचित ज्ञान एक हाई स्कूल के विद्यार्थी को प्राप्त करना आवश्यक है, जिसमें वह अपने शास्त्रीय विचारों को शुद्धता और सरलता से लेख बद्ध कर सके। अतएव मैंने सरल पर शुद्ध हिन्दी लिखने का प्रयत्न किया है। कहीं-कहीं साधारण बोल चाल की भाषा के उर्दू शब्द भी प्रयोग में आ गये हैं और वह इसलिये कि जिसमें प्रारम्भिक हिन्दी के विद्यार्थियों को पुस्तक अरुचि-कर न हो और वे भी भावों को सरलता से ग्रहण कर सकें।

मुझे अपने अध्यापन-अनुभव से यह भी ज्ञात हुआ है और जिस का मुझे खेद है, कि नवीं कक्षा के अधिकांश विद्यार्थी अपने सीधे सादे भावों को भी शुद्ध हिन्दी में प्रकट नहीं कर पाते। गम्भीर विवेचना शील शास्त्रीय विचारों की तो बात ही और है। उन्हें अब सजग हो जाना चाहिये और हिन्दी लिखने का स्वतन्त्र रूप से अभ्यास करना चाहिये। इतिहास, नागरिकशास्त्र तथा अर्थशास्त्र जैसे सामाजिक विषयों में लेखन शैली बहुत बड़ी चीज़ है, और हमें तो अब हिन्दी में

एक वैज्ञानिक शैली का निर्माण करना है। अतः भाषा इससे सरल लिखना कठिन भी जान पड़ता है और विषय की दृष्टि से अनुपयोगी भी।

अन्त में मैं अपने परामर्शदाताओं और सहकारी मित्रों तथा सहायकों को धन्यवाद देता हुआ आशा करता हूं कि विद्यार्थियों तथा अध्यापकों को यह छोटी पुस्तक रुचिकर होगी और एक नवीन दृष्टिकोण और चेतना का उनमें संचार करेगी। बस इसी से मैं अपने परिश्रम को सफल समझूंगा।

मैं अपने अभिन्न मित्र श्री० गनपत वर्मा जी का भी अत्यन्त आभारी हूं, जिन्होंने इस पुस्तक के प्रूफ देखने का कष्ट उठाया और जिनकी सहायता के बिना यह गुरुतर कार्य कभी मुझसे सम्पन्न न हो सकता।

कृष्ण सहाय अष्ठाना
अर्थशास्त्र अध्यापक
गवर्नमेन्ट कालिज
फ़ैज़ाबाद

प्रेमाश्रम
फैज़ाबाद
१–७–५०

(९)

विषय-सूची

पहला अध्याय

अर्थशास्त्र का विषय और परिभाषा

दूसरा अध्याय

अर्थशास्त्र के कुछ मुख्य शब्दों की परिभाषा

तीसरा अध्याय

उत्पत्ति

चौथा अध्याय

कृषि या खेती

पांचवा अध्याय

ग्रामीण घरेलू उद्योग धंधे

छठवाँ अध्याय

उपभोग

सातवाँ अध्याय

रहन सहन का स्तर

आठवाँ अध्याय

पारिवारिक बजट

नवाँ अध्याय

संतुलित आहार के आवश्यक गुण

दसवाँ अध्याय

विनिमय

ग्यारहवाँ अध्याय

ग्रामीण बाज़ार

बारहवाँ अध्याय

ग्रामीण संपत्ति का क्रय-विक्रय

तेरहवाँ अध्याय

वितरण

चौदवाँ अध्याय

बटाइ प्रथा और रीतिरिवाज

पन्द्रहवाँ अध्याय

भूमि ग्राहक प्रणाली

सोलहवाँ अध्याय

औद्योगिक श्रम

सत्रहवाँ अध्याय

ग्रामीण समस्याएँ

अट्ठारहवाँ अध्याय

हमारी खेती की समस्या

उन्नीसवाँ अध्याय

ग्रमीण दस्तकारी की उन्नति

बीसवाँ अध्याय

पशुओं की समस्या

इक्कीसवाँ अध्याय

ग्रामों की ऋणसमस्या

बाइसवाँ अध्याय

मुकदमे बाजी

तेइसवाँ अध्याय

ग्रामीण शिक्षा

तीसवाँ अध्याय

पचायत राज

इकतीसवाँ अध्याय

सहकारिता का प्रारम्भिक ज्ञान

बत्तीसवाँ अध्याय

प्रारम्भिक ऋण सहकारी समितियाँ

तैंतीसवाँ अध्याय

गैर-ऋण सहकारी समितियाँ

चौंतीसवाँ अध्याय

केन्द्रीय सहकारी संस्थायें

सम्पत्ति शास्त्र

प्रथम अध्याय

अर्थशास्त्र का विषय और परिभाषा

(Subject Matter of Economics)

(१) अर्थशास्त्र क्या है ?

यह स्वाभाविक है कि जब कोई विद्यार्थी किसी भी नई विद्या या शास्त्र का क्रमबद्ध (नियमित) ज्ञान प्राप्त करना चाहता है तो वह यह ज़रूर जानना चाहता है कि आखिर इसमें किस विषय का अध्ययन किया जाता है।

हम अभी सूक्ष्मरूप से इस बात का एक संकेत मात्र करेंगे कि अर्थशास्त्र में किस विषय की विवेचना की जाती है।

हम नित्य प्रति देखते हैं कि अधिकतर युवक और प्रौढ़ लोग और उनमें भी विशेष कर पुरुष—यद्यपि अब बहुत सी स्त्रियाँ भी इस समूह में शामिल हैं—कुछ न कुछ ऐसा काम अवश्य करते रहते हैं कि जिससे या तो वे कुछ वस्तु सम्पत्ति प्राप्त कर सकें या धनोपार्जन कर सकें।

ग्रामों में हम देखते हैं कि कटकटाते जाड़े में और जलजलाती धूप में भी बहुत से किसान और मज़दूर खेतों में गोड़ाई, जोताई,

सिंचाई, निराई आदि बड़ी मेहनत और अथक परिश्रम से लगभग साल भर करते रहते हैं। बहुत से गाँव के आदमी प्रातःकाल ही कुदाल और फावड़ा या कन्नी व बसूला लिये हुये शहरों की ओर भागे चले जाते हैं और दिन भर कुछ न कुछ काम करके और कुछ पैसे लेकर शाम को घर लौटते हैं; बढ़ई और लोहार सवेरे से ही अपने अपने काम में व्यस्त हो जाते हैं। बहुत सी औरतें केवल एकाध साधारण सूती वस्त्र पहने हुये दिसम्बर जनवरी के कड़े जाड़े के दिनों में घास या भूसे की गठरियों को सिर पर रखे हुए या तरकारी और फलों के झावे लिये हुये देहात से शहर की बाज़ार की ओर बेतहाशा तेज़ी से भागी चली जाती हैं। कभी कभी सामान से लदी हुई लारियों और गाड़ियों का ताँता गाँवों से शहर और स्टेशन की ओर लगा रहता है।

इसी प्रकार शहरों में भी हम इससे अधिक चहल पहल प्रातः से ही देखते हैं—कोई साइकिल और एक्के पर, कोई ताँगा और मोटर पर इधर से उधर भागा जा रहा है। कोई दूकानों की ओर कोई दफ्तरों की ओर कोई स्कूलों की ओर, कोई कारखानों, बैंकों और स्टेशन की ओर।

अब यह एक स्वाभाविक प्रश्न प्रत्येक बच्चे और विद्यार्थी के मन में किसी न किसी समय अवश्य उठता है कि आखिर यह सब क्यों ऐसा करते हैं चुपचाप शान्ति पूर्वक अपने अपने घर पर क्यों नहीं बैठते?

इसका उत्तर हमें अर्थशास्त्र ही देता है। और उससे ही हमें इसके मुख्य विषय के ज्ञान का कुछ कुछ आभास मिलता है।

इन सब लोगों से मिलने पूछने और पता लगाने से आपको यह मालूम होगा कि उनमें से ज्यादातर लोग यह सब परिश्रम और कार्य्य इसी लिये करते हैं कि या तो उन्हें उससे किसी प्रकार की सम्पत्ति

की आशा है जिसे वेंचकर वे धन कमा सकते हैं। या सीधे धन प्राप्ति की आशा है।

अर्थशास्त्र मनुष्य के इन्हीं धन और सम्पत्ति प्राप्ति के लिये किये जाने वाले सभी कार्यों या प्रयत्नों का क्रमबद्ध या वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करता है, अर्थात वह मनुष्य के सामाजिक जीवन में सम्पत्ति से संबन्ध रखने वाले समस्त कृत्यों और प्रयत्नों का क्रम से अध्ययन करता है और उनके सिद्धान्तों या नियमों की जानकारी कराता है।

अब दूसरा स्वाभाविक प्रश्न जो उठता है वह यह कि आखिर यह सब संसार के लोग घर के या सम्पत्ति के पीछे इतने पागल क्यों हैं ?

क्या धन और सम्पत्ति ही मानव जीवन में सब कुछ है ? क्या यही जीवन का एक मात्र उद्देश्य है ?

इसका उत्तर भी हमें अर्थशास्त्र देता है। और वह यह कि घर और सम्पत्ति से मानव जीवन का बहुत बड़ा सम्बन्ध है—यद्यपि यह वह अब नहीं कहता है कि घर ही जीवन का सर्वस्व है या धन ही पर जीवन का सारा आनन्द शान्ति और विकास निर्भर है। पहले कुछ पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों ने यहाँ तक कह दिया था कि मनुष्य एक आर्थिक प्राणी (Economic being) है। अर्थात् उसके जीवन का एक मात्र उद्देश्य ही धन की प्राप्ति और व्यय है क्योंकि वे केवल धन वैभव को ही सुख का एकमात्र साधन समझते थे।

वास्तव में जन्म से लेकर मृत्यु तक प्रत्येक मनुष्य की—चाहे वह कहीं भी रहता हो और चाहे जिस युग में पैदा हुआ हो—बहुत कुछ ऐसी आवश्यकताएँ अवश्य होती हैं जो किसी वस्तु या पदार्थ अथवा सेवा से ही पूरी होती है। हम देखते हैं कि गाँव के ज़मीदार या ताल्लुक़दार या किसी रियासत के राजा और नवाब साहब या किसी बड़े सेठ या प्रान्तीय गर्वनर के पास बहुत सी बढ़िया बढ़िया कीमती चीजें होती हैं।

उनके पास बड़ी आलीशान कोठियाँ और बंगले हैं, जिनमें सब प्रकार की आराम की वस्तुएँ हैं, जैसे बिजली की रोशनी और पंखे (ठंडे व गर्म) पानी के पाइप, मेजें, कुर्सियाँ, पलंग, अलमारियाँ, कालीन, पर्दे, खस की टट्टियाँ इत्यादि। इसके अतिरिक्त न जाने कितने प्रकार के सूती, रेशमी, ऊनी कपड़े सोने चाँदी व हीरे मोती, जवाहरात के आभूषण, सोने चाँदी फूल पीतल के बरतन, भोजन की अच्छी से अच्छी वस्तुएँ, पूड़ी, हलवे, मिठाइयाँ, मुरब्बे, अचार, पकवान, फल दूध, दही आदि। सवारी के लिये साइकिल ताँगे, मोटर, घोड़ा सभी कुछ देखने में आता है। पर यदि आप दूसरी ओर दृष्टि करें तो आप देखेंगे कि गाँव के बेचारे दीन दुखी, किसान और मज़दूरों के पास ऐसी कोई वस्तु नहीं हैं। उन्हें एक समय रूखा सूखा साग रोटी या अरहर की दाल जिसमें घी का नाम भी नहीं होता खाने को मिलता है। फटा, मैला, पुराना वस्त्र पहनने को और फूस का टूटा फूटा घर रहने को, बहुतों को सोने के लिये चारपाई भी नसीब नहीं होती।

जिन लोगों के पास जैसे हमारी ग्रामीण जनता, ऐसी वस्तुएँ बहुत कम होती हैं, जो उन्हें सुख पहुँचा सकें या उनके पास धन इतना कम है कि वह उनकी आवश्यकताओं को पूरा कर सके उनकी संख्या हमारे देश में बहुत ज्यादा है अतएव इन्हीं आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये हर एक प्राणी प्रातः से सायंकाल तक कुछ न कुछ ऐसा काम करता रहता है या ऐसे काम करने की योग्यता प्राप्त करने में लगा हुआ है जिसमें वह शीघ्राति शीघ्र धन कमा सके या अपनी जीविका वहन कर सके। और जीवन को अधिक से अधिक सुखी, शान्त और सन्तुष्ट बना सके। अतः जो जितना कोई न कोई काम या रोजगार करके कमा सकता है, उतनी ही उसमें जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने की शक्ति होती हैं। जो मज़दूर १) रोज कमाता है और चार पाँच प्राणियों का अपने परिवार में पालन करता है वह

बड़ी कठनाई से एक समय के साधारण भोजन के लिये सामग्री जुटा सकता है। और उसके रहन सहन का दर्जा अत्यन्त नीचा होता है। साथ ही जो किसान सपरिवार खूब परिश्रम करके काफ़ी ग़ल्ला अपने खेत में पैदा करता है वह अपनी बहुत सी आवश्यकताओं को और अच्छी तरह से पूरा करता है। और उस मज़दूर से सुखी जीवन व्यतीत कर सकता है। इसलिये उसके रहन सहन का दर्जा भी इससे अवश्य कुछ ऊँचा होता है। इसी प्रकार ज्यों ज्यों आमदनी या आय बढ़ती जाती है जीवन का सुख और सन्तोष भी बहुत कुछ बढ़ता जाता है और रहन सहन भी अच्छा होता जाता है।

अतएव इस धन कमाने और उसके खर्च करने के समस्त कार्य्य-कलापों या प्रयत्नों और क्रियाओं को हम अर्थशास्त्र का पाठ्य-विषय समझते हैं और उनमें से निकाले हुए नियमों और सिद्धान्तों को हम अर्थशास्त्र कहते हैं। दूसरे शब्दों में अर्थशास्त्र की परिभाषा हम यों कर सकते हैं "अर्थशास्त्र वह सामाजिक शास्त्र है जो मनुष्य के धन और सम्पत्ति सम्बन्धी सभी साधनों और नियमों का क्रमबद्ध अध्ययन करता है।"

इस विषय में हमें कुछ विशेष बातें संक्षेप में याद रखनी चाहिये :—

(१) प्रत्येक मनुष्य की कुछ न कुछ ऐसी आवश्यकतायें अवश्य होती हैं जिनको धन और सम्पत्ति द्वारा ही पूरा किया जा सकता है।

(२) इन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये धन और सम्पत्ति की आवश्यकता सभी को होती हैं। अतः उसे उपार्जन करने के लिये कोई न कोई ऐसा काम भी करना ही होता है जिसके फल स्वरूप या बदले में धन और सम्पत्ति प्राप्त हो सकें।

(३) इन्हीं सब मानव आवश्यकताओं और धन, सम्पत्ति की प्राप्ति की जानेवाली तथा उसे व्यय और उपयोग करनेवाली क्रियाओं

और प्रयत्नों को अध्ययन करके कुछ सिद्धान्त अथवा नियम निर्धारित किये गये हैं और उन्हीं नियमों और सिद्धान्तों का सामूहिक नाम "अर्थशास्त्र" है।

(४) अर्थशास्त्र में किसी एक मनुष्य या कुछ मनुष्यों की ही धन संबंधी कृतियों या क्रियाओं का अध्ययन नहीं किया जाता वरन् समस्त मानव समाज द्वारा की हुई भूत और वर्त्तमान सभी क्रियाओं का अध्ययन करना आवश्यक है नहीं तो जो नियम बनाए जायेंगे वे अधूरे या झूठे होंगे—कहीं लागू होंगे और कहीं नहीं यद्यपि यह बात भी याद रखनी चाहिये कि जो कुछ भी नियम या सिद्धान्त अब तक इस शास्त्र में बने हैं वे अधिकतर पाश्चात्य देशों की क्रियाओं और घटनाओं को अध्ययन करके बनाए गए हैं।

यही कारण है कि उन सब की विश्वव्यापकता पूर्णरूप से स्वीकार नहीं की जा सकती है। अतः शिक्षा और सभ्यता के प्रसार के साथ ही साथ अर्थशास्त्र तथा अन्य शास्त्रों का भी अध्ययन प्रत्येक देशों और भूखंड में स्वतंत्र रूप से किया जा रहा है और यह निर्णय किया जा रहा है कि कौन से सिद्धान्त वहाँ लागू हैं और कहाँ तक।

यही कारण है कि अर्थशास्त्र को हम समाज शास्त्र कहते हैं।

(५) मनुष्य की अनेकों आवश्यकतायें और कार्य ऐसे भी हैं जिनका धन से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। जैसे पूजापाठ, योगाभ्यास, प्राणायाम, गंगास्नान, खेलकूद, मनोरंजन जिसमें कुछ खर्च न हो या माता पिता, भाई बहन का स्वाभाविक स्नेह और प्रेम तथा देश और जाति की निस्वार्थ सेवा इत्यादि।

अभी तक इन आवश्यकताओं और प्रयत्नों को अर्थशास्त्र के क्षेत्र से बाहर समझा जाता रहा है, पर अभी हाल ही में विद्वानों ने एक नवीन और विस्तृत दृष्टिकोण अर्थशास्त्र के विषय में उपस्थित किया है और वह यह है कि 'अर्थशास्त्र मनुष्य की सारी आवश्यकताओं

और उनकी पूर्ति के लिये किये जाने वाले समस्त प्रयत्नों और साधनों का अध्ययन करता है। उनका मत है कि हमारे जीवन के उद्देश्य अनेक हैं या आवश्यकताएँ अनन्त हैं पर उनकी पूर्ति के साधन मानव समाज के पास सीमित हैं, अतएव यह शास्त्र उन साधनों को बढ़ाने के प्रयत्नों तथा उनके अच्छे से अच्छे उपयोग का अध्ययन इसलिये करता है कि उन्हीं के सदुपयोग पर हमारे जीवन का समस्त सुख और शान्ति निर्भर है। इस दृष्टिकोण में मानव जीवन का परम उद्देश्य परम सुख और शान्ति है, जिसकी प्राप्ति के साधन और प्रयत्न ही आधुनिक अर्थशास्त्र का विषय है।

(२) 'अर्थशास्त्र के विभाग'

'Departments of Economics'

मनुष्य के सारे सम्पत्ति सम्बन्धी काम और प्रयत्न ५ (पांच) भागों में बांटे जा सकते हैं। चाहे हम एक परिवार के आर्थिक कृत्यों को देखें और चाहे एक देश या समूह के प्रयत्नों को।

एक किसान की अनेकों आवश्यकतायें हैं उनको पूरा करने के लिये वह खेती करता है, अर्थात् वह सम्पत्ति उत्पन्न करता है। इसी प्रकार बढ़ई मेज़ कुरसी, चारपाई, हल, खुरपी, कुदाल, फावड़े आदि लकड़ी के बनाता है। वह भी सम्पत्ति उत्पन्न करता है। इसी प्रकार शहर का एक कारख़ाना कपड़े बनाता है और वह भी सम्पत्ति का उत्पादन करता है।

इसी प्रकार बहुत से लोग, जैसे नौकर चाकर, नाई, धोबी, डाक्टर, वकील, मास्टर, मुन्सिफ आदि, कुछ लोगों की या समाज की सेवा करके धन कमाते हैं। इन सब कार्यों को और इसी प्रकार के समाज में होनेवाले अन्य समस्त कार्य्यों को हम अर्थशास्त्र के एक विशेष विभाग के अन्तर्गत अध्ययन करते हैं जिसे हम सम्पत्ति की

उत्पत्ति या 'सम्पत्ति उत्पादन' (Production of Wealth) कहते हैं। सूक्ष्म रूप से इसे (उत्पादन) या Production विभाग कहा जाता है।

जब किसान बीज खेती द्वारा पैदा कर लेता है तो उसे उसका कुछ भाग अपने खाने और आगामी फ़सल के लिये बीज भर को रख कर शेष निकट गांवों में या शहरों की बाज़ारों में या दूर की मंडियों में बेचना होता है। जिससे कुछ धन या रुपया मिल जाता है। जिससे वह अपने मज़दूरों की मज़दूरी, महाजन का मूल और ब्याज का रुपिया तथा ज़मींदार का लगान आदि दे सकता है और शेष में से नित्य प्रति की आवश्यक वस्तुएँ कपड़ा, जूता, घी, तेल, नमक, मसाला, फल, मिठाई आदि मोल लेना है। इसी प्रकार और लोग भी नित्यप्रति तमाम वस्तुएँ बेचते और खरीदते रहते हैं। क्योंकि हरएक आदमी अपनी सभी आवश्यक वस्तुओं को नहीं पैदा कर सकता है। वह पुरोहित, नाई, धोबी आदि की सेवाएँ भी मोल लेता है। उनके बदले में सम्पत्ति या धन देता है।

इन्हीं सब सम्पत्ति के अदल बदल या बेचने और खरीदने के कार्यों को और वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य निर्धारण के नियमों को अर्थशास्त्र के एक विशेष विभाग में अध्ययन किया जाता है, जिसे 'विनिमय' (Exchange) कहते हैं।

किसान अपना माल बेच कर धन प्राप्त करता है पर उसमें से कुछ न कुछ भाग उसे उन लोगों को भी देना पड़ता है जिन्होंने खेती करने में उसकी सहायता की है जैसे मज़दूरों की मज़दूरी, ज़मीदार को लगान और महाजन को सूद इत्यादि और जो बचता है उसे वह अपनी आय समझता है। ऐसे ही और सब सम्पत्ति उत्पादकों को करना पड़ता है, क्योंकि कोई भी बिना कुछ लिये हुये सम्पत्ति के उत्पादन में सहायता करने को साधारणतया तय्यार नहीं होता है।

छोटे बड़े सभी कारखानों में भी ऐसा ही होता है अर्थात् पैदा की हुई सम्पत्ति का बटवारा हो जाता है। इन्हीं सम्पत्ति की बंटवारे की क्रियाओं और जिन नियमों के अनुकूल वे होती हैं उनका हम अर्थ-शास्त्र के एक तीसरे विभाग में अध्ययन करते हैं। जिसे 'वितरण' (Distribution) कहते हैं।

इस बंटवारे के पश्चात् प्रत्येक व्यक्ति के हाथ में या हिस्से में सम्पत्ति आती है और वही उसकी आय या आमदनी होती है। इसी को खर्च करके वह अपनी दैनिक आवश्यकताओं को पूरा करता है। अर्थशास्त्र के जिस विभाग में यह सब आवश्यकताएँ, क्रियायें और नियम अध्ययन किये जाते हैं उसे उपभोग (Consumption) कहते हैं।

साधारणतया अर्थशास्त्र के विषय को हम इन चार भागों में बांट सकते हैं, पर इनके अतिरिक्त एक विभाग और भी हैं जिसमें हम सरकार की आय व्यय के नियमों का अध्ययन करते हैं क्योंकि बिना किसी सरकार या शासन सत्ता के किसी भी देश या समाज में प्राण और सम्पत्ति की रक्षा नहीं हो सकती हैं और न शान्ति ही रह सकती है। और यह दोनों बातें प्रत्येक समाज में आर्थिक जीवन की प्रगति और उन्नति के लिये परम आवश्यक है।

इस विभाग को 'राजस्व' (Public Finance) कहते हैं।

इस प्रकार अर्थशास्त्र के समस्त विषय को हम पांच भागों में बांट सकते हैं। जो इस शास्त्र के ५ विभाग कहलाते हैं। वे निम्न-लिखित हैं :—

(१) उत्पादन (Production , (२) उपभोग (Consumption), (३) विनिमय (Exchange), (४) वितरण (Distribution), (५) राजस्व (Public Finance).

इन पांच विभागों का सविस्तार वर्णन और अध्ययन आगे चलकर उचित स्थान पर किया जायेगा।

प्रश्न

(१) अर्थशास्त्र क्या है ? आपने इस विषय को पढ़ने के लिये क्यों चुना ? (U. P. Board 1946)

(२) अर्थशास्त्र की ठीक ठीक परिभाषा लिखिये और यह भी बताइये कि इसमें किन किन बातों पर ध्यान देने की आवश्यकता है ?

(३) अर्थशास्त्र के विषय को किन किन भागों में बांटा जाता है ? उनका सविस्तार वर्णन कीजिये। (Board 1945)

(४) खेल एक प्रकार के उपभोग की क्रिया है या उत्पादन क ? (U. P. Board 1948 .

दूसरा अध्याय

अर्थशास्त्र के कुछ मुख्य शब्दों की परिभाषाएँ

प्रत्येक भाषा के कुछ शब्द ऐसे होते हैं जिनके दो अर्थ होते हैं एक तो साधारण बोलचाल में उनका कुछ अर्थ होता है। और दूसरा अर्थ वैज्ञानिक या शास्त्रीय होता है अर्थ शास्त्र में भी कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका प्रयोग इस शास्त्र में एक विशेष अर्थ में होता है और वह उनके साधारण बोलचाल के अर्थ से कुछ भिन्न होता है। ऐसे कुछ शब्दों के अर्थ हम नीचे बताते हैं, जिनका प्रयोग हमारे शास्त्र में निरन्तर उन्हीं 'अर्थों' में होता रहता है :—

सम्पत्ति या धन (Wealth)

(आ) सम्पत्ति की परिभाषा—

सम्पत्ति शब्द पिछले अध्याय में कई बार प्रयुक्त हुआ है पर अभी आप उसका ठीक आर्थिक या शास्त्रीय अर्थ नहीं जानते हैं। यह शब्द इस शास्त्र में अत्यन्त महत्व पूर्ण है, क्योंकि इस शास्त्र में मानव जीवन के इस अंग का अध्ययन किया जाता है जो सम्पत्ति से सम्बन्ध रखता है।

'धन' शब्द तो साधारणतया रुपये पैसे के ही लिये भाषा में प्रयुक्त होता है। 'सम्पत्ति' शब्द साधारणतः 'जायदाद' या उन भौतिक अचल वस्तुओं के लिये प्रयुक्त होता है जिनका काफ़ी मूल्य होता हो और जिनसे मनुष्य की सामाजिक प्रतिष्ठा और हैसियत का बोध होता है।

अर्थशास्त्र में धन और सम्पत्ति दोनों शब्द एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। अर्थात् वे सारी वस्तुएँ जो विनिमय साध्य हैं धन या सम्पत्ति कहलाती है और निम्नांकित गुण रखती है :—

(१) उपयोगिता (Utility) धन या सम्पत्ति कही जाने वाली समस्त वस्तुओं में एक सब से आवश्यक गुण यह है कि वे मनुष्य के लिये उपयोगी होती है अर्थात् उनमें मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरा करने की शक्ति होती है।

उपयोगिता (Utility) का अर्थ आगे ठीक बताया जायगा पर यहाँ पर इतना याद रखना चाहिये कि उपयोगिता (Utility) मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरा करने की या सन्तुष्ट करने की शक्ति का नाम है।

यदि किसी वस्तु में यह शक्ति नहीं है तो उसे कोई भी मोल लेना न चाहेगा और न उसके लिये किसी प्रकार का त्याग करना चाहेगा अर्थात् ऐसी वस्तु कोई खरीदना नहीं चाहता व उसका कोई दाम

लगाता है। सम्भव है कि यदि किसी के पास ऐसी कोई वस्तु है तो वह स्वयम् उसे बेच कर दाम खड़े करना चाहता हो, पर यदि उसमें किसी के लिये भी उपयोगिता उस समय या उस स्थान पर नहीं है तो वेची न जा सकेगी। अतएव साधारणतया सम्पत्ति के उत्पादक लोग किसान, जुलाहा बढ़ई, लोहार, चमार, कुम्हार आदि ऐसी वस्तुएँ उत्पन्न करते हैं जिनके बारे में वे निश्चित होते हैं कि उनमें उपयोगिता किसी के लिये अवश्य है और बाज़ार में उनकी मांग है अर्थात् वे विनिमय साध्य हैं। अतएव साधारणतया जो भी चीज़ें हम मोल लेते हैं वे हमारी सम्पत्ति या धन हैं क्योंकि उनमें उपयोगिता हमारे लिये अवश्य है।

(२) दूसरा गुण जो सम्पत्ति में होना आवश्यक है वह है परिवर्तन शीलता (Transferability) सम्पत्ति परिवर्तनशील होती है। अर्थात् वह एक से दूसरे स्थान पर और एक से दूसरे मनुष्य के पास जा सकती है। ऐसी सम्पत्ति को हम चल सम्पत्ति कहते हैं जैसे रुपिया पैसा, कपड़ा, मेंज, कुर्सी, अनाज, नमक, तेल, फल, मिठाई, आदि। दूसरी अचल सम्पत्ति होती है। उसका स्थानान्तर नहीं हो सकता है जैसे जमीन, कुआं मकान आदि। पर उसका स्वामित्व परिवर्तन हो सकता है। विक्री से मालिक मकान बदलते रहते हैं।

अब जिस वस्तु में यह गुण नहीं है वह सम्पति नहीं कही जा सकती है जैसे किसी को कोई ज्ञान, गुण, भावना या विचार किसी दूसरे को सर्वथा नहीं दिये जा सकते। उदाहरण के लिये एक शिक्षक का ज्ञान जो विद्यार्थियों को देने पर भी कम नहीं होता वह अपने स्थान और स्वामी को छोड़ कर दूसरे के पास नहीं चला जाता। इस लिये आर्थिक दृष्टि से अध्यापक का ज्ञान या शिशु का भाव स्नेह या देश भक्त का देश प्रेम इसी गुण के न होने से सम्पत्ति नहीं कहे जा सकते।

(३) दुर्लभता (Scarcity)—सम्पत्ति वास्तव में वह वस्तु या वस्तुएँ हैं जो मनुष्य को आसानी से प्राप्त नहीं है और आवश्यकता से बहुत कम हैं। इसीलिये उन्हें प्राप्त करने के लिये मनुष्य को परिश्रम करना होता है या रुपया पैसा खर्च करना पड़ता है। किसान ही को लीजिये। उसे हल की या पुर की आवश्यकता है तो वह कहाँ से लाये उनका कहीं ऐसा भंडार नहीं भरा है जिसमें से वह चुपचाप उठा लावे हल या पुर तो किसी बढ़ई या चमार को बनाना पड़ेगा। और उसमें कुछ लागत भी लगेगी तो जब वह किसान को देगा तो अपनी लागत लेगा, और कुछ अपना मुनाफ़ा भी लेगा। अतएव किसान को उसका पूरा मूल्य देना होगा। या वह स्वयम् परिश्रम करके उसे बनावे।

इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि प्रकृति की ओर से बहुत सी वस्तुएँ हमें मुफ्त ही में मिलती रहती हैं। जैसे धूप, चाँदनी, वर्षा, हवा आदि। जिसके लिये किसी भी मनुष्य को बदले में कुछ नहीं देना होता। अतः यह चीजें धन या सम्पत्ति नहीं हो सकती हैं क्योंकि वे असीमित रूप से पर्याप्त मात्रा में मिल रही हैं। पर हल और पुर जो आवश्यकतानुसार बहुत कम मात्रा में हैं अवश्य सम्पत्ति हैं इसलिये उनका मूल्य चुकाना पड़ता है। वे मुफ्त नहीं मिल सकते हैं।

अतएव हम कह सकते हैं कि सम्पति या धन में आर्थिक दृष्टि से वे सब वस्तुएँ शामिल हैं, जो खरीदी व बेची जा सकती हैं और जो बिना उपर्युक्त तीनों गुणों के सम्भ नहीं है अर्थात् सम्पत्ति विनिमय साध्य है और उसमें यह तीन गुण होते हैं—उपयोगिता, परिवर्तन शीलता और दुर्लभता।

हाँ, एक बात सम्पत्ति के विषय में और भी जान लेना आवश्यक है वह यह कि सम्पत्ति में केवल भौतिक वस्तुएँ—जैसे रुपया, घर, कपड़ा, अनाज, पुस्तक, कुरसी, लालटेन, साइकिल आदि ही नहीं गिनी

जातीं। कुछ अभौतिक वस्तुएँ भी इसमें आती हैं और वे हैं 'सेवाएँ' और 'अधिकार' जो बेचे और खरीदे जा सकते हैं। जैसे धोबी, नाई, नौकर चाकर का काम, डाक्टर और मास्टर के काम। यह अभौतिक कार्य्य हैं जिनका मूल्य हमें देना होता है। इसी प्रकार अपनी पुस्तक के बेचने के अधिकार को हम दूसरे के हाथ बेच सकते हैं।

(२) सम्पत्ति और सम्पन्नता (Wealth & Prosperity)

यों तो सदैव ही जीवन में धन का एक मुख्य स्थान रहा है पर आजकल भौतिक वाद और वैज्ञानिक उन्नति के साथ साथ धन और सम्पत्ति का महत्व बहुत कुछ बढ़ गया है। धनी आदमी ही बहुत कुछ सुखी है, क्योंकि सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानव जीवन की आवश्यकताएँ अपरिमित रूप से बढ़ गई हैं। और निरन्तर बढ़ती ही जाती हैं और उनको सन्तुष्ट करने में ही सुख समझा जाता है। अब जिसके पास अपार या अधिक धन होगा वही अधिक सुखी भी हो सकेगा। यह जीवन का आधुनिक भौतिक दृष्टिकोण है।

अन्य शब्दों में आधुनिक संसार सुख को सम्पत्ति से ही नापता है। और उसे ही जीवन का एक मात्र धेय समझा बैठा है।

भारतीय दृष्टिकोण इससे भिन्न रहा है। उसके अनुसार अर्थ और काम की आवश्यकता जीवन में है पर उससे अधिक धर्म और मोक्ष की। अर्थ और काम को धर्म के आधीन या आश्रित रहने से ही जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि धर्म से धन कमाने और धर्म से ही उसके व्यय करने में व्यक्ति और समाज का अन्तिम कल्याण है। और परम शान्ति सम्भव है। यदि धन और काम की इच्छा मानव जीवन की एक मात्र वृत्ति और प्रेरणा बन जायेगी और धर्म और नीति की चिन्ता न की जायेगी तो मानव जीवन नारकीय हो

जायेगा। इस समय सारे संसार की प्रवृत्ति यही है कि किसी न किसी प्रकार सम्पत्ति या धन को बढ़ाओ और सुख से जीवन व्यतीत करो।

भारतीय दर्शन सम्पत्ति को माया कहता है पर उसे माता समझ कर उससे व्यवहार करने के कहता है ना कि उसे प्रेयसी बना कर गले का हार बनाने को। सम्पत्ति तो जितनी हम पैदा करें उतनी नीति पूर्वक पैदा करें पर मुख्य प्रश्न उसके उचित वितरण और व्यय की है। यदि ये ठीक न होंगे अर्थात् यदि धर्म का अंकुश यहां न रहेगा तो समाज में सदैव अशांति रहेगी और यही आधुनिक आर्थिक समस्या भी हैं। इसीलिये पूँजीवाद के आज समाज का एक भयानक रोग समझा जा रहा है।

अतएव धर्म और नीति के साथ सम्पत्ति का उत्पादन, विनिमय, वितरण, और उपभोग होना चाहिये तभी मानव जीवन न केवल भौतिक या शारीरिक और मानसिक सुख को प्राप्त कर सकेगा बल्कि महान अध्यात्मिक सुख और शान्ति का भी अधिकारी हो सकेगा।

हमारा देश पाश्चात्य देशों की अपेक्षा बहुत ग़रीब है। अर्थात् सम्पत्ति की इतनी कमी है या उसका वितरण इतना खराब है कि आधी से अधिक जनता दिन में एक बार भी भर पेट भोजन नहीं पाती है और न उसके पास यथेष्ठ वस्त्र और घर हैं न शिक्षा और स्वास्थ्य। अतएव इस देश को धनी बनाने की बड़ी भारी आवश्यकता है। क्योंकि जब तक धन न होगा हमारे जीवन की मूल आवश्यकतायें भी पूरी न हो सकेंगी और न सुख और शान्ति का संचार ही हो सकेगा। भोजन वस्त्र, मकान के साथ शिक्षा और स्वास्थ्य की इस समय देश को परम आवश्यकता है। बिना इनके हम किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकते। अध्यात्मिक उन्नति भी असम्भव है क्योंकि यह कहावत ठीक है कि 'भूखे भजन न होय गोपाला' ग़रीबी में पाप के बढ़ने की बहुत सम्भावना रहती है और धर्म नष्ट हो जाता है। अतएव इस

समय शासन और शासक सब को मिलकर ऐसी योजनाएं बनानी चाहिये और काम में लानी चाहिये कि जिनसे शीघ्र ही अधिक सी अधिक सम्पत्ति हमारे देश में पैदा की जा सके; व्यक्तिगत आय बढ़ सके और रहन सहन का दर्जा भी वास्तव में ऊँचा हो सके।

हमारे देश में सम्पत्ति के साधन संसार के किसी भी देश से कम नहीं है पूँजी, साहस और घोर परिश्रम की आवश्यकता है। आजकल तो हमें अनाज भी बाहर से मंगाना पड़ता है। यह हमारे देश के लिये लज्जा और दुख की बात है।

अब हमारी राष्ट्रीय सरकार सब प्रकार के आर्थिक उन्नति का प्रयास कर रही है। हमें उसमें पूर्ण योग देना चाहिये।

उपयोगिता (Utility)

हमारे पास जितनी भी वस्तुएँ हैं उन सब में एक विशेष गुण यह है कि वे हमारी कोई न कोई आवश्यकता अवश्य पूरी करती हैं अगर ऐसा न होता तो हम उन्हें लेते ही नहीं और न हम उनके लिये कुछ खर्च करने को तय्यार ही होते। हल, बैल, कुदाल, फावड़ा, कपड़ा, तम्बाकू, बर्तन मकान, पुस्तक, चारपाई, जो कुछ भी एक आदमी के पास है सब में वही शक्ति मौजूद है?

मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरा करने की इसी शक्ति को ही हम उपयोगिता कहते हैं। जैसा हमने अभी देखा है सम्पत्ति की यह शक्ति एक विशेष गुण है। कोई भी वस्तु बिना उपयोगिता के सम्पत्ति नहीं हो सकती है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि जिस वस्तु में उपयोगिता हो वह अवश्य ही सम्पत्ति हो क्योंकि सम्पत्ति होने के लिये एक वस्तु में और भी दो गुणों का होना आवश्यक है। यही कारण है कि सूर्य का प्रकाश सम्पत्ति नहीं है यद्यपि उसमें उपयोगिता है, पर लालटेन या गैस लैम्प की रोशनी सम्पत्ति है क्योंकि यह विनिमय साध्य है, इसका मूल्य है।

कुछ लोग 'उपयोगिता' और 'लाभदायकता' का एक ही अर्थ समझते हैं। यह ग़लत है। 'विष' लाभदायक नहीं है या हानिकारक है पर फिर भी उसमें उपयोगिता है, क्योंकि वह किसी अवसर पर आदमी की आवश्यकता को पूरी करता है। इस प्रकार अच्छी कहीं जाने वाली चीजें दूध, घी, मिठाई और बुरी कहीं जाने वाली चीज़ें शराब, ज़हर सब में उपयोगिता या अच्छाई-बुराई से कोई सरोकार नहीं है। वह तो केवल वस्तुओं की एक शक्ति है जो मनुष्य की किसी आवश्यकता को कभी और किसी परिस्थिति में पूरी कर सकती है।

मूल्य (Value)

'मूल्य' शब्द अर्थ शास्त्र में दो अर्थों में प्रयुक्त होता है।

(१) प्रयोग में मूल्य—(Value-in-use).

(२) विनिमय में मूल्य— Value-in-Exchange).

प्रयोग में मूल्य (Value-in-use) का अर्थ तो वही है जो उपयोगिता का है। यह वस्तु का वह मूल्य है जो उसे प्रयोग में लाने से मालूम होता है। जैसे भोजन करने में हमें सुख और सन्तोष मालूम होता है, या अच्छा कपड़ा पहनने से हमें कुछ अधिक सुख मिलता है।

विनिमय में मूल्य (Value-in-Exchange)

यह मूल्य भी वस्तु की एक शक्ति ही है। इस शक्ति से वह दूसरी वस्तुओं को बदले में लाती है जबकि उसका विनिमय (Exchange) दूसरी वस्तुओं से किया जाता है।

अर्थशास्त्र में केवल 'मूल्य' (Value) शब्द इसी विनिमय वाले अर्थ में प्रयोग किया जाता है। इस मूल्य को हम सुगमता से नाप भी

२

सकते हैं, जैसे यदि एक सेर गेहूं के बदले हमें २ सेर आलू मिलते हैं तो हम कह सकते हैं कि एक सेर गेहूं का मूल्य २ सेर आलू हैं और २ सेर आलू का मूल्य १ सेर गेहूं है।

मूल्यवान होना ही सम्पत्ति या धन की सबसे बड़ी पहचान है। क्योंकि सब विनिमय साध्य वस्तुओं को ही सम्पत्ति कहा जाता है।

'दाम' (Price)

एक समय था जब रुपये पैसे का प्रयोग नहीं होता था। उस समय वस्तुओं का अदल बदल वस्तुओं से ही होता था। उस प्रणाली को वस्तु परिवर्तन विनिमय प्रणाली (Barter System of Exchange) कहा जाता था और तब वस्तुओं का मूल्य भी वस्तुओं में ही प्रकट किया जाता था । जैसे १ सेर गेहूँ का मूल्य २ सेर आलू, ३ सेर चावल, ५ सेर शक्कर या एक गज़ कपड़ा कहा जा सकता था। पर आजकल मूल्य आम तौर से रुपये पैसे में प्रकट किया जाता है। इसको कीमत या दाम कहते हैं जैसे १ सेर घी का दाम ५) रु० है । या एक गज़ कपड़े का दाम १) है। जब मूल्य रुपये पैसे में प्रकट किया जाता है तब उसे दाम या क़ीमत कहते हैं।

आय (Income)

हर आदमी को अपने जीवन निर्वाह के लिये कुछ न कुछ कार्य या प्रयत्न करना पड़ता है और उससे वह एक निश्चित समय के भीतर कुछ रुपिया या धन कमाता है।

इसी दैनिक, साप्ताहिक, मासिक, छः मासिक या वार्षिक कमाई को आय या आमदनी कहा जाता है।

आय कई प्रकार से की जा सकती है—

(१) किसी मकान, ज़मीन, और मशीन या सवारी आदि को किराये पर देने से, जैसे ज़मीदार को लगान और मकान के किराये

के रूप में आय होती हैं। वैसे ही एक गाड़ीवान को गाड़ी और बैल किराये पर देने से आय होती है।

आजकल शहरों में रिकसे आम तौर से किराये पर चलाने वालों को दिये जाते हैं। अर्थात् भूमि या किसी भी सम्पत्ति के स्वामी की आय उसे किराये पर देने से होती है।

(२) मज़दूरी करने और नौकरी करने से आय हो सकती है। गांवों में बहुत से लोग दूसरों के खेतों और घरों मे मज़दूरी और खिदमत गारी का काम करके रुपया कमाते हैं। शहर में बहुत से मध्य श्रेणी के शिक्षित लोग दफ़्तरों, स्कूलों, बैंकों, डाकखानों, स्टेशनों, होटलों और कारखानों में नौकरियाँ करके 'आय' या आमदनी करते हैं। सरकारी बड़े-बड़े अफ़सरों की बड़ी बड़ी तनख्वाहें होती हैं।

(३) बहुत से लोग जैसे सेठ साहूकार महाजन, बैंकर अपना रुपिया दूसरों को उधार देते हैं और उसके बदले में सूद ब्याज़ लेते हैं और इससे उनकी आय होती है।

(४) कोई रोज़गार या व्यापार करके लाभ के रूप में आय होती है। बहुत से लोग कई प्रकार के उद्योग धंधे और व्यापार में बहुत रुपिया कमा रहे है। वास्तव में व्यापार और उद्योग धंधों से ही काफ़ी आमदनी हो सकती है।

मनुष्य का रहन सहन और आर्थिक स्थिति उसकी आय पर ही बहुत कुछ निर्भर होती है जिसकी आय अधिक होती है वही सुखी और अमीर है। जिसकी आय कम है वह दुखी और ग़रीब हैं।

डा० राव के अनुसार हमारे देश के एक व्यक्ति की मासिक औसत आय ५ रु० ६ आ० ६ पा० है। इसकी अपेक्षा एक अमेरिकन की मासिक औसत आय १७१) रु० अंग्रेज़ की ९१) रु० और जापानी की २२ रु० ८ आ० हैं इन आँकड़ों से प्रतीत होता है कि हमारा [देश] इस समय संसार के सबसे ग़रीब देशों में से एक है और इस

लिये यहाँ कमज़ोरी बीमारी, मूर्खता, और अशान्ति बहुत हैं। परन्तु अब हमें आशा है कि कुछ ही समय में गांवों की और दुखी जानता की दशा में सुधार-होगा और उन्नति होगी।

प्रश्न

(१) धन या सम्पत्ति का क्या अर्थ है? भारतीय किसान की ग़रीबी के कारण लिखिये और उसको दूर करने के उपाय बताइये। (U. P. Board 1943)

(२) सम्पत्ति की महत्ता पर एक निबन्ध लिखो।

(३) उपयोगिता, मूल्य, और दाम का भेद ठीक-ठीक समझाओ।

तीसरा अध्याय

उत्पत्ति (Production)

उत्पत्ति का अर्थ :—

अर्थशास्त्र के विषय में यह कहा जा चुका है कि मनुष्य अपनी अनेक दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये किसी न किसी उपाय या प्रयत्न से या तो कुछ सम्पत्ति उत्पन्न करता है और उसे बेच कर अन्य आवश्यक वस्तुएँ खरीदता है या किसी प्रकार की सेवा करके या अन्य पिछले अध्याय में बताये हुये साधनों से कुछ कमाई करके जीवन की सारी आवश्यकताओं को पूरा करने की निरन्तर कोशिश करता रहता है।

इस सम्बन्ध में हम गाँवों के किसानों का एक विशेष महत्व समझते हैं। यदि भारत के किसानों के पास कुछ शिक्षा और पूंजी और होती तो वे सुख से अपना जीवन व्यतीत कर सकते थे जो इस

समय भी चतुर और सम्पन्न हैं वे शहरों के अच्छे से अच्छे लम्बी आय वाले जज, डाक्टर और प्रोफ़ेसरों से ज़्यादा सुखी हैं।

इसका मुख्य कारण यह है कि वे अपने जीवन की बहुत सी आवश्यक वस्तुएं स्वयं पैदा कर लेते हैं और बहुत सी आवश्यक चीज़ों के लिये दूसरों पर निर्भर रहते हैं। और इसका कारण यह है कि खेती के ऊपर हमारे बहुत से छोटे मोटे उद्योग धंधे निर्भर हैं। देखिये अनाज तो किसान उत्पन्न करता ही है इसके साथ वह कपास उत्पन्न कर सूत भी कात सकता है और अपने गाँव के जुलाहे या कोरी से साधारण कपड़ा भी बनवा सकता है। गन्ना पैदा करके गुड़ और शकर भी बना लेता है, सरसां व तिलों से वह तेल भी निकाल लेता है। खेती के साथ साथ कुछ फल और तरकारियाँ भी वह पैदा ही कर लेता है। खेती के साथ वह पशुपालन भी आसानी से कर सकता है और दूध, घी, दही, और मट्ठा आदि भी उसे शुद्ध से शुद्ध मिल सकते हैं। कुछ मसाले की चीजें जैसे लहसुन, प्याज, धनिया, मिर्चा, हल्दी आदि भी वह पैदा कर सकता है। साधारण जूता भी वह अपने गांव के चमार से बनवा सकता है। उसे मुख्यतः कुछ कपड़ा, नमक, मिट्टी का तेल, पुस्तकें आदि और आधुनिक अंग्रेज़ी दवाएं ही मोल लेना रह जाता है।

पर एक शहर के रहनेवाले जज या डाक्टर या प्रोफ़ेसर को और लगभग सभी श्रेणी के लोगों को क़रीब क़रीब सभी आवश्यक वस्तुएँ बाज़ार से ही खरीदनी पड़ती है और उनमें खर्च भी अधिक होता है। क्योंकि बहुत से लोग शहरों में कोई भौतिक सम्पत्ति या वस्तु उत्पन्न नहीं करते। क्योंकि उनकी आय अधिक सेवाओं, नौकरियों या मज़दूरी पर या उद्योग और व्यापार के लाभ या मुनाफ़े पर या सूद और किराये पर निर्भर होती है।

कहने का अभिप्राय और ध्यान देने की बात यह है कि अधिकतर भौतिक सम्पत्ति अनाज, फल, तरकारी, घी, दूध, तेल, गुड़ इत्यादि अर्थात् भोजन के विशेष पदार्थ गांव के किसान ही पैदा करते हैं और शहर वाले अपना पेट भरने के लिये, जो जीवन की प्रमुख आवश्यकता है—उन्हीं गांव के किसानों की मेहनत और बुद्धि पर निर्भर रहते हैं। प्रत्येक देश में आवश्यक सम्पत्ति का उत्पादन किसान ही खेती के द्वारा करता है और हमारे देश में लगभग ७५ प्रतिशत लोग खेती में लगे हुए हैं, जो उसके साथ साथ कुछ सहायक उद्योग धंधों से भी ग्रामीण जनता की साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। अधिक से अधिक १० प्रतिशत लोग अन्य उद्योग धंधों और व्यापारों में लगे हुए हैं।

इस प्रकार उत्पत्ति की दृष्टि से हमारी ग्रामीण जनता का हमारे आर्थिक ढांचे में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः 'ग्रामीण-अर्थशास्त्र' में किसानों की सम्पत्ति उत्पन्न करनेवाली क्रियाओं और उनके नियमों का अध्ययन 'उत्पत्ति' विभाग में विशेष रूप से किया जाना चाहिये साथ ही जनता व सरकार दोनों को इस समय इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिये यदि हम देश की उन्नति चाहते हैं। इस समस्या पर उचित स्थान पर यथेष्ट प्रकाश डाला जावेगा।

अब पूर्व इसके कि हम सम्पत्ति उत्पादन की समस्याओं पर विचार करें यह आवश्यक है कि 'उत्पादन' के कुछ नियमों और सिद्धान्तों को भी हम समझ लें तो अच्छा हो।

संसार में नित्य प्रति अनेकों चीज़ें उत्पन्न होती हैं। उन सब को हम दो भागों में बांट सकते हैं।

(१) एक तो प्राकृतिक उपज जिसमें चार प्रकार की सृष्टियां शामिल हैं, उद्भिज, स्वेदज, अंडज और पिंडज। इनमें मनुष्य का कोई हाथ नहीं है।

जैसे जंगली वनस्पति की उत्पत्ति या कानों की उत्पत्ति या समुद्रों और नदियों की उपज आदि। वह सारी सृष्टि प्रकृति द्वारा ही मूलतः होती है। मनुष्य यदि कुछ करता है तो वह उनको प्रकृति के भंडार से निकालने का प्रयत्न करता है।

(२) दूसरे प्रकार की उपज या उत्पत्ति मानवी कही जा सकती हैं, जिसमें मनुष्य का श्रम या मेहनत लगती है आर्थिक दृष्टि से इसी मनुष्य द्वारा उत्पन्न की हुई वस्तुओं को उसकी सम्पत्ति के लिये की गई सेवाओं को सम्पत्ति कहते हैं।

अब देखना यह है कि सम्पत्ति उत्पन्न करने में मनुष्य क्या करता है। उदाहरण के लिये हम देखते हैं कि कुम्भकार या कुम्हार मिट्टी के बर्तन घड़े, प्याले, सुराही, कुल्हड़, तश्तरी आदि उत्पन्न करता है। तो यहां उसने क्या किया ? उसने जो मिट्टी पहले से मौजूद थी उसका चाक के द्वारा रूप बदल कर आग पर पका लिया और उसने यह सब सम्पत्ति उत्पन्न कर दी।

इसी प्रकार किसान जो बीज पहले से मौजूद होता है उसे पानी मिट्टी में मिलाकर उसका रूप बदल देता है और इस प्रयत्न में प्रकृति से उसे बहुत कुछ सहायता मिलती है।

इसी प्रकार जब वह गुड़ उत्पन्न करता है तो मौजूदा गन्ना को कोल्हू में पेरकर उसके रस को आग पर गरम करके गुड़ बना लेता है। ऐसे ही शहरों के बड़े बड़े कारखानों में मौजूदा कपास का रूप बदलते बदलते मानव बुद्धि और श्रम के बल से और मशीनों की सहायता से कपड़ा उत्पन्न हो जाता है।

इन सब उदाहरणों से यह एक नियम निकाला जा सकता है कि सम्पत्ति के उत्पन्न करने में मनुष्य पहले से मौजूद चीज़ों को कुछ और उपयोगी बना देता है। अर्थात् वे पहले की अपेक्षा मनुष्य की आवश्यकताओं को अधिक पूरा कर सकती हैं। जैसे ऊपर के उदा-

हरणों में मिट्टी मनुष्य के लिये उतनी उपयोगी नहीं थी जितने कि घड़े और सुराही आदि, या केवल बीज से उतना काम किसान या संसार का नहीं चल सकता था जितना कि उससे पैदा हुए अनाज से या कपास मनुष्य के उतने काम की न थी जितना कि सूत या कपड़ा।

इन सबका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य उपस्थित वस्तुओं में उपयोगिता ही उत्पन्न करता है, या बढ़ाता है। वह और कुछ नहीं कर सकता है। इसलिये अर्थशास्त्र में उत्पत्ति या उत्पादन का वैज्ञानिक अर्थ है " उपस्थित वस्तुओं में उपयोगिता की उत्पत्ति या वृद्धि।

(Production means in Economics creation of utilities in existing materials.)

उपयोगिता की उत्पत्ति छः प्रकार से होती है जो निम्नांकित हैं—

(१) **रूप उपयोगिता**—अर्थात् रूप परिवर्त्तन से उपयोगिता की उत्पत्ति या वृद्धि। जैसा कि ऊपर के उदाहरणों में बताया गया है कुम्भकार मिट्टी का रूप बदल कर घड़े और सुराही बना देता है; किसान गन्ने का रूप बदल कर गुड़ या शक्कर बना लेता है, और दर्जी कपड़े के थान का रूप बदल कर कोट व कमीज बना देता है। इन सब में और इसी प्रकार और भी अनेक उद्योग धंधों द्वारा सम्पत्ति की उत्पत्ति की जा रही है।

(२) **स्थान उपयोगिता**—अर्थात् स्थानान्तर से उपयोगिता की उत्पत्ति और वृद्धि की जाती है। जैसे जंगलों से घास छील कर घसियारा गांव में लाता है तो उसकी कुछ उपयोगिता होती है और कुछ दाम पाता है, और शहर की मंडी में जब उसे लाता है तो और अधिक दाम पा जाता है। या खान में से लोहा निकालना या समुद्र की तह से मूंगे और हीरे निकालना या पर्वत पर से पेड़ काट कर शहर में लाना। इन सब में केवल स्थान बदल देने से उपयोगिता उत्पन्न हो जाती है या बढ़ जाती है।

(३) समय उपयोगिता—अर्थात् एक समय तक किसी वस्तु को रक्खे रहने से उसकी उपयोगिता बढ़ जाती है जैसे चावल, शराब और सिरका केवल एक समय तक रक्खे रहने से अधिक उपयोगी और अधिक मूल्यवान हो जाते हैं।

(४) स्वामित्व-उपयोगिता—अर्थात् स्वामित्व के परिवर्त्तन मात्र से उपयोगिता वृद्धि हो जाती है। जैसे पुस्तकें पुस्तक विक्रेता को उतनी उपयोगी नहीं होती जितनी शिक्षक और विद्यार्थी के अधिकार में में आने से या एक मिल के मैनेजर के बदल जाने से उसका काम और अधिक अच्छा होने लगता है और वहाँ की सम्पत्ति का उत्पत्ति बढ़ जाती है और लाभ भी अधिक होने लगता है। या एक खेत दूसरे किसान के हाथ में जाने से अधिक अनाज पैदा करने लगता है।

(५) ज्ञान उपयोगिता—अर्थात् ज्ञान वृद्धि के साथ साथ उपयोगिता बढ़ जाती है और लाभ भी अधिक होनें लगता है। जैसे एक नई मशीन के बारे में जब ज्ञान अधिक हो जाता है तब लोग उसे प्रयोग करने लगते हैं और जब तक उसके गुणों को नहीं जानते वह बेकार होती है। एक मूर्ख मनुष्य को यदि हीरा पहले पहल मिले तो वह उसका कुछ भी मूल्य न जानेगा। और उसे केवल एक कांच के टुकड़े के रूप में समझेगा। पर उसके गुणों और मूल्य को जानने के बाद वह उससे अनेक लाभ उठा सकता है, अमीर बन सकता है।

(६) सेवा उपयोगिता :—अर्थात् सेवा कार्य्य द्वारा उपयोगिता की सिद्धि होती हैं। अच्छा काम करके एक नौकर या कार्य्यकर्त्ता अपने मूल्य को या कार्य कुशलता को अपने मालिक पर स्थापित कर सकता है, और अधिक वेतन प्राप्त कर सकता है। डाक्टर, मास्टर जज, सार्वजनिक सेवाएँ तथा व्यक्तिगत सेवायें करके सेवा—उपयोगिता उत्पन्न करते रहते हैं। और यह विनिमय साध्य है अर्थात् उसका

मूल्य होता है। इन सब से पता चलता है कि उत्पत्ति का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है।

अतः किसान, बढ़ई, लोहार, चमार, कुम्हार, तेली, जुलाहे व्यापारी, वकील, डाक्टर, मास्टर, इनजन ड्राइवर, समाचार और विज्ञापन छापने वाले सब लोग सम्पत्ति या धन का उत्पादन करते हैं।

उत्पत्ति के विषय में एक बात याद रखने योग्य है और वह यह है कि उत्पत्ति का अर्थ भौतिक-पदार्थों--पञ्च भूतों (Matter) का उत्पन्न करना नहीं है। उसका उत्पादन करना या नाश करना मनुष्य की शक्ति से बाहर है। लोहार, बढ़ई, जुलाहे, अपनी-अपनी वस्तुयें पूर्णतया नहीं बनाते हैं। उन्हें पहले कुछ कच्चे माल की आवश्यकता रहती है। फिर उसी का रूप अपनी बुद्धि और कौशल तथा औज़ारों की सहायता से, बदल कर वे उसमें उपयोगिता पैदा कर देते हैं या बढ़ा देते हैं।

अतएव उत्पत्ति का अर्थ इस शास्त्र में सदैव उपयोगिता की ही उत्पत्ति या वृद्धि होता है किसी भूत या भौतिक पदार्थ (Matter) की उत्पत्ति से नहीं।

उत्पत्ति के साधन :—

उत्पत्ति के कार्य में अर्थात् उपयोगिता को उत्पन्न करने में कई एक साधनों (Factors) की सदैव कमाधिक आवश्यकता होती है जो संख्या में पाँच हैं और नीचे लिखे जाते हैं।

(१) भूमि या प्रकृति दत्त वस्तुएँ—(Land or Gifts of nature)

(२) श्रम (Labour)

(३) पूँजी (Capital)

(४) व्यवस्था या प्रबन्ध (Organisation)

(५) जोखिम या साहस (Enterprise

सम्पत्ति के उत्पादन में हमें स्थान और कच्चेमाल की सदैव आवश्यकता रहती है क्योंकि किसी स्थान पर और किसी उपस्थित वस्तु ही तो उपयोगिता की उत्पत्ति की जा सकती है। जैसे ऊपर उत्पत्ति के अर्थ में बताया गया है। ये दोनों चीजें हमें प्रकृति ही प्रदान करती है।

इसके पश्चात् मनुष्य अपनी मेहनत या श्रम से ही उस कच्चे माल में उपयोगिता उत्पन्न करता है जैसा कि ऊपर कुम्हार या किसान के उदाहरण से समझाया गया। पर कोई भी श्रमी या उद्योगी अपने कार्य्य में अधिक सफल उस समय तक नहीं होता जब तक वह कुछ औजारों या मशीनों का प्रयोग नहीं करता है और कच्चा माल भी उसे खरीदना या पैदा करना पड़ता है ; अतएव हर काम में कुछ पूँजी की भी आवश्यकता रहती है

पहले अर्थशास्त्री इन्हीं तीन साधनों को उत्पत्ति के मुख्य साधन समझते थे और वास्तव में वे हैं भी अत्यन्तावश्यक, पर आधुनिक काल में व्यवस्था प्रबन्ध भी अद्भुत आवश्यक समझा जाता है, विशेषकर बड़े-बड़े उद्योग शालाओं या कारखानों में। जहाँ पर कच्चे-माल, औज़ार और मशीनों को एकत्रित करने और खरीदने की एक बड़ी भारी समस्या होती है और साथ ही हज़ारो मजदूरों या श्रमिकों को लगाने, उनको काम बाँटने और उनका काम देखने की भी एक प्रमुख समस्या सामने रहती है। अर्थात् उपर्युक्त तीनों साधनों के संगठन की या उन्हें उचित रूप से संकलित करके उनका ठीक-ठीक सहयोग करने की बड़ी भारी आवश्यकता सम्पत्ति के उत्पादन में होती है।

प्राचीन काल में जब उद्योग धंधे बहुत छोटे पैमाने पर चलते थे तब और व्यापारों में हानि लाभ का सवाल बहुत-बड़ा सवाल था अब व्यापार या उद्योग करने वाले का उत्तरदायित्व बहुत गया है। वह यह सोचता है कि अमुक व्यापार में पूँजी लगाना या नहीं, उसमें लाभ की सम्भावना अधिक है या हानि की। अतएव व्यापार प्रारंभ करने के लिये व्यापारी में 'साहस' की बड़ी आवश्यकता है जिसका अर्थ यह है कि लाभ तो वह उठा ही सकता है और उसी की आशा से वह व्यापार में हाथ डालता है। साथ ही वह हानि को सहने के लिये भी पूर्णतया तैयार है। इसीलिये इस साधन को जोखिम भी कहा जाता है।

अतः साहस या जोखिम भी आज सम्पत्ति के उत्पादन के लिये एक परमावश्यक साधन समझा जाता है। क्योंकि बिना इसके किसी भी उद्योग धंधे या व्यापार का श्रीगणेश नहीं हो सकता।

उत्पत्ति के पाँचों साधनों का प्रयोग :—

(१) खेती में (पाँचों साधनों का प्रयोग) :—

सारे उपयोगों में खेती में ही सबसे अधिक मनुष्य को प्रकृति पर निर्भर रहना पड़ता है वास्तव में खेती में ही मानव-प्रकृति सहयोग सब से अधिक सुखद और सफल होता है। मानव जीवन पर खेती का इसीलिये अत्यन्त भावोत्पादक प्रभाव पड़ता है। उसका वातावरण इतना सुन्दर स्वस्थ, और नैतिकता पूर्ण होता है कि किसान सदैव हृष्ट पुष्ट और प्रसन्न रह सकता है। किसान खेतों के निकट छोटे-छोटे स्वच्छ ग्रामों में रहकर प्रकृति की विभूतियों का अर्थात स्वच्छ जल, वायु और प्रकाश, आदि का उन्मुक्त होकर उपभोग करता है और एक सरल और सादा और अध्यात्मिक जीवन व्यतीत करता है। अतः उसकी सब से प्रथम आवश्यकता है भूमि जो इन सब विभूतियों का भंडार है।

अपने व्यवसाय में किसान को सबसे अधिक अपने खेतों में ही श्रम रहता है। बीज बोने के पूर्व से वह उन्हें खूब साफ करता है जितनी जड़ें और घासें होती हैं उन्हें निकाल फेंकता है फिर जलती धूप में बड़े परिश्रम से वह उसमें खाद डालता है और फिर प्रकृति की दया पर अर्थात् वर्षा पर निर्भर रहता है और उसको आस लगाए उत्साहों तक प्रार्थना और प्रतीक्षा करता रहता है। जब वर्षा होती है तब फिर वह अपने हल बैल लेकर खेतों में भरपूर परिश्रम करके उन्हें खूब जोतता है। और खाद को खूब मिट्टी में मिला देता है। तत्पश्चात् उसमें उचित अवसर पाकर बीज बोता है जो उसके कृषक जीवन का एक महत्वपूर्ण संस्कार होता है। और उसे बोने के पश्चात् बस फिर प्रार्थना में इसलिये संलग्न रहता है कि भगवान और प्रकृति माता उसको आदर्श फसल दें और वह अधिक से अधिक सम्पत्ति का स्वामी हो और सुख से जीवन बितावे। इस परिश्रम में उसे अपने परिवार की सहायता तो लेनी ही होती है कभी कभी बाहर से कुछ श्रमिकों को मजदूरी पर भी लगाना पड़ता है। अतः उत्पत्ति के दूसरे साधन श्रम को भी वह यथेष्ट मात्रा में प्रयोग करता है

हमने अभी देखा है कि परिश्रम तो वह जी तोड़कर करता ही है उसे कुछ और बाह्य वस्तुओं की और पशुओं की भी सहायता सदैव लेनी पड़ती है। बीज के लिये उसे अनाज या रुपिया चाहिये, हल, कुदाल, फावड़ा इत्यादि उसे औज़ार चाहिये और फिर सबसे आवश्यक तत्व है बैल, जिनकी सहायता के बिना उसका श्रम निष्फल ही रहता है। दूसरे शब्दों में उसे पूंजी की भी आवश्यकता है। अर्थात् कुछ रुपये और सामान ली।

ग़रीबी के कारण हमारे किसान के पास पूंजी नहीं है और है भी तो बहुत कम, पूंजी न होने से वह अपने व्यवसाय में कोई उन्नति नहीं कर सकता है। उसकी अपेक्षा इंगलैंड और अमरीका के किसान

बहुत धनी हैं। उनके पास बहुत पूंजी हैं और फलस्वरूप सम्पत्ति भी खूब पैदा करते हैं।

साथ ही खेती के लिये उपर्युक्त तीनों साधनों को एकत्रित करने और उनका समुचित प्रयोग करने का भी काम उसी का है अर्थात कृषि-संगठन और प्रबन्ध भी उसे बहुत करना रहता है; जैसे उसे रुपये के लिये महाजनों और सेठ साहूकारों के पास दौड़ना पड़ता है। अच्छे बीज़ के लिये उसे गांव-गांव में या बीजगोदामों में जाना पड़ता है और तब उसे खरीदता है इसी प्रकार खाद का भी उसे उचित प्रबन्ध करना पड़ता है। कभी कभी अपने पास न होने से उसे कहीं बाहर से दूसरे गांवों से मोल लेना पड़ता है। हल, फावड़ा, कुदाल आदि चीज़ों को भी खरीदना और ठीक करवाना पड़ता है। जिसके लिये वह गांव के लोहार और बढ़ई की खुशामद करता है, या दूर शहर में जाकर मोल लेता है साथ ही फ़सल को कटवाने, मड़वाने, ढुलाने और बेचने का भी प्रबन्ध उसे करना पड़ता है अतः इस प्रकार उत्पत्ति के चौथे साधन संगठन और प्रबन्ध का भी प्रयोग अपने व्यवसाय में वह करता है।

यह सब करने में वह बड़ा भारी जोखिम भी होता है क्योंकि उसे प्रकृति माता को दया पर बहुत कुछ निर्भर रहना पड़ता है। यदि वर्षा समय से न हुई या आवश्यकता से अधिक हुई तो उसकी सारी आशा नष्ट हो जाती हैं। सरदी, गर्मी, पाला, ओला, टिड्डी आदि कुछ ऐसी चीज़ें हैं कि वे एक क्षण में उसे भारी हानि पहुँचा सकती हैं। यही कारण है कि शायद जो किसान या कृषक भाग्य पर विश्वास करता है और साथ ही हृदय से श्रद्धालु भी होता है क्योंकि प्रत्यक्ष ही उसका जीवन ऐसे तत्वों और शक्तियों पर निर्भर है जिनके ऊपर उसका कोई अधिकार नहीं है। उलटे उन सब शक्तियों की धात्री

आदि शक्ति पर वह अपना विश्वास जमाता है और स्वभावतः धार्मिक बन जाता है।

कृषि सभ्यता और संस्कृति स्वभावतः धार्मिक और नैतिक प्रवृत्तियों को जाग्रत रखती हैं यही भारतीय सभ्यता का रहस्य है और हमारे जीवन दर्शन का मुख्य अंग है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि खेती के हानि लाभ का सारा जोखिम भी उसे ही झेलना रहता है अर्थात् उत्पत्ति के पांचवे साधन 'साहस और जोखिम' का भी वह प्रयोग खेतो में करता है। जिसके लिये बिना तैय्यार रहे वह अपने खेती का काम आरंभ ही नहीं कर सकता है। भारतीय किसान की दुर्भाग्य से ऐसी परिस्थिति हो गई है कि वह जांनते हुये भी कि उसकी खेती में लाभ साधारणतया नहीं होता और न उसकी सम्भावना या आशा ही होती है फिर भी उसे खेती करनी ही पड़ती हैं क्योंकि उसके सामने कोई और साधन जीवकोपार्जन या धन कमाने का है ही नहीं। अतएव वह लाभ की बहुत ही क्षीण आशा से और हानि को पूर्णरूप से सहन करने के लिये सदैव तैय्यार रहते हैं।

२. उद्योग धंधों में—(पांचों साधनों का प्रयोग)

जो बात खेती में हैं वही प्रत्येक धंधों और व्यवसाय में की है। जुलाहे को अपना चर्खा और करघा रखने के लिये भूमि की आवश्यकता कुछ न कुछ आवश्यकता होती हैं। जिस प्रकार जुलाहे को चरखा, करघा, रुई आदि की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार मिलों की नाना प्रकार की मशीनों और कपास आदि खरीदने के लिये तथा नित्यप्रति मज़दूरों की मज़दूरी देने के लिये तथा अन्य खर्चों के लिये बहुत बड़ी पूंजी की आवश्यकता होती है। फिर जुलाहा स्वयं कपास उमेटता है, सूत कातता है, ताना बाना लगाता है और इस प्रकार परिश्रम करके कपड़ा उत्पन्न करता है। अपने परिवार के लोगों से भी

श्रम करवाता हैं, और कभी कभी बाहरी मज़दूरों को मज़दूरी पर भी रख लेता है। ऐसे ही कारखानों में हज़ारों मज़दूरों को भिन्न भिन्न कार्यों के लिये, दैनिक साप्ताहिक और अधिक मज़दूरी और वेतन पर लगाना होता है।

इन तीनों साधनों—भूमि, श्रम और पूंजी को ठीक ठीक और उचित मात्रा में प्रयोग करने के लिये उसे अब समुचित प्रबन्ध और संगठन भी करना रहता है। उसे यह देखना होता है कि कपास या सूत कहां अच्छा और सस्ता मिलता है कितना उसे तुरन्त मोल लेना चाहिये और कहाँ और कैसे उसे सुरक्षित रखना चाहिये, किस समय और किसे सूत कातना चाहिये किसे और कब उसे फैलाना और पूनी बनाना चाहिये कौन-कौन से रंगों का और बेल बूटों का या डिज़ाइन का प्रयोग करना चाहिये।

आवश्यकतानुसार पूँजी के लिये रुपिया कितना और कहाँ से लेना चाहिये महाजन से या सहकारी समिति से। कपड़ा तैयार करके उसे अच्छे मूल्य पर बेचने का क्या प्रबन्ध करना चाहिये, घूम फिर कर बेचे या किसी दूकान पर रख कर बेचें। यह सब समस्यायें उसके समक्ष रहती है। और इसी में उसके प्रबन्ध और संगठन कौशल का प्रयोग और परीक्षा होती रहती है। मिल वालों के सामने भी ऐसी ही पर कुछ जटिल समस्यायें एक वृहत रूप में उपस्थित रहती है और उन्हें प्रबन्ध करने के लिये प्रबन्ध विशेषज्ञ लोग बड़े बड़े वेतनों पर इस काम के लिये रखना पड़ते हैं। उसे मैनेजर भी कहते हैं जैसे हानि लाभ का डर हर समय किसान को लगा रहता है वैसे ही जुलाहे और मिल वाले को भी और उन्हें भी साहस और जोखिम झेलना पड़ता है। जुलाहे का हानि लाभ थोड़ा होता है पर बड़े कारखाने में करोड़ों रुपये के हानि लाभ का सवाल होता है यहाँ का हानि लाभ बहुत से हिस्सेदारों (Share holders) पर पड़ता है।

उत्पत्ति के पाँचों साधनों का सविस्तार वर्णन :—

१—भूमि (Land or Gift of Nature)

साधारण बोलचाल में भूमि का अर्थ पृथ्वी के धरातल से होता है पर अर्थशास्त्र में इसका प्रयोग एक बहुत ही विस्तृत क्षेत्र में होता है। और उसमें निम्नलिखित तत्व शामिल होते हैं।

(१) पृथ्वी का धरातल :—

जिसमें सूखी भूमि, पहाड़, जंगल, नदियाँ, झीलें और समुद्र, जंगली पशु पक्षी जीव-जन्तु पेड़ पौदे सब आ जाते हैं।

(२) धरातल के ऊपर की वस्तुएँ :—

जिसमें वायु, सूर्य चन्द्र, तारे, और उनका प्रकाश। बादल, वर्षा, कुहरा, सरदी, गर्मी, तुषार, ओला आदि शामिल हैं।

(३) धरातल के नीचे की वस्तुएँ :—

जिसमें सारे खनिज पदार्थ जैसे लोहा, सोना, चाँदी आदि सब प्रकार के तेल, कोयला, हीरे, मूँगे आदि।

अतएव 'भूमि' में प्रकृति की सारी देन शामिल है। इसलिये अब अर्थ शास्त्री 'भूमि' शब्द के स्थान में कभी-कभी (प्रकृति) या 'प्रकृति दत्त वस्तुएँ' (Nature or Gifts of Nature) भी प्रयुक्त करते हैं।

भूमि के गुण।

१—इसकी मात्रा नहीं बढ़ाई जा सकती है अर्थात् मनुष्य का प्राकृतिक शक्तियों पर कोई अधिकार नहीं है। पानी जितना बरसेगा उसे हम बढ़ा नहीं सकते या खानों में जितना कोयला प्रकृति ने दिया होगा उतना ही हमें मिल सकता है अधिक नहीं, नदियों और झरनों के पानी को हम घटा बढ़ा नहीं सकते हैं।

२—हर एक प्रकार की भूमि हर एक काम के लिये उपयुक्त नहीं होती जैसे गाँव के बाहर ढाल की भूमि या नीची भूमि घर बनाने के लिये ठीक नहीं है पर धान की खेती के लिये अच्छी हो सकती है। इसी प्रकार शहर के अन्दर बीच बाजार की भूमि खेती के लिये ठीक नहीं है पर मकानों, दूकानों, सिनेमा के लिये ठीक होगी।

३—सारी खेती की भूमि उपजाऊ होने पर भी एक सी नहीं होती जैसे पंजाब की मिट्टी गेहूँ पैदा करने के लिये बहुत अच्छी है। बंगाल की भूमि धान और जूट की खेती के लिये अच्छी है।

मध्य प्रदेश की भूमि जो काली मिट्टी की है कपास के लिये उपयुक्त है। सम्पत्ति के उत्पादन में उत्पादक को इन बातों का ध्यान रखना चाहिये।

भारतीय भूमि :—हमारे देश की भूमि, विशेष कर उत्तर भारत में सिंध और गंगा के मैदानों में काफ़ी उपजाऊ है पर उसकी उर्वरा शक्ति अब बहुत क्षीण होती जा रही है। हमारे पर्वत भी बहुत ऊँचे हैं विशेष कर हिमालय, जिससे बहुत आर्थिक लाभ है उससे बहुत सी नदियां निकलती हैं। वह मानसून हवाओं को रोक हमें वर्षा देते हैं। उसके घने जंगल हमें लकड़ी, पशु, गोंद, जड़ी बूटियां आदि देते हैं और नदियों की बाढ़ों से रोकते हैं उनके झरनों से हम जल विद्युति शक्ति उत्पन्न कर रहे हैं। और भविष्य में अपार शक्ति उनसे मिलने की आशा है जो हमारी आर्थिक उन्नति में सहायक होगी। हमारी भूमि में लोहे, कोयले, सोने आदि की खानें बहुत हैं। समुद्रों से भी हमें मछलियां, सीप, मूँगे, हीरे और मोती बहुत मिलते हैं और उनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी होता है।

नदियाँ भी हमारे देश में बहुत बड़ी बड़ी हैं। उनसे भी अनेक आर्थिक लाभ हैं। उनमें से बड़ी-बड़ी नहरें निकाली गई हैं जो खेती के लिये अत्यन्त लाभदायक हैं।

यहाँ का धरातल उत्तरी और मध्यभारत में विशेष रूप से इतना सम है कि आवागमन के साधन भी हम प्रचुर मात्रा में बढ़ा सकते हैं। इसीलिये रेलों और सड़कों का एक जाल सा बिछा रहता है जिनका आर्थिक और सांस्कृतिक मूल्य बहुत बड़ा है।

२--श्रम या मेहनत (Labour)

हमने ऊपर दिये हुये खेती और अन्य धंधों के उदाहरणों में देखा है कि भूमि और पूँजी के होते हुये भी बिना परिश्रम के कोई भी मनुष्य सम्पत्ति का उत्पादन नहीं कर सकता है चाहे वह किसान हो और चाहे जुलाहा, बढ़ई या लोहार हो और कोई कारखाने का मालिक हो। भूमि के पश्चात् वास्तव में मानव श्रम उत्पत्ति का एक साधन है। यदि एक सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो उत्पत्ति के मूलतः दो ही साधन हैं, भूमि या प्रकृति और मनुष्य। पूँजी इन दोनों में सहयोग का फल है। प्रबन्ध और साहस मनुष्य के ही गुण हैं या उसी की दो विशेष शक्तियों का विकास है।

श्रम या आर्थिक श्रम

साधारण बोलचाल में जो भी मेहनत आदमी किसी भी काम के लिये करता है वह श्रम कहा जाता है। पर अर्थशास्त्र में इस शब्द को भी हम एक विशेष अर्थ में ही प्रयोग करते हैं।

पहली बात तो यह है कि अर्थशास्त्र में श्रम का अर्थ मनुष्य का श्रम ही होता है पशुओं और पक्षियों का नहीं।

दूसरी बात यह है कि जब मनुष्य का श्रम आर्थिक होगा अर्थात् धन कमाने के उद्देश्य से होगा तभी हम उसे अर्थशास्त्र की दृष्टि से श्रम कहेंगे, अन्यथा नहीं। जैसे कोई स्त्री अपने परिवार के लिये भोजन बनाती है तो वह आर्थिक दृष्टि से श्रम नहीं कहा जायगा। पर जब यही स्त्री किसी दूसरे परिवार में वेतन लेकर भोजन बनाने का कार्य

करती है तब उसकी मेहनत आर्थिक श्रम कही जायेगी। इस प्रकार यदि कोई पुरुष केवल मनोरंजन के लिये गाना गाता है तो आर्थिक श्रम नहीं है पर जब वही गायक कहीं धन की आशा से गाना गाता है तो वही गाना आर्थिक श्रम हो जाता है।

ऐसे ही जब कोई मनुष्य अपने घर का छप्पर बनाता है और छाता है तो वह आर्थिक श्रम नहीं कहा जायेगा, पर जब वह किसी दूसरे का छप्पर मजदूरी लेकर छायेगा तो वह आर्थिक दृष्टि से 'श्रम' होगा। अतएव हम कह सकते हैं कि मनुष्य का वह परिश्रम 'श्रम' कहलाता है जो वह धन कमाने के लिये करता है।

'श्रम' या आर्थिक श्रम कई प्रकार का हो सकता है :—

(१) उत्पादक या अनुत्पादक श्रम

(Productive or Unproductive Labour)

जो 'श्रम' सम्पत्ति के उत्पादन में अर्थात्, उपयोगिता उत्पन्न करने या बढ़ाने में सफल हो जाता है उसे हम 'उत्पादक श्रम' कहते हैं और जो इस उद्देश्य में सफल नहीं होता उसे हम 'अनुत्पादक श्रम' कहते हैं। जैसे एक मेमार और दो मज़दूरों ने मिलकर एक कमरे की दीवार दिन भर में उठाई, पर रात में इतना पानी बरसा कि वह दीवार गिर गई तो इसमें एक राज़ और दो मज़दूरों का एक दिन का 'श्रम' बेकार हो गया अतएव यह अनुत्पादक श्रम कहलाएगा। यदि वह दीवार न गिरती और वैसी ही बनी रहती तो यह 'श्रम' अवश्य उत्पादक होता।

(२) शारीरिक या मानसिक श्रम

(Manual or Mental Labour)

यों तो प्रत्येक 'श्रम' में देह और मन दोनों से काम लेना पड़ता है। पर 'शारीरिक श्रम' वही कहलाता है जिसमें हाथ पैर की मेह

नत अधिक हो मस्तिष्क और मन की कम, जैसे गोड़ाई, जोताई और खोदाई करने वालों का श्रम या ठेला, रिक्शा चलाने वाले का श्रम, या कारखाने में काम करने वालों का श्रम।

'मानसिक श्रम' वह श्रम है जिसमें मस्तिष्क या दिमाग़ से मुख्यतः काम लिया जावे और हाथ पैर से कम जैसे डाक्टर, मास्टर, वकील, या मुनसिफ का श्रम।

(३) कुशल और अकुशल श्रम

(Skilled and unskilled Labour)

कुशल श्रम वह है जिसमें कुछ चतुरता, योग्यता या अनुभव और विशेष शिक्षा की आवश्यकता होती है। जैसे मोटर का काम, बिजुली का काम, मास्टरी, डाक्टरी आदि का काम 'कुशल श्रम' है। इसी प्रकार गोड़ाई, खोदाई, सिंचाई या ढोलाई, घरेलू कार्य, चपरासी या हरकारे का काम 'अकुशल' श्रम के उदाहरण हैं।

श्रम के विशेष गुण

१—उत्पत्ति के लिये 'श्रम' की मूलतः बड़ी आवश्यकता है। विना इसके कभी भी सम्पत्ति उत्पन्न नहीं की जा सकती है। भूमि के ऊपर मनुष्य के ही प्रयत्न और परिश्रम से सारी सम्पत्ति उत्पन्न की जा सकी है और की जायेगी। मनुष्य की ही आवश्यकता पूर्ति के लिये सम्पत्ति की आवश्यकता होती है। इसलिये मनुष्य ही सारी आर्थिक क्रियाओं और योजनाओं का केन्द्र है। और इसी से उसके श्रम की बड़ी महत्ता है। श्रम और श्रमिक सदैव साथ रहते हैं क्योंकि श्रम एक मानवीय गुण है। इस बात में यह पूँजी और भूमि से बिलकुल भिन्न है।

२—'श्रम' के घटाने बढ़ाने में मनुष्य का कुछ हाथ है क्योंकि जन संख्या के घटाने बढ़ाने में आवश्यकतानुसार स्थान और कार्य

परिवर्तन भी बहुत कुछ सहायक होता है, औलाद के लिये लोग नाना प्रकार के प्रयत्न करते हैं और जन संख्या को कम करने के लिये भी आजकल बहुत से वैज्ञानिक प्रयोग काम में लाए जाते हैं। साथ ही एक धंधे से दूसरे धंधे में, एक स्थान से दूसरे स्थान को भी श्रमिक आते जाते रहते हैं, यद्यपि भारत में यह प्रवृत्ति इतनी बलवती नहीं है जितनी पाश्चात्य देशों में, फिर भी बहुत से भारतीय अन्य देशों को जीविका के लिये चले ही गए हैं। दक्षिणी अफ्रिका में भारतीय जन संख्या काफी है। इसी प्रकार से इंगलैण्ड आदि देशों में भी बहुत से भारतीय पहुँच गए हैं। देश के भीतर भी जन संख्या का स्थानांतर आर्थिक कारणों से होता ही रहता है।

३—श्रम शीघ्रता से नष्ट हो जाता है। यदि एक दिन श्रमिक कार्य नहीं करता तो उसका उस दिन का श्रम नष्ट हो जाता है। फिर वह उसे पूरा नहीं कर सकता है। इसीलिये ज्यादा मज़दूरी की आशा न होने पर भी वह जो काम जिस मज़दूरी पर मिल जाता है करने को तैयार हो जाता है।

श्रम विभाजन (Division of Labour)

'श्रम विभाजन' अर्थशास्त्र का एक बहुत बड़ा और उपयोगी सिद्धान्त है। और उसका प्रयोग भी संसार भर में लगभग प्रत्येक उत्पादक क्षेत्र में हो रहा है।

एक समय था जब लोग अपनी आवश्यकताओं की सारी या अधिकतर वस्तुएँ स्वयं उत्पन्न कर लेते थे। जैसा कि अब भी हम कुछ कुछ ग्रामीण या कृषक जीवन में देखते हैं। किसान अपने परिवार के लिये अन्न तो मुख्यतः पैदा ही करता है। वह फल, तरकारी, दूध, तेल, गुड़ आदि भी सरलता से पैदा करता है। पर समाज के विकास और उन्नति के साथ मनुष्य का यह अनुभव हुआ कि सब वस्तुएँ या बहुत सी वस्तुएँ न पैदा करके वह किसी विशेष वस्तु को पैदा करे

पर ध्यान दे जिसमें उसकी विशेष रुचि हो तो वह उस वस्तु को आसानी से अधिक मात्रा में और शीघ्र तथा कम लागत पर पैदा कर सकता है। इसीलिये हम देखते हैं कि ग्रामों में कई लोग ऐसे हैं जो खेती की ओर विशेष ध्यान देकर अपनी सारी पूँजी, बुद्धि, और बल अन्य धंधों और व्यवसायों में लगाते हैं और उनमें अधिक सफल होते हैं जैसे बढ़ई, लोहार, चमार, कुम्हार, दर्जी एक एक काम में लगे हुये हैं। और जन्म-जन्मान्तर से या पीढ़ियों से उस काम को करने में कुशल भी हो गये हैं। इसी प्रकार शहरों में भी तमाम काम निकल पड़े हैं। कोई जूते का काम करता है, कोई लकड़ी कोई लोहे या कोई बिजली, कोई तरकारी और फल बेचने का कोई कपड़ा बनाने का। या कोई डाक्टर है कोई मास्टर, वकील या इन्जीनियर है।

समाज में इसी पेशों या व्यवसायों के बटवारे की अर्थशास्त्रों में 'पेशे पर श्रम विभाजन' (Occupational Division of Labour) कहते हैं। यह सदैव सर्वत्र समाज में रहा है और रहेगा।

इसी प्रकार हम यह भी देखते हैं कि जो काम एक आदमी पूर्ण रूप से करता था वह भी अब कई भागों में बंट गया है। जैसे ग्रामों में किसी समय एक ही परिवार कपास उत्पन्न करता था, उसे ओटता था, कातता था और कपड़ा भी बनाता था। अब यह देखने में आया है कि यदि एक परिवार कपास उत्पन्न करता है तो दूसरा उसे ओट और कातकर सूत तैयार करता है और तीसरा कपड़ा बुनता है तो इस प्रकार एक धंधे कई धंधे हो गये और पूर्ण विभागों में श्रम का विभाजन हो गया।

इसी प्रकार कपड़े के कारखानों में हम इसी सिद्धान्त को और भी विस्तृत रूप में कार्य करते हुये देखते हैं। जहां एक काम को

इतने भागों में बांट दिया गया है कि वे बहुत सरल हो गए हैं और उनमें आसानी से मशीनें काम में लाई जा सकती हैं, और इसी कारण मशीनों के आविष्कार में सुगमता होती जाती है।

इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा लाभ यह है कि कार्य आसान हो जाता है और जो श्रमिक जिस कार्य्य में निपुण है वह उसी में करता है। फलस्वरूप कार्य भी बहुत होता है और शीघ्र और कम खर्च में हो जाता है। जिससे पैदा की हुई सम्पत्ति को लागत कम होती है और उसका मूल्य भी कम होता है।

इसी सिद्धान्त का प्रयोग कर सकने के कारण आधुनिक मिल और कारख़ाने मशीनों का प्रयोग करके बहुतायत से अच्छी और सस्ती चीज़ें पैदा कर रहे हैं। जिससे जनता का लाभ है क्योंकि वे कम धन व्यय करके अधिक सुख और सन्तोष प्राप्त कर सकते हैं।

(३) पूंजी (Capital)

पूंजी उत्पत्ति का तीसरा साधन है। समाज के विकास के आदि काल में बिना पूंजी के भी सम्पत्ति उत्पन्न की जाती थी और अब भी बिना पूंजी के कुछ न कुछ सम्पत्ति कहीं कहीं उत्पन्न की जा रही हैं। पर आजकल नये ढंगों से अधिक मात्रा में सम्पत्ति उत्पन्न करने के लिये पूंजी अत्यन्त आवश्यक है यहां तक कि इस मशीनयुग का नाम ही पूंजीवादी युग (Capitalistic age) हो गया है। सम्पत्ति का वह भाग जो नई सम्पत्ति के उत्पन्न करने में लगाया जाता है पूंजी कहलाता है। इसमें वे सब वस्तुएं या कृत्रिम वस्तुएं शामिल हैं जो उत्पादन में मनुष्य की सहायक होती हैं। किसान, हल और बैल की सहायता से फसल पैदा करता है। अतः यह उसकी पूंजी है।

तेल निकालनेवाला और गुड़ बनानेवाला कोल्हू का प्रयोग करता है यह उनकी पूंजी है। बड़े बड़े कारख़ानों में बड़ी मशीनें

काम में लाई जाती हैं। बड़ी बड़ी इमारतों की जरूरत होती है। यह सब कारखानों की पूंजी है। यह सब वस्तुएं मनुष्यकृत हैं और उत्पत्ति में सहायता देती हैं इसलिये पूंजी हैं।

उत्पादन में पूंजी एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। देखिये किसान यदि केवल कुदाल और फावड़े से खेत को जोतना चाहे तो वह दिन भर में एक खेत का दसवां हिस्सा भी न जोत पायेगा और न अधिक गहराई से खोद ही सकेगा। पर जब वह हल बैल से जोताई करता है तो दिन भर में उसी पूरे खेत को खूब गहरा जोत लेता है। तभी उसमें अच्छी फ़सल भी पैदा हो सकती है। कुदाल से गोड़े हुये खेत में कुछ भी न पैदा होगा और उसका परिश्रम व्यर्थ ही जायेगा। इसी प्रकार से यदि हाथ से तोड़कर या मूसल से कूचकर गन्ने से रस निकाला जाय तो दिन भर में बहुत थोड़ा रस निकलेगा। और बहुत सा गन्ने में ही रह जायेगा। कोल्हू से बहुत जल्द और अधिक मात्रा में रस निकल आता है, और शकर के कारखानों में गन्ने से निकले हुए रस का प्रतिशत और भी अधिक होता है, क्योंकि वहां बड़ी बड़ी आधुनिक मशीनों से रस निकाला जाता है। इन मशीनों से सम्पत्ति अधिक पैदा होती है। समय और खर्च कम लगता है। साथ ही वस्तुएँ साफ़ और सुथरी और एक सी पैदा होती हैं।

प्राचीन काल ही में जंगली जातियों ने मछली पकड़ने और शिकार करने में भी पूंजी की महत्ता समझ ली थी जब कटिया, जाल और तीर कमान का प्रयोग होने लगा था। धीरे धीरे पूंजी का महत्व सम्पत्ति के उत्पादन में बढ़ता गया और आज इतना अधिक बढ़ गया कि आधुनिक सामाजिक और आर्थिक प्रणाली को पूंजीवाद (Capitalism) का नाम ही दे दिया गया।

पूंजी दो प्रकार की होती है :—

(१) चल पूंजी (Circulating Capital) अर्थात् वह

पूंजी जो उत्पादन कार्य में एक ही बार प्रयोग में लाई जा सकती है जैसे रुपिया, खेती में बीज व खाद, मेज बनाने में लकड़ी, कील और वारनिश, कपड़ा बनाने में सूत और रंग आदि।

(२) अचल पूंजी (Fixed Capital) अर्थात् वह पूंजी जो एक प्रकार के उत्पादन का कार्य कई बार कर सकती है जैसे खेती के औज़ार, बैल, कुआं, पुर आदि। कारखानों की मशीनें, औजार, इमारत आदि।

पूंजी के मुख्य गुण :—

(१) पूंजी उत्पत्ति के लिये अनिवार्य साधन नहीं है क्योंकि बिना इसके भी सम्पत्ति उत्पन्न की जा सकती है और की जा रही है। और बड़े पैमाने पर उत्पादन के लिये पूंजी अनिवार्य ही है।

(२) पूंजी धीरे धीरे घिस जाती है और एक समय में नष्ट हो जाती है जैसे एक हल दस वर्ष तक काम दे सकता है फिर बेकार हो जाता है इसका अर्थ है प्रति वर्ष उसकी उपयोगिता घटती जाती है। और उसी हिसाब से उसका मूल्य कम होता जाता है।

(३) पूंजी बचत से उत्पन्न होती है और इसलिये जब वह किसी को उत्पादन कार्य्य के लिये दी जाती है तो उसमें पूंजीपति को कुछ त्याग करना पड़ता है। और उसके लौटने की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। और इस सब का जो मूल्य लेता है वह व्याज कहलाता है। आजकल पूंजी के लेनदेन पर आर्थिक जीवन बहुत कुछ निर्भर है।

(४) प्रबन्ध (Organisation)

अर्थ और महत्व :—उत्पत्ति के उपर्युक्त तीनों साधनों को उत्पत्ति के लिये समुचित रूप से संगठित कर देना ही प्रबन्ध है। यह मनुष्य की एक शक्ति है या उसकी संगठन योग्यता है।

प्रबन्ध पर ही उद्योग धंधों और व्यवसायों की सफलता बहुत कुछ निर्भर हैं यदि प्रबन्ध अच्छा हुआ अर्थात् काम का बंटवारा, देखभाल और साधनों के मालिकों से समझौता ठीक ठीक हो गया या सम्पत्ति के सुरक्षित रखने और अच्छे से अच्छे दाम पर बेचने का प्रबन्ध ठीक हुआ तो व्यवसायी को अधिक लाभ होगा क्योंकि सम्पत्ति भी अधिक और अच्छी पैदा होगी और लागत भी कम होगी। इसके विपरीत यदि प्रबन्ध खराब हुआ तो सम्पत्ति कम और खराब पैदा होगी लागत अधिक होगी और मूल्य बढ़ जायेगा जिससे व्यवसायी को लाभ कम होगा या हानि अधिक होगी।

छोटे छोटे उद्योग धंधों में जैसे हमारे किसानों की खेती बढ़ई और लोहार का काम या कुम्हार और तेली का काम। इसमें भी प्रबन्ध साधन की आवश्यकता रहती है, पर कम। उसे स्वयम् उत्पादन कर लेता है हाँ बड़े कारखानों में जहाँ कार्य्य बड़े पैमाने पर और अधिक होता है वहाँ एक प्रबन्धक विभाग ही अलग होता है। जिसका अध्यक्ष कोई विशेषज्ञ ही होता है। जिसे मैनेजर, डायरेक्टर या मैनेजिंग डायरेक्टर भी कहते हैं। और उस काम के लिये उसे काफ़ी वेतन भी मिलता है।

प्रबन्धक के मुख्य कार्य और गुण

१—सब साधनों के स्वामियों से मिल कर यह समझौता करना कि कितना-कितना कौन-कौन साधन किस दर पर वह कब-कब लेने को तैय्यार है। इस कार्य्य के लिये विशेष योग्यता और चातुर्य्य प्रबन्धक में आवश्यक है।

२—काम का बँटवारा या श्रम-विभाजन करना और श्रमिकों के कार्य का निरीक्षण करते रहना। प्रबन्धक में यह योग्यता होनी चाहिये कि शीघ्र ही वह यह जान सके कि कौन आदमी, स्थान और समय किस काम के लिये उचित है।

३—उसमें बाज़ारों को चढ़ाव उतार और उनकी माँग और पूर्ति के अध्ययन करने का चाव और शक्ति होनी चाहिये। माल को सुरक्षित रखने बेचने और बाज़ार मे भेजने का कार्य्य उसी का है।

४—उसे दूरदर्शी भी होना चाहिये। क्योंकि उसको यह जानना नितान्त आवश्यक है कि कब और कैसी वस्तुएँ वह पैदा करे। उसे अच्छे और सस्ते माल पैदा करने की धुन या लग्न होनी चाहिये।

५—उसे मिलन सार, सुहृदय और सहिष्णु भी होना चाहिये क्योंकि एक तो उसका सम्पर्क सौदागरों कच्चा माल पैदा करने वालों, पूँजी पतियों और सरकार से होता है और दूसरी ओर अपने कारखाने के कार्य कर्त्ताओं और श्रमिकों से जिन्हें सन्तुष्ट रखना उनका रुख पहचानना उनकी भलाई की बात सोचना और उन्हें सब प्रकार की सुविधाएँ देते रहना उसका मुख्य कार्य है नहीं तो व्यवस्था में गड़बड़ पड़ सकती है और कारखाने की अपार हानि हो सकती है।

६—नई मशीनों के आविष्कारों के बारे में ज्ञान रखना, मशीनों को साफ़ और काम की बनवाये रखना और अपने माल की ख्याति बढ़ाना भी प्रबन्धक के लिये परमावश्यक बाते हैं।

७—उसे चरित्रवान भी होना चाहिये जिससे कि और कार्य कर्त्ताओं और श्रमिकों पर उसका अच्छा नैतिक प्रभाव पड़ सके।

साहस या जोखिम
(Enterprize)

आजकल प्रत्येक बड़े कार्य में हानि का डर हर समय लगा रहता है। किसी कपड़े के मिल में यदि एक डिज़ाइन के १०००० जोड़े एक साथ बनवा डाले गये और यदि कहीं उस डिज़ाइन की माँग न हुई या कम हुई तो उसे बड़ा भारी धक्का लगा। इसी प्रकार सब कामों

में उत्पादक को बड़ा चौकन्ना रहना पड़ता है। ज़रा सा भी चूक जाने से लाखों करोड़ों की हानि हो सकती है। परन्तु यह सब होते हुये भी किसी न किसी को यह जोखिम उठाना ही पड़ेगा सच पूछिये तो विना इसके कोई उत्पादन का कार्य आरंभ ही नहीं हो सकता है। इसलिए आजकल 'साहस या जोखिम' को एक विशेष और मुख्य साधन उत्पत्ति का मान लिया गया है।

कुछ अर्थशास्त्रियों ने प्रबन्ध और साहस दोनो साधनों को संगठन (Organisation) के अन्तर्गत ही रक्खा है पर यह ठीक नहीं है।

जहाँ एक ही मनुष्य प्रबन्धक और पूँजी पति होता है वहाँ तो ठीक है क्योंकि वही व्यक्ति दोनों कार्य्य करता है पर जहाँ बहुत से हिस्सेदार होते हैं वहाँ प्रबन्धक का अस्तित्व पृथक हो ही जाता है और साहस या जोखिम का भार उन पूँजी पतियों पर विशेष रूप से पड़ता है जो अपनी लगाई हुई पूँजी पर कोई व्याज़ की दर निश्चित रूप से नहीं लेते। सब को देने के पश्चात् जो कुछ बचता है वही उनका लाभ होता है और यदि नहीं बचता तो उन्हें ही हानि उठानी पड़ती है।

इस प्रकार एक कम्पनी में प्रबन्धक अलग होता है और जोखिम उठाने वाले दूसरे होते हैं।

इसलिये 'प्रबन्ध' और 'साहस' दोनों उत्पत्ति के आवश्यक साधन समझे जाते हैं।

प्रश्न

(१) अर्थशास्त्र को दृष्टि से उत्पत्ति के ठीक ठीक अर्थ समझाइये। और उदाहरण दीजिये। (U. P. Board 1947)

(२) उपयोगिता की उत्पत्ति और वृद्धि ही सम्पति का उत्पादन

है इस विचार से आप कहां तक सहमत हैं, उदाहरणों से समझाइये।

(३) उपयोगिताएं कितनी प्रकार से उत्पन्न की जा सकती हैं। हर एक विधि को उदाहरण देकर समझाइये।

(४) क्या निम्नांकित को सम्पत्ति का उत्पादक कहा जा सकता हैं ? हाँ और नहीं दोनों दशाओं में युक्तियां देकर समझाइये :—

गायक, विद्यार्थी, व्यवसायी, लेखक, हाकी खेलनेवाला.

(५) उत्पत्ति के साधन कौन कौन से हैं ? ग्रामीण उद्योग धंधों में उनका क्या महत्व है ? (U. P. Board 1943) बढ़ई के उदाहरणों से समझाइये।

(६) अर्थशास्त्र में 'भूमि' का अर्थ ठीक ठीक से समझाइये और भूमि के विशेष गुण बताइये'।

(७) अर्थशास्त्र में 'श्रम' का क्या अर्थ है ? यह कितने प्रकार का होता है ?

(८) 'पूंजी' का अर्थ लिखिये और आधुनिक आर्थिक जीवन में उसका महत्व बताइये।

(९) भूमि , श्रम और पूंजी के गुणों की तुलना कीजिये।

(१०) 'चल' और 'अचल' पूंजी का अन्तर खेती और कारखानों के उदाहरणों से ठीक समझाइये।

(११) 'प्रबन्ध' का अर्थ लिखिये और प्रबन्ध के गुण और कर्म बतलाइये।

(१२) 'साहस' या 'जोखिम' का सम्पत्ति उत्पादन में क्या महत्व है ?

(१३) 'श्रम विभाजन' का सिद्धान्त खेती और कपड़े के मिल में कैसे कार्य्य करता है।

'भूमि' तथा 'पूंजी' शब्दों की परिभाषा दीजिये तथा उनका अर्थ समझाइये। यदि आपके गांव में भूमि अधिक हो तो क्या वहां नाज अधिक पैदा हो सकता है ?

(U. P. Board 1948)

चौथा अध्याय

ष या खेती

हमारे देश में लगभग ९० प्रतिशत लोग गाँवों में रहते हैं और उनमें से लगभग ७५ प्रतिशत खेती करके अपना जीवन निर्वाह करते । इस प्रकार खेती जनता का मुख्य व्यवसाय है इसीलिये इसे हम अपना राष्ट्रीय व्यवसाय भी कह सकते हैं हमारे देश की उन्नति और अवनति बहुत कुछ इसी कारण खेती पर ही निर्भर है।

खेती के अतिरिक्त छोटे मोटे घरेलू उद्योग धंधों से भी हमारे गावों में सम्पत्ति का उत्पादन होता है, पर उनमें से बहुत से खेती के सहायक धंधे या खेती पर निर्भर रहने वाले धंधे कहे जा सकते हैं।

अब पहले हम अपनी खेती पर ही आर्थिक दृष्टि से विचार करेंगे, उद्योग धंधों पर बाद को।

हमारे देश में निम्न लिखित फसलें होती हैं।

१—खरीफ़—बरसात की फ़सल।

२—रबी—जाड़े की फ़सल।

३—ज़ायद—गर्मी की फ़सल।

इन तीनों में खरीफ़ और रबी मुख्य फ़सलें समझी जाती हैं और ज़ायद एक गौण फ़सल समझी जाती है।

(१) खरीफ़ की फ़सल :—

यह फ़सल असाढ़ या जुलाई में साधारणतया वर्षाऋतु के आरंभ में बोई जाती है। और कार्तिक में दीवाली के आसपास काट ली जाती है। इसीलिये 'दीवाली' का त्योहार भी एक फ़सली या राष्ट्रीय त्योहार समझा जाता है। इस फ़सल की मुख्य पैदावारें है चावल या धान, कपास, सावां, कोदौ, ज्वार, बाजरा, मक्का, मूँग, उरद, चरी तिलहन, अरहर भी इसी फ़सल में बोई जाती है पर रबी के साथ-साथ तैयार होती है क्योंकि इसे सरदी की आवश्यकता होती है।

इन फ़सलों को अधिक गर्मी और अधिक पानी की आवश्यकता है। अतएव उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बंगाल, बंबई और मद्रास में यह फसलें मुख्यत: पैदा की जाती हैं।

(२) रबी की फ़सल :—

इसको अधिक पानी या गर्मी की ज़रूरत नहीं होती इसीलिये यह अक्टूबर नवम्बर में अर्थात् कार्तिक मास में बोई जाती है और फागुन चैत में या मार्च अप्रेल में काटी जाती है। गेहूं, चना, जौ, सरसों, मटर, मसूर, अलसी, गन्ना, लहसुन, प्याज़ आदि इस फ़सल की मुख्य पैदावार है। यह उन स्थानों में बोई जाती हैं जहाँ की भूमि मुलायम हो जाड़ा पड़ता हो और सिंचाई के कृत्रिम साधन हों अतः उत्तर प्रदेश, पञ्जाब, मध्य प्रदेश, बिहार, और राजपूताना के कुछ भागों में ये फ़सल ज्यादातर होती है।

(३) जायद की फ़सल :—

रबी के कट जाने के बाद जब खेत खाली होते हैं तो उन स्थानों में जहाँ सिंचाई की सुविधा होती है यह फ़सल बोई जाती हैं। वास्तव

में यह हरी तरकारी की फ़सल है। कुम्हड़ा, तरोई, लौकी, करेला, भिंडी, ककड़ी, फूट वगैरा इसमें बोये जाते हैं। इनके अतिरिक्त नदियों के किनारे रेत में खरबूजा और तरबूज की भी खास पैदावारें भी होती हैं।

भारतीय पैदावारों को चार भागों में बाँटा जा सकता है।

१—अन्न (Cereals) गेहूं, जौ, चना, चावल, मटर मूँग, उरद, अरहर आदि।

२—तिलहन (Oil Seeds) अलसी, तील, सरसों, रेंडी आदि।

३—रेशेदार वस्तुएँ (Fibers) जूट, कपास, सन आदि।

४—अन्य पैदावार (Others) लहसुन, प्याज, फल, तरकारी, चाय, खरबूजा मसाले आदि।

"पैदावार की कमी"

विभिन्न देशों या प्रान्तों की पैदावार का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिये हमें उन देशों या प्रान्तों की प्रति एकड़ भूमि की औसत पैदावार जानना चाहिये। उसी से हमें यह पता चलता है कि किस देश या प्रान्त की पैदावार अधिक है और किसकी कम। कहा जाता है उत्तर प्रदेश की गेहूं की प्रति एकड़ पैदावार ५० वर्ष पूर्व या गत सदी के अन्त में लगभग २० मन से अधिक थी। पर आज अधिक से अधिक १०, १२ मन है। जब कि अन्य पाश्चात्य देशों की पैदावार खासतौर से अमरीका इंगलैण्ड और रूस की पैदावारें हमारी पैदावार से ५, या ६ गुनी अधिक हैं।

हमारी पैदावारों की इतनी कमी के कुछ विशेष कारण हैं जो नीचे दिये जाते हैं :—

१—प्राकृतिक कारण—यों तो वर्षा की कमी ज्यादती बाढ़, पाला टिड्डी, चूहे, कीड़े, मकोड़े आदि कुछ ऐसे प्राकृतिक कारण हैं जो हमारी

पैदावार को नष्ट करते रहते हैं। पर यह कारण प्रायः सभी देशों
लागू होते रहते हैं। आधुनिक विज्ञान ने फ़सलों में रोग उत्पन्न क
वालों कीड़ों को नष्ट करने की विधि कुछ-कुछ जान ली है और
दवाइयों द्वारा उन रोगों को बहुत कुछ वश में कर लिया है जि
पाश्चात्य देशों में पैदावार बढ़ गई है। पर हमारे देश में अभी
सब चीजों का प्रयोग बहुत कम हुआ है।

एक मुख्य प्राकृतिक कारण जो उत्तरी भारत में पैदावार को
हानि पहुँचा रहा है वह है नदियों की बाढ़ें जो विद्वानों के मतानु
इस शताब्दी में बहुत बढ़ गई है और जिनका मुख्य कारण हिमा
क जंगलों का निरन्तर विनाश है। ये जंगल नदियों के वेड़ा को रो
थे और जल को बहुत सोक लेते थे पर अब वह प्रतिबन्ध नहीं
गया है और हाहाकार मचाती हुई नदियां उत्तर प्रदेश, बिहार, बं
में खेती को अपरिमित हानि पहुँचा रही है। इसका एक मात्र उ
फिर से जंगलों का लगाना है।

(२) खेतों का छोटापन और बिखरापन :—

हमारे देश में कई कारणों से खेत बहुत छोटे-छोटे हो गये
यहाँ तक कि पूर्वीय उत्तर प्रदेश में गोरखपुर, बलिया आदि जि
एक किसान के कुल खेतों का औसत क्षेत्रफल कहीं-कहीं ¼ एक
पहुँच गया है। साथ ही किसान के कई खेत एक स्थान या चक
होकर इधर उधर दूर-दूर बिखरे हुये हैं जिनसे बहुत सी हानियां
खेतों की ठीक जुताई, सिंचाई, नियरायी इत्यादि कुछ नहीं सम्भ
जिन सब बातों के फलस्वरूप कम से कम एक चौथाई पैदावार की
ले। खेतों में अवश्य होती है। इसका एक मात्र उपाय चक बन्दी
जिसकी ओर अब कुछ ध्यान दिया जा रहा है पञ्जाब में चक
सहकारी समितियों द्वारा बहुत सफलता हुई है।

(३) किसानों की निर्बलता और अकुशलता :—

हमारे किसान ६० प्रतिशत अपढ़ और अशिक्षित हैं। इसलिये उनकी बुद्धि निर्बल है। साथ ही वे इतने ग़रीब हैं कि उन्हें भरपेट दोनों समय भोजन नहीं मिलता और इसलिये अत्यन्त दुर्बल, कमजोर और रोगी हैं। इन कारणों से खेती का काम वह अधिक परिश्रम व कुशलता से नहीं कर पाते। वे बड़े रूढ़िवादी और अन्ध विश्वासी भी हैं जिसके कारण नई बातों, नये तरीकों को वे सदैव सन्देह की और उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। अतः खेती में उन्नति नहीं कर पाते।

(४) खाद की कमी :—

जैसे एक स्त्री के प्रसव के पश्चात् शक्ति को बढ़ाने के लिये नित्य-प्रति भोजन की और पौष्टिक पदार्थों की आवश्यकता रहती है उसी प्रकार भूमि को भी एक बार फ़सल पैदा करने के बाद पौष्टिक भोजन की आवश्यकता होती है। भूमि के लिये यह पदार्थ 'खाद' है।

हमारे खेतों में खाद बहुत कम मिलती है जिसके कारण उर्वरा शक्ति दिन पर दिन कम होती जा रही है। इस विषय में कुछ बातें जानने योग्य हैं :—

१—खाद किसानों के पास काफ़ी नहीं है क्योंकि गोबर, जो सब में अच्छी खाद है कंडे व उपले बना कर जला दिया जाता है।

२—जो गोबर बचता भी है उसे इस बुरी तरह से खुला रहने दिया जाता है कि उसके मुख्य उपजाऊ तत्व हवा और सूर्य के प्रकाश से नष्ट हो जाते हैं।

३—हरी खाद जैसे सनई भी हम पैदा नहीं कर पाते क्योंकि और खाद्य फ़सलें हमें बोना रहता है।

४—खली की खाद भी अच्छी होती है पर वह भी हमको
कम मिलती है क्योंकि अधिकतर तिलहन विदेश को चला जात
जो खली यहाँ मिलती भी है वह गाय भैसों को खिला दी जाती है

५—रासायनिक खाद (Chemical Firtilezers)
सस्ती नहीं है और किसानों को कठिनता से मिलती भी है।

भूमि में एक फ़सल काट लेने के बाद कुछ तत्वों की कमी
जाती है जिनको निम्न तरीका से पूरा किया जा सकता है ?

१—किसी न किसी प्रकार की खाद भूमि को प्रचुर मात्रा में दे

२—भूमि को कुछ दिनों के लिये कम से कम एक फ़सल के
परती (Fallow) छोड़ देना। इससे भी भूमि प्रकृति से स्वयं
खोए हुये तत्वों को प्राप्त कर लेती है जैसे घोर परिश्रम के पश्चात्
आराम कर लेने से मनुष्य को फिर स्फूर्ति मिल जाती है।

३—भिन्न-भिन्न खेतों में फ़सलों को हेर फेर से बोना। यह भारत
वर्ष का बहुत ही प्राचीन साधन है जिससे खेतों की उपजाऊ शक्ति
अधिक नष्ट नहीं होने पाती थी। जैसे एक साल चने के खेत में
गेहूं बोया गया और दूसरे साल उसको परती छोड़ दिया गया,
वाले में गेहूं बोया गया और दूसरे साल उसको परती छोड़ दिया
प्रकार गेहूं वाले में चना या मटर बो दिया गया। चने वाले में
बो दिया और दूसरे को अर्थात् एक ही खेत में बराबर एक ही
बोई जाय। फसलें खेतों में बदल-बदल कर बोई जावें।

इन उपायों को काम में लाने से और गोबर की अच्छी खाद
से भूमि की उपजाऊ शक्ति बढ़ सकेगी और पैदावार घटने के
बढ़ेगी।

(५) बीज—

बीज के ऊपर भी पैदावार की कमी और ज्यादती बहुत कुछ निर्भर है। क्योंकि बीज ही से पौधे उगते हैं। यदि वह स्वस्थ और अच्छी नस्ल का हुआ, तो पौधे भी अच्छे होंगे। यदि वह रोगी और सड़ा होगा तो फ़सल भी ख़राब होगी। साधारणतया बीज किसान लोग अपने गाँव के दूकानदार या महाजन आदि से मोल ले लेते हैं, जो बहुत ही ख़राब होता है। इसलिये पैदावार भी कम होती है। अब सरकारी कृषि विभाग (Agriculture Deptt.) अच्छे बीज के वितरण का प्रबन्ध 'सहकारी बीज गोदामों' द्वारा कर रहा है। उस से अवश्य पैदावार बढ़ेगी।

(६) सिंचाई—

खेती में पानी का वही स्थान है जो मिलों में शक्ति का। वर्षा से हमें साल के चार मास में जल मिलता है वह भी मात्रा और समय के हिसाब से अनिश्चित है। पंजाब में जहाँ पहले मरुस्थल था और कुछ पैदावार नहीं होती थी वहाँ नहरों ने एक नई सृष्टि ही खड़ी कर दी है, अब वहाँ खूब पैदावार होती है। हमारे प्रदेश में ज़्यादातर सिचाई कच्चे कुओं से होती है, जो अच्छी पैदावार के लिये पर्याप्त नहीं हैं। कई बड़ी बड़ी नहरें भी निकाली गई हैं और ट्यूब वेल्स (Tube wells) भी बनाए गये हैं जो कुछ भागों में सिंचाई की सुविधा कर रहें हैं। फिर भी अभी पानी की बहुत कमी है जो पैदावार की कमी का एक मुख्य कारण है।

(७) खेती का ढंग—

हम अभी तक पक्के रूढ़िवादी हैं जो परम्परा से होता आ रहा है उसे ही करेंगे, नये तरीकों को अपनाना नहीं चाहते जैसे पुराने

भारतीय हल, ५, ६ इंच से अधिक गहरा नहीं खोद सकते, पर
नये हलों का प्रयोग नहीं करना चाहते ।
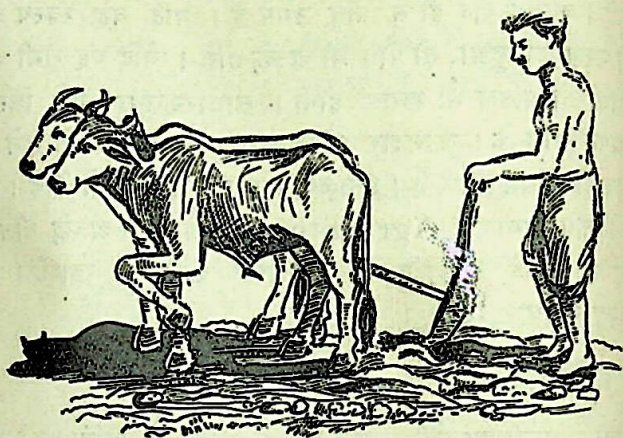
चित्र १—भारतीय कृषक
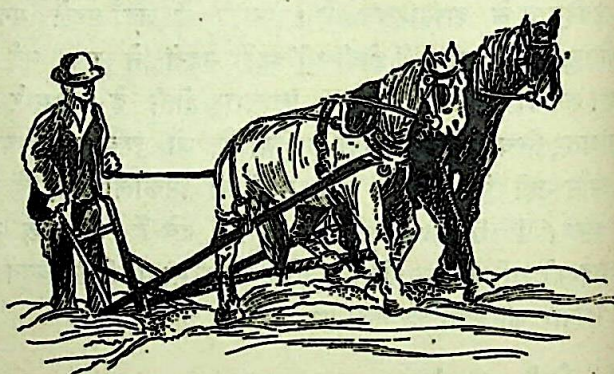
चित्र २—अंग्रेज़ कृषक

कारण यह है कि कुछ तो किसान प्राचीनता को छोड़ना न
चाहता और कुछ ग़रीबी के कारण अधिक मूल्य का हल न

खरीदता, क्योंकि अगर नया हल खरीदें, तो अच्छे बैल भी उसे चलाने को चाहिये।

कुछ शिक्षा प्राप्त हो जाने पर और कुछ पूंजी की सुविधा हो जाने पर किसान भी प्रगतिशील होंगे और उन्नति करेंगे। पर अभी कुछ मज़बूर से हैं।

(८) पूंजी की कमी—

निर्धनता और अपव्यय के कारण किसान के पास कुछ बचत नहीं हैं और न खेती के लिये यथेष्ट पूंजी। जब आवश्यकता होती है तो वह बहुत ऊँची ब्याज की दर पर महाजन से रुपया उधार ले लेता है और पीढ़ी दर पीढ़ी उसे चुकाने का प्रयत्न करता रहता है। और यही कारण है यहां कोई मशीन आसानी से नहीं खरीदी जा सकती और न खेतों के छोटे होने से काम में लाई जा सकती है। इसी प्रकार हमारे गाय बैलों की दशा भी बहुत खराब है वे रोगी और कमजोर हैं क्योंकि उन्हें न तो काफी चारा मिलता है न रहने की साफ़ जगह और आराम। सहकारी बैंकों द्वारा किसानों की पूंजी कम सूद पर दी जा रही है। आशा है जब महाजनों से उनका पिंड छूट जायगा और सहकारी आन्दोलन काफ़ी उन्नति कर लेगा तब पूंजी की कमी न रहेगी।

उन्नति का मार्ग—

ग्राम पंचायतों को भी अब इस ओर मुख्यतः ध्यान देना चाहिये जिसमें हमारी पैदावार खूब बढ़े और हमारे किसान प्रत्येक क्षेत्र में प्रगतिशील हो सके। वास्तव में यह समय हमारे राष्ट्र के लिये एक महान् संकट और संक्रान्ति का काल है। यह भारत के लिए ही कोई

नई बात नहीं है, ऐसा ही समय सदैव राजनैतिक क्रान्तियों के पश्चात् अमरीका, फ्रान्स और रूस सबके सामने उपस्थित हो चुका है। फ्रान्स और रूस में तो स्थिति बहुत ही पतोन्मुखी हो गई थीं। केवल भौतिक ही नहीं वरन् नैतिक पतन भी वहाँ घोर हो गया था। फिर भी उन सब राष्ट्रों ने अपनी समस्याओं को बड़ी गंभीरता से अध्ययन किया और कई नए प्रयोगों और योजनाओं के द्वारा अपनी आर्थिक और सामाजिक स्थिति को संभालने का प्रयत्न किया। दो महायुद्धों ने तो उन राष्ट्रों को विशेष कर फ्रान्स, जर्मनी और रूस को बिलकुल तबाह और बरबाद कर दिया था। पर सिवाय रूस के और कोई देश योरप में अभी तक सफल नहीं हो पाया। योरप की आर्थिक उन्नति के लिए अमरीका-मार्शल-एड-योजना (Marshal Aid Scheme) को कार्य्यान्वित करने की चेष्टा में हैं। और आशा है कि उससे शीघ्र लाभ होगा। हां रूस ने अपनी आर्थिक और सामाजिक अवस्था को फिर वैसा ही बना लिया है जैसीकि वह द्वितीय युद्ध के पूर्व थी। भारत में राजनैतिक क्रान्ति हुई और स्वतन्त्रता प्राप्त हुई, पर यहां की समस्यायें कुछ और ढंग की और अधिक जटिल हो गईं। जिनका मुख्य कारण देश का बटवारा, साम्प्रदायिक युद्ध, शरणार्थियों की पुर्नस्थापना आदि हैं। सबसे प्रमुख समस्या हमारे देश की खाद्य-सामग्री की कमी है जो पाकिस्तान और बर्मा के पृथक हो जाने से और पाकिस्तान से शरणार्थियों के एक बहुत संख्या में आ जाने से और भी जटिल हो गई हैं।

इस समस्या को हल करने के उपायों पर हम आगे भारतीय कृषि समस्या पर विचार करते समय फिर ध्यान देंगे।

भिन्न भिन्न देशों की अपेक्षा हमारे देश की प्रति एकड़ उपज बहुत ही कम है इसका अनुमान आपको नीचे की तुलनात्मक तालिका से होगा। गेहूं और चावल की उपज के आंकड़े नीचे दिये जाते हैं।

प्रति एकड़ उपज

देश	गेहूं पौंडों में	चावल पौंडों में
भारतवर्ष	८११	९८८
चीन	८४०	२४३३
अमरीका	९९०	१९८०
जापान	१३५०	३०७०
सम्पूर्ण संसार की औसत उपज	८४०	११४०

खेतों का छोटा और बिखरा होना

(Subdivision and scatteredness of holdings)

भारतीय कृषि संगठन का एक मुख्य दोष है खेतों का बहुत छोटा और बिखरा होना। हमारे देश में विशेषकर उत्तर प्रान्त, बिहार और बंगाल में खेतों का औसत क्षेत्रफल इतना कम है कि उनकी जोताई, सिंचाई और निगरानी बड़ी कठिन समस्या हो गई है। समस्त देश का औसत लगाने से एक भारतीय किसान के पास कुल भूमि ४½ एकड़ से अधिक नहीं होती। हमारे उत्तर प्रान्त के किसान के खाते (holding) की भूमि का औसत २½ एकड़ से अधिक नहीं होता। एक साधारण किसान के परिवार के लिये, जिसमें लगभग ५, ६ व्यक्ति होते हैं, इतनी भूमि (२½ एकड़) बहुत ही कम है। इससे किसी प्रकार उनका भरण पोषण नहीं हो सकता। फिर यही नहीं, उस की कुल भूमि बहुत ही छोटे छोटे और छिटके हुए खेतों में बटी है,

जिसके कारण बहुत से कष्ट और हानियां उसे उठानी पड़ती हैं, जो निम्नलिखित हैं :—

(१) खेतों के छोटे और दूर दूर होने से किसान अपने हल बैल तथा अन्य औज़ारों का पूर्ण रूप से प्रयोग नहीं कर पाता। इस प्रकार उसकी कृषि पूंजी बहुत कुछ बेकार रहती है।

(२) सब खेतों की बोआई और जोताई ठीक समय पर नहीं हो पाती। इससे बहुत सी भूमि बेकार पड़ी रहती है या उसकी पैदावार बहुत कम हो जाती है।

(३) प्रत्येक खेत की रखवाली भी ऐसी हालत में किसान नहीं कर सकता। ग़रीब किसान के लिये उन सब खेतों के चारों ओर दीवार या किसी प्रकार की पाड़ उठाना भी असम्भव है।

(४) सिचाई भी प्रत्येक खेत की समय पर और ठीक से करना सम्भव नहीं। हर खेत में कुआं नहीं बनाया जा सकता और तालाबों से तथा किसी दूर के कुएं से पानी लाने के लिये नालियाँ बनाना भी एक समस्या है और जिसके कारण पारस्परिक झगड़े बहुत खड़े हो जाते हैं।

(५) प्रत्येक खेत के चारों ओर मेंड बनाने में भी तमाम झगड़े, मारपीट और मुकदमेबाज़ी होती है समय और श्रम भी बहुत नष्ट होता है।

(६) सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस अवस्था में कृषि की उन्नति की कोई संभावना नहीं दिखाई पड़ती। वैज्ञानिक ढंग से खेती कभी हो ही नहीं सकती। बड़ी मशीनों जैसे ट्रैक्टर आदि का प्रयोग असम्भव है। खेती के नये तरीके भी प्रयोग में नहीं आ सकते।

इसी कारण से खेती यहाँ बहुत छोटे पैमाने पर की जाती है और इसमें किसानों को लाभ नहीं हो सकता। अनुमान लगाया गया

है कि उत्तर प्रान्त के किसानों को साधारणतया २५ प्रति सैकड़े का हानि केवल इन्हीं कारणों से हो रही है।

इसके विपरीत पाश्चात्य देशों में शायद ही किसी किसान का कुल खाता (holding) ४०, ५० एकड़ से कम हो। उनके खेत एक चक में होते हैं और उसके फलस्वरूप वे बड़े पैमाने पर खेती करते हैं और उनकी पैदावार प्रति एकड़ यहाँ से चौगुनी और पच-गुनी होती है। बड़े पैमाने पर और वैज्ञानिक ढंग से खेती करने पर प्रतिमन पैदावार का व्यय भी कम पड़ता है। अतः उन्हें खेती से काफी लाभ होता है।

अतएव हमारे खेतों की सबसे बड़ी आवश्यकता चकबन्दी (Consolidation of holdings) है। हमारे देश में भी इस ओर ध्यान दिया जा रहा है।

पंजाब में चकबन्दी सहकारी समितियाँ
(Co-operative Consolidation Societies)

यह काम कई वर्षों से और बहुत सफलतापूर्वक कर रही हैं। हमारे प्रान्त में भी पूर्वीय ज़िलों में कुछ ऐसी समितियाँ बनी है, पर यहाँ कई एक कठिनाइयों के कारण यह काम बड़ी शिथिलता से चल रहा है। इन सहकारी चकबन्दी समितियों पर हम उचित स्थान पर फिर विचार करेंगे।

हमारे तथा अन्य पूर्वीय प्रान्तों में चकबन्दी के मार्ग में सबसे बड़ी कठिनाई ज़मींदारी और क़ानून है जिनको हटाए या बदले बिना इस काम में अधिक सफलता की आशा व्यर्थ है।

वास्तव में हमारे खेतों के छोटे और छिटके होने का मुख्य कारण पैतृक भूमि का बटवारा है जो भारतवर्ष में अंग्रेज़ी क़ानून के साथ आया है। इसके अनुसार पिता की मृत्यु के पश्चात् उसकी भूमि में बराबर २ बाँट दिया जाता है। इस कानून के लागू होने के कारण

ही गत लगभग १०० वर्षों में हमारे खेत बटते बटते बहुत छोटे छोटे और दूर दूर हो गये हैं। भारतवर्ष में प्राचीन काल से क़ानून और प्रथा यही चली आ रही थी कि पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी उसका जेष्ठ (सबसे बड़ा) पुत्र ही होता था। आज जर्मनी में भी ऐसा क़ानून है, जिसे 'ला आफ़ प्रोमीजेनीचर' (Law of Pro-migeniture) कहा जाता है।

खेती की विधि

(Agricultural Technique)

वास्तव से यदि भारतीय कृषि की विधि को जानना और समझना है तो दोनों (ख़रीफ़ और रबी) फ़सलों पर खेतों की सैर करना और किसानों से भेंट करना अत्यन्तावश्यक है।

हमारी खेती का विधि कुछ इस प्रकार है :—

(१) खेतों में खाद डालना।

मई जून के महीनों में रबी की फ़सल कट जाने के बाद, जब कि खेत ख़ाली रहते हैं और किसानों को भी कोई और काम नहीं रहता, वे अपनी जमा की हुई खाद को, परिवार के लोगों की सहायता से खेतों में पहुँचाते हैं। एक-एक टोकरी की ढेरियाँ सारे खेत में डाल दी जाती हैं। वर्षा हो जाने पर उसे फैला दिया जाता है और फिर वह धीरे-धीरे मिट्टी में मिल जाती है।

हमारे गाँवों में यह खाद घर और सरिया के कूड़ा करकट गोबर और गो मूत्र की बनी होती है, जो साधारणतया घरों के पास ही ऊँचे-ऊँचे ढेरों में जमा रहती है।

विद्वानों का मत है कि इस प्रकार खाद जमा करने से उसके बहुत [illegible] हो जाते हैं। उसे लाभदायक बनाने के लिये उसे बन्द करके गड्ढों में रखना चाहिये या खेतों में क्यारियाँ (Fur-

-ows) बनाकर उन में सारी खाद की सामग्री डालते रहना चाहिये । एक दो मास में वह बहुत अच्छी खाद बन जायगा । इन क्यारियों पर टट्टी लगाकर उन्हें पाखानों के काम में भी लाया जा सकता है, जिससे ग्रामों की एक बड़ी भारी पाखाने की समस्या भी हल हो जायगी, स्वच्छता अधिक रहेगी और खाद भी अच्छी मिल जायगी।

(२) खेतों की जोताई ।

एक दो पानी बरस जाने के बाद जब आकाश खुल जाता है और भूमि मुलायम हो जाती है तब खेतो में हल चलाया जाता है अर्थात् जोताई की जाती है ।

पानी खेतों में अधिक हो जाने से जोताई नहीं हो सकती अगर पानी अधिक हो जाता है तो किसान को उसके बह जाने की या सूख जाने की प्रतीक्षा करनी पड़ती है ।

साधारणतया इस वर्षा की फ़सल में (ख़रीफ़ में) जोताई दो तीन दिन के भीतर ही हो जाती है, क्योंकि इससे अधिक आकाश का खुला रहना वर्षा ऋतु में असम्भव ही रहता है । हमारे देशी हल ६" से ८" तक गहरा खोदते है, पर अच्छी पैदावार के लिये भूमि को अधिक गहराई तक खोदना ज़रूरी है । नए विलायती हल १' से १½' तक खोद सकते हैं और उनके लिए अच्छे बैलों की आवश्यकता है । अतएव उनकी नस्ल को बढ़ाना पहला ज़रूरी काम हैं ।

(३) पटेला चलाना (Levelling)

जोताई के बाद मिट्टी के ढेलों को कुदाल या फावड़े से तोड़ दिया जाता है और फिर पटेला चलाकर मिट्टी को और भुरभुरा कर दिया जाता है और खेतों को समतल कर दिया जाता है ।

इससे बीज आसानी से मिट्टी में दब जाता है और अंकुर भी आसानी से निकल आता है।

(४) बीज बोना (Sowing)

बीज कई विधियों से बोया जाता है :—

(क) एक विधि तो बहुत साधारण और प्रचलित तथा सुगम है। वह यह कि बीज़ को हाथों से चारों ओर खेतों में छिटका दिया जाय। इस विधि में खराबी यह है कि कहीं तो ज्यादा बीज गिर जाता है और कहीं कम इससे कहीं-कहीं पौदे बहुत ही पास-पास उगते हैं और कहीं-कहीं बहुत दूर-दूर। इसमें पास वाले पौदों को भोजन बहुत कम मिलता है और वह अच्छी तरह उग नहीं पाते, और उनकी पैदावार कम होती है।

(ख) दूसरी विधि में हल के पीछे-पीछे उसी लीक पर हाथ से बीज डाला जाता है। यह पहली विधि से कुछ अच्छी है।

(ग) हल के पीछे की तरफ एक पोले बाँस का चोंगा लगा दिया जाता है और उस पर एक चिलम लगा दी जाती है। उसमें बीज धीरे-धीरे डाला जाता है। इस प्रकार एक क्रम से बराबर दूरी पर बीज हल के पीछे-पीछे नाली में गिरता जाता है। यह तरीका दूसरे से भी अच्छा है।

(घ) एक आधुनिक तरीक़ा बीज डालने का यह है कि नालियां बनाकर उनमें बराबर दूरी पर हाथ से बीज रख दिया जाता है। यह तरीका आजकल सबसे अच्छा और लाभदायक समझा जाता है।

(५) उभाड़ना और निराना (Weeding)

ओआई के बाद पानी पड़ने से बीज के ऊपर मिट्टी की एक पपड़ी सी पड़ जाती है, उसे खुरपी या कुदाल से तोड़ दिया जाता है जिसमें अंकुर के निकलने में कठिनाई न हो। इसके बाद जो घासें खेत में उग

आती हैं और पादों का भोजन स्वयम लेना चाहती हैं उन्हें भी निकाल कर फेंकना पड़ता है। इस विधि को "निराना" कहते हैं।

खरीफ़ की फ़सल में निराई विशेष कर धान के खेतों में बहुत करनी पड़ती है और उस में व्यय भी बहुत होता है।

(६) सिंचाई

जहाँ वर्षा कम या अनिश्चित होती है वहां सिंचाई के लिये कृत्रिम या बनावटी साधनों का प्रयोग करना पड़ता है। हमारे देश में कुएँ, तालाबों और नहरों से सिंचाई होती है। सिचाई की आवश्यकता विशेष रूप से जाड़े की रबी की फसल में होती है जब कि वर्षा बहुत कम होती है।

हमारे प्रान्त में मुख्यतः कुओं से सिंचाई होती है, यद्यपि अब नहरें भी बहुत सी निकाली गई हैं और बहुत से क्षेत्र की सिचाई, उनके द्वारा होती है। हमारे कुएँ अधिकतर कच्चे होते हैं, क्यों ग़रीब किसान पक्के कुएँ नहीं बनवा सकता और वे प्रतिवर्ष वर्षा से खराब होते रहते हैं और उनकी मरम्मत की जरूरत रहती है।

कुछ सम्पन्न किसान पक्के कुओं पर रहट (Persion wheel) भी लगाते हैं और उससे सिंचाई अधिक हो जाती है।

कुछ बड़े-बड़े फ़ारमों (Farms) में ट्यूब वेल (Tubewell) का प्रयोग किया जा रहा है, जो बिजली और मशीन से चलाए जाते है, जिन से काफी पानी मिलता है और एक दिन में कई एकड़ भूमि सिंच जाती है।

ये ट्यूब वेल्स (Tube wells) सिंचाई के सब साधनों में अब सब से अच्छे समझे जाते हैं, क्योंकि उन पर व्यय थोड़ा होता है। एक कुआं ८, १० हजार रुपिये में चालू हो जाता है। और फिर कुछ मासिक व्यय लगभग १००) के उस पर बराबर होता रहता है।

दूसरे उनसे पानी अच्छा और काफी मिल जाता है और तीसरे उनमें नहरों की अपेक्षा भूमि भी कम नष्ट होती है।
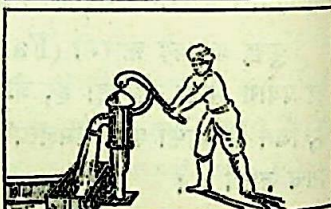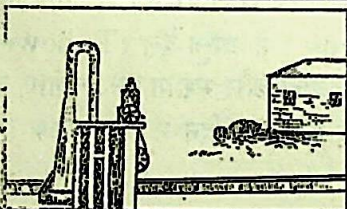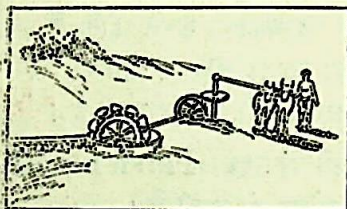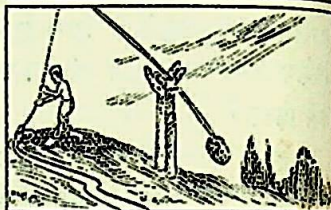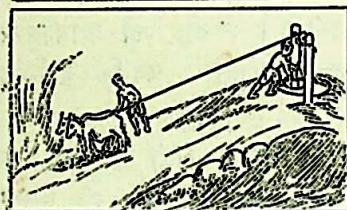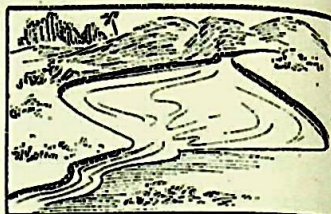
चित्र ३—सिंचाई के साधन

सरकार हमारे प्रान्त में तथा अन्य निकटवर्ती प्रान्तों में प्रति वर्ष काफी ट्यूब वेल्स बनवा रही है और ये उपयोगी भी हैं। तालाबों से

आम तौर से दक्षिण भारत में सिंचाई होती है, क्योंकि पथरीली भूमि के कारण वहां नहरें और कुएँ आसानी से नहीं बन सकते। हमारे प्रान्त में भी रबी की फ़स्ल में तालाबों से सिंचाई की जाती है। परन्तु उनमें खेतों की ऊँचाई और सिंचाई के हिसाब से कई जगह बेड़ी चलानी पड़ती है और उसमें काफी परिश्रम और व्यय होता है।

नहरें भी हमारे प्रान्त में कई एक निकाली गई है जैसे गंगा की नहर, जमुना की नहर, शारदा नहर इत्यादि। इन बड़ी-बड़ी नहरों से फिर छोटी नहरों का जाल बिछाया गया है। जिनसे सिंचाई में काफी सुविधा हो गई है।

नहरों में चार खराबियाँ हैं :—

(१) भूमि बहुत खराब होती है।

(२) रुपिया बहुत खर्च होता है।

(३) पानी फ़सलों के लिये कुएँ से अच्छा नहीं होता।

(४) प्रबन्ध ठीक नहीं है। किसानों को पैसा भी काफी देना पड़ता है और समय पर पानी भी नहीं मिलता।

(७) फ़सल की कटाई।

फ़सल के पक जाने पर उसे हसिया से काटा जाता है, जिसमें काफी श्रम लगता है। एक एकड़ खेत काटने के लिये एक दिन में १०, १२ काटने वालों की ज़रूरत पड़ती है। इसके विपरीत विलायत में हार वेस्टर मशीन (Harvester) से एक ही दिन में १०, १२ एकड़ खेत काट लिया जाता है।

(८) मड़ाई और कटाई।

काटने के बाद फ़सल को खेतों के पास खलिहानों में जमा क
लिया जाता है और फिर बैलों द्वारा उसकी मड़ाई होती है। माड़
के बाद फिर हवा चलने के समय सूपों में या टोकरियों में भरकर उ
ऊपर से गिराया जाता है और नाज और भूसा अलग-अलग क
लिया जाता है।

(९) लदाई व कटाई।

इसके बाद गाड़ियों में भरकर किसान अनाज और भूसा अप
घर ले जाता है, या अगर वहीं बेचना पड़ा तो उसे बेच देता है औ
ग्राहक उसे अपने घर या बाज़ार ले जाता है। रिवाज के अनुसा
मज़दूरों और प्रजा को वहीं पर फसल का कुछ भाग बाँट देन
होता है।

(१०) फसल की बिक्री।

अधिकतर तो खलिहान से ही फ़सल बिक जाती है अगर न
गई तो घर ले जाकर, कुछ हिस्सा घर में रखकर किसान आवश्यकता
नुसार उचित समय पर उसे मंडी में ले जाता है और बेच देता है।

प्रश्न

(१) भारतीय खेती के पिछड़े होने के क्या कारण हैं? आप
क्या सुधार समझा सकते हैं? (U. P. B. 1943.)

(२) पंजाब में 'गेहूं' उत्तर प्रदेश में गन्ना, बंगाल में जूट, औ
मध्य प्रदेश में कपास विशेष रूप से क्यों पैदा होते हैं?

(३) भारतवर्ष में प्रति एकड़ उपज और देशों की अपेक्षा क्यों इतनी कम है ? इसके कारण लिखिये और उसके बढ़ाने के उपाय बताइये । (U. P. B. 1947.)

(४) खेतों के छोटे और छिटके होने से क्या हानियाँ हैं ? खेती पर इसका क्या प्रभाव है ? इन दोषों को कैसे दूर किया जाय ? U. P. B.—1943—44 –46.)

(५) किसी किसान के खेतों का एक नकशा बनाईये और उसके सब खेतों का क्षेत्रफल दिखाइए और घर से उनकी दूरी दिखाइये ।

पांचवां अध्याय

ग्रामीण घरेलू उद्योग धंधे

(Rural Cottage Industries)

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो सम्पत्ति उत्पादन के सभी प्रयत्न एक प्रकार के उद्योग ही हैं।

हम सारे उद्योगों को दो भागों में बांट सकते हैं :—

(१) प्रकृति-प्रधान उद्योग (Extractive Industries)

(२) मनुष्य-प्रधान उद्योग (Non-extractive Industries)

(१) प्रकृति-प्रधान उद्योग धंधे

ये वे धंधे हैं, जिनमें प्रकृति का हाथ विशेष है और मनुष्य का कम । इनमें सम्पत्ति का उत्पादन प्रकृति की दया और देन पर निर्भर

है, जैसे खेती, खानों से सोना, चाँदी, लोहा, तेल, कोयला आदि निकालना, समुद्रों से मछली, मूंगे, हीरे मोती निकालना, जंगलों से लकड़ी काटना, कत्था, गोंद और शहद निकालना इत्यादि। इनमें अधिकतर स्थान परिवर्तन से उपयोगिता उत्पन्न की जाती है।

(२) मनुष्य-प्रधान उद्योग धंधे

ये वे धंधे हैं, जिनका प्रकृति से कम सम्बन्ध होता है और मानव श्रम और संगठन करने की शक्ति तथा जोखिम से अधिक। जैसे कपास से कपड़ा बुनना, तिलहन से तेल निकालना, गन्ने से शक्कर बनाना, लोहे से मशीनें बनाना, सोने चाँदी [illegible] बनाना, चमड़े से जूता बनाना इत्यादि।

इन धंधों के लिये कच्चा माल (Raw material) हमें पहले प्रकार के धंधों से मिलता है और फिर भिन्न भिन्न प्रकार से उसमें उपयोगिता उत्पन्न करके नाना प्रकार की सम्पत्ति उत्पन्न की जाती है।

इनमें अधिकतर रूप परिवर्त्तन तथा समय परिवर्तन और स्वामित्व परिवर्तन द्वारा उपयोगिता उत्पन्न की जाती है, जहाँ मनुष्य के बुद्धि और बल की अधिक आवश्यकता होती है।

एक दूसरी दृष्टि से भी हम धंधों का वर्गीकरण कर [illegible] अर्थात् साधनों की मात्रा और संगठन की दृष्टि से —

इस प्रकार उन्हें तीन भागों में बांटा जा सकता है :—

(१) छोटे घरेलू उद्योग धंधे (Small Scale or Cottage Industries)

(२) मध्य-श्रेणी के उद्योग धंधे (Medium size Industries)

(३) बृहत उद्योग धंधे (Large Scale or Factory Industries)

पहले दो प्रकार के धंधों में अधिकतर काम हाथ से होता है और उनमें श्रम और पूंजी कम लगती है। तीसरे प्रकार के धंधों में श्रम और पूंजी बहुत लगती है और अधिकतर मशीनों का संचालन उनमें शक्ति द्वारा होता है।

यहाँ पर हम गांवों के घरेलू उद्योग धंधों पर भी कुछ प्रकाश डालेंगे।

ग्रामीण घरेलू उद्योग धंधों की महत्ता

(१) भारतीय किसान की खेती, जैसा दिखाया जा चुका है अनुत्पादक है। उसकी आय से उसका गुजर बसर अच्छी तरह से नहीं हो सकता। अतएव घरेलू उद्योग धंधे उसकी कुल आय में बहुत कुछ वृद्धि कर सकते हैं और करते रहे हैं। खेती के पतन के कारण अन्य सहायक धंधों की महत्ता दिन पर दिन बढ़ती ही जा रही है।

(२) जनसंख्या हमारे देश की बड़ी तेज़ी से बढ़ रही है, परन्तु न भूमि बढ़ सकती है और न खेती में इतनी उन्नति ही की आशा है कि वह इस बढ़ती जनसंख्या का भरण पोषण कर सकें। अतः घरेलू उद्योग धंधों को बढ़ाने की आवश्यकता है और इनके बढ़ने से भूमि और खेती पर का दबाव भी कम हो जायगा।

(३) खेती का काम साल भर में ६ मास से अधिक नहीं है। अतः ये शेष ६ मास किसान के व्यर्थ आलस्य और प्रमाद में नष्ट हो जाते हैं। इस समय का बहुत अच्छा उपयोग इन धंधों को लेने से किया जा सकता है। किसान इनके द्वारा अपने जीवन के प्रति क्षण को महाउत्पादक प्रयोग कर सकता है।

(४) अब हमारी भावी प्रारम्भिक शिक्षा (Basic Educa-tion) किसी न किसी उद्योग धंधे पर ही केन्द्रित होगी। और उस हमारे समाज का सम्पूर्ण दृष्टिकोण ही बदल जायगा, जिसमें देश भावी कल्याण छिपा है।

(५) गाँवों को छोड़कर शहरों में भागने वाले शिक्षित और अशिक्षित दोनों वर्गों को गाँवों में स्थायी रूप से रोका जा सकता है, जिससे ग्रामीण जीवन का पुनरुत्थान सम्भव होगा। शहरों बढ़ती जनसंख्या और उसके घनत्व से जो कठिनाइयाँ और समस्या उत्पन्न हो रही हैं वे कम हो जावेगी।

(६) इनकी उन्नति से देश में कला-कौशल की उन्नति होगी सभ्यता फैलेगी, जनरुचि सुसंस्कृत होगी और गाँव का जीवन सुन्दर और सुखी होगा।

(७) इन धंधों में एक स्वाभाविकता है और एक विशेष है, जिसके कारण, वे अभी तक पूर्णतया नष्ट नहीं हुए, यद्यपि उन राजनैतिक और आर्थिक परिवर्तनों के साथ साथ बड़ा कुठाराघात होता रहा है। इनके द्वारा ही मानव परिश्रम का मूल्य ठीक ठीक आंका जा सकता है और मनुष्य की क़दर और क़ीमत समझी जा सकती है।

(८) ये धंधे जनता को एक मुक्त और आनन्दमय प्राकृतिक जीवन निर्वाह का अलौकिक अवसर प्रदान करते हैं, जो शहर के दूषित वातावरण में सर्वथा नष्ट हो जाता है, जिसके कारण मनुष्य मशीन और पशु बनता चला जा रहा है। इसके अतिरिक्त हमारे इतने बड़े देश में मीलें भी बहुत कम हैं, जो हमारी ज़रूरत की सभी चीज़ें नहीं बना सकतीं।

इन सब कारणों से यह परमावश्यक है कि अब स्वतन्त्र हो जाने के पश्चात् हम इन धंधों के मूल्य को ठीक ठीक समझें और अपने

देश में, विशेष कर गाँवों में एक औद्योगिक रुझान उत्पन्न करें। इनकी उन्नति राष्ट्र की उन्नति है मानव जाति की फिर से प्रतिष्ठा करना है। थोड़े से ज्ञान, शक्ति और पूंजी के लगा देने से इन ग्रामीण धंधों का और उनके साथ किसानों का पुनरुद्धार हो सकता है, और जो नवीन सभ्यता और नवीन समाज के निर्माण में अत्यन्त सहायक होंगे।

अब हम अपने गांवों में प्रचलित उद्योग धंधों का कुछ वर्णन करेंगे।

(१) तेल निकालना

तेल हमारे ग्रामीण जीवन की नित्य प्रति की एक आवश्यक वस्तु है, जो भोजन के लिये, जलाने के लिये तथा मालिश के लिये सर्वत्र प्रयोग में लाया जाता है। यों तो कई प्रकार के तेल काम में आते हैं, जैसे नारियल, सरसों, मूंगफली और मिट्टी का तेल, पर गाँवों में अधिकतर सरसों, तिल्ली और रेंडी का ही तेल कोल्हू में पेर कर बनाया जाता है। पहले जलाने के काम में रेंडी का तेल ही आता था, पर अब मिट्टी के तेल ने इसका स्थान ले लिया है।

सरसों का तेल खाने और मालिश के काम में आता है और शुद्ध रूप में गुणकारी भी है, पर अब शहर के कारखानों का बना हुआ तेल, जो कुछ सस्ता होता है और शहरों गाँवों में खाया जाता है बहुत ही दूषित है।

तेल लकड़ी के कोल्हू में सरसों को पेर कर निकाला जाता है। तेल निकल जाने के बाद जो सरसों या तिलों का भाग बचा रहता है वह खली कहलाता है और गाय, भैंसों को खाने के लिये दिया जाता है, जिससे उनका दूध बढ़ता है। यह खली भी काफी अच्छे दामों से बिक जाती है और तेली की आय को बढ़ाती है। इस काम को विशेषतया उसी नाम की जाति के लोग अर्थात् तेली लोग करते

हैं। तिल्ली और सरसों के भाव के साथ साथ तेल और खली का भा भी घटता बढ़ता रहता है। तिल्ली और सरसों के बाहर जाने औ मज़दूरी बढ़ने के कारण तेल महंगा हो गया है। गांवों में किसा
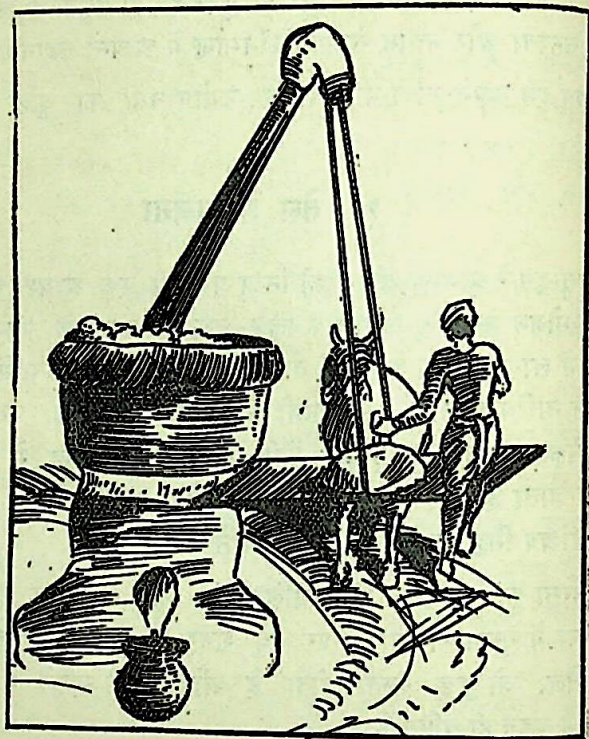
चित्र ४—कोल्हू से तेल निकालना

लोग सरसों पैदा करते हैं और अपनी ज़रूरत भर का तेल तेली से पेरवा लेते हैं और शेष बाजार में बेच देते हैं। उन्हें तेली को खली और कुछ मज़दूरी देनी पड़ती है।

३ सेर सरसों से लगभग १ सेर तेल और २ सेर खली पैदा होती है।

२—रस्सी बटना

खाली समय में बहुत से किसान रस्सी बटते हैं। रस्सी मूंज या नारियल की जटा से बनाई जाती है। सनई और जूट की भी रस्सियां बनती हैं। सूत की डोरियां गांवों में नहीं बनतीं।

यह सब वस्तुएं गाँवों में बहुत पैदा होती हैं और यह इनका सब से अच्छा आर्थिक उपयोग है।

किसान को दैनिक जीवन में रस्सी का बहुत काम रहता है। पशुओं को बांधना, पानी निकालना, बोझ बांधना, खाट बुनना, अरगनी बांधना इत्यादि अनेकों काम इससे होते हैं।

यह काम बहुत आसान है, पूंजी भी इसमें कुछ नहीं लगती। केवल कुछ श्रम लगता है और हर समय किया जा सकता है। गांव वाले रस्सियां बहुत कम मोल लेते हैं। शहरों में अधिकतर इनकी बिक्री होती है। प्रायः खानाबदोश नट लोग भी रस्सियां बनाकर बेचा करते हैं।

३—लकड़ी का काम

गाँवों में लकड़ी काफ़ी मिलती है, और इसका काम बढ़ई करते हैं। बढ़ई गाँव का एक मुख्य सदस्य व दस्तकार है। वह किसानों [illegible] या खेती के लिये बहुत सी चीज़ें बनाता है और उनकी मरम्मत करता है।

खेती के लिये वह हल, जुआ, सेरावन, पटेला, कुदाल, फावड़ा व खुरपी आदि के लकड़ी के बेंट, तथा गाड़ी और कुएँ की निवाड़ आदि बनाता है और दैनिक जीवन के लिये किवाड़, दरवाज़े, धन्नी, कड़ी, चारपाई, मचिया, मचानी, खड़ाऊ, पौला, बक्स, तखत, तखती, पीढ़े, चौकी, डीवट इत्यादि बनाता है और गाँव में तथा मेलों और हाटों में बेचता है।

उसके मुख्य औज़ार हैं—हथौड़ा, रुखानी, रंदा, आरा, क
पेचकश इत्यादि।
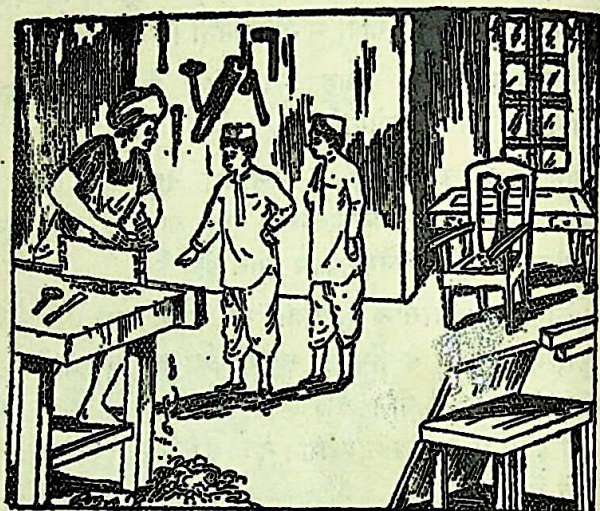
चित्र ५—बढ़ई

इन औज़ारों में बहुत कुछ उन्नति की जा सकती है और
शिक्षा से काम भी अच्छा किया जा सकता है। गाँव की उन्नति
साथ साथ कुछ अन्य आधुनिक प्रयोग की वस्तुएँ जैसे कुरसी,
आलमारी आदि भी बनाई जा सकती हैं। बढ़ई का बहुत कुछ स
खेती के औज़ारों को बनाने और ठीक करने में लग जाता है। जि
लिये वह दाम भी लेता है और फ़सलों पर बँधा हुआ अनाज भी।

आम, नीम, साल, शीशम, साखू आदि की लकड़ी वह अधिक
काम में लाता है, पर साखू, साल और शीशम आदि की लक
उसे बहुधा शहर से मोल लेनी पड़ती है, शेष गांवों में ही मि
जाती है।

४—घी दूध का काम

हमारे देश में दूध और उससे बने पदार्थ जैसे दही, मट्ठा, घी, माखन आदि का प्राचीन काल से बहुत प्रयोग होता चला आ रहा है। दूध को अमृत के तुल्य समझा जाता रहा है, और उसे सारे खाद्य पदार्थों में सर्वोच्च स्थान दिया गया है। आधुनिक वैज्ञानिक संसार भी इस मत से पूर्ण सहमत है। दूध को वह पवित्रतम और मनुष्य के लिये पूर्ण भोजन समझता है। उसमें लगभग सब प्रकार के विटैमिन पाए जाते हैं और इसीलिये वह सबसे अधिक शक्तिप्रद है। दूध की तो यहां नदियां बहती रही हैं और वह सबसे सात्विक और पौष्टिक भोजन का तत्व माना गया है। पर दुःख का विषय है कि शहरों की तो बात ही और है गांवों में भी अब लोग दूध के लिये तरस रहे हैं और घी की बहुत कमी हो गई है जो हमारे गिरे हुए स्वास्थ्य और दुर्बलता का मुख्य कारण है।

खेती में बैलों की और भोजन में दूध घी की परमावश्यकता ने गाय का स्थान हमारे देश में बहुत ऊँचा कर दिया है। उसे मनुष्य जाति की माता का पद और गौरव प्राप्त है और इसीलिये गो पूजा और रक्षा हिन्दू धर्म या वैदिक धर्म का एक महान अङ्ग बन गया है। उसकी हिंसा और हत्या एक घोर पाप और धार्मिक पतन का चिन्ह समझा जाता है।

अतएव गोपालन हमारी सभ्यता और जीवन का एक मुख्य लक्षण रहा है। एक समय था जब प्रत्येक भारतवासी गाय भैंस और बैल पालना अपना एक धार्मिक कर्त्तव्य समझता था। और घी, दूध, दही, माखन खूब पैदा करता था, और उनके उपयोग से स्वस्थ और पुष्ट रहकर १०० वर्ष पर्यन्त जीवित रहने की आशा करता था। पर आज सब कुछ बदल गया, सारे संसार में हम सब देशों और जातियों की अपेक्षा दुर्बल, अस्वस्थ और रोगी हो गए हैं, हमारी औसत आयु २४ वर्ष से अधिक नहीं रही।

इसका एक मात्र कारण हमारे पशुओं की दुर्दशा और कमी है। यद्यपि संख्या में वे अब भी अन्य देशों की अपेक्षा अधिक हैं, उनका स्वास्थ बहुत खराब है। जो मनुष्यों का हाल है वही पशुओं की। इस शोचनीय अवस्था से ही हमारी खेती भी क्षीण हो रही और हमारा स्वास्थ भी खराब हो रहा ।

मुसलमानी और अंगरेज़ी राज्य में बहुसंख्या में पशुओं का बलिदान भोजन के लिये होता रहा है। इस कारण अच्छी नसलों के पशु बहुत कम रह गए हैं और उनका दाम भी बहुत बढ़ गया है।

दूध घी का काम करनेवाले यहाँ अहीर, घोसी ग्वाले व... लोग । ग़रीबी के कारण सारा घी दूध शहरों में जाकर बेच... । उनके बच्चों को तो देखने को भी नहीं मिलता।

अशिक्षा और अज्ञानता के कारण दूध का काम यहाँ बहुत लापरवाही और गदगी से होता है, जिससे बीमारियों के फैलने का डर रहता है। अब पैसे के लालच से बेईमानी भी बहुत होने लगी है। दूध में तिहाई पानी मिलाना, घी में गुल्लू, मूंगफली वनस्पति आदि मिलाना एक साधारण सी बात हो गई है। मक्खन निकाल कर मखनिया दूध भी खूब बिकने लगा है। समाज के लिये यह बड़ी हानि पहुँचाने वाली बातें हैं। सरकार इस समस्या पर कुछ विचार कर रही है पर अभी कुछ हो नहीं पाया है।

हमारे देश में घी का प्रयोग बहुत होता है और इस धंधे का भविष्य बहुत ही उज्ज्वल है। पर आजकल वनस्पति घी के चल जाने से असली शुद्ध घी का मिलना कठिन हो गया है। हमारे प्रान्त की सरकार का यह प्रस्ताव है कि वनस्पति घी बनाने वालों को कानून से मजबूर किया जाय कि वे उसमें कोई रंग मिलावें, जिसमें शुद्ध घी में न मिलाया जा सके। पर अभी इस विषय में केन्द्रीय सरकार कुछ निश्चय नहीं कर सकी है।

भोजन में चरबी (fat) तत्व की पूर्ति हमारे देश में घी से या मक्खन से ही की जाती है। पशुओं की चरबी से नहीं जैसा कि पाश्चात्य देशों में होता है। यह तत्व शक्ति बढ़ाने के लिये अत्यन्त आवश्यक है अतः इस घी के धंधे की उन्नति करना बहुत ज़रूरी है।

शहरों में डेयरी फ़ार्म्स (Dairy Farms) घी, मक्खन, पनीर आदि बनाने के लिये वैज्ञानिक ढंग पर खोले जा रहे हैं और उनसे शुद्ध घी दूध के मिलने की बहुत कुछ आशा की जाती है। इनसे हमारे गांव के ग्वाले और अहीर लोग भी बहुत सी नई बातें सीखेंगे और उनके व्यवसाय में भी उन्नति होगी।

५—लोहे का काम

बढ़ई के समान लोहार भी गाँव के लिये बहुत ज़रूरी कारीगर है। खेतों के औज़ारों में लोहे के भाग की आवश्यकता वही पूरी
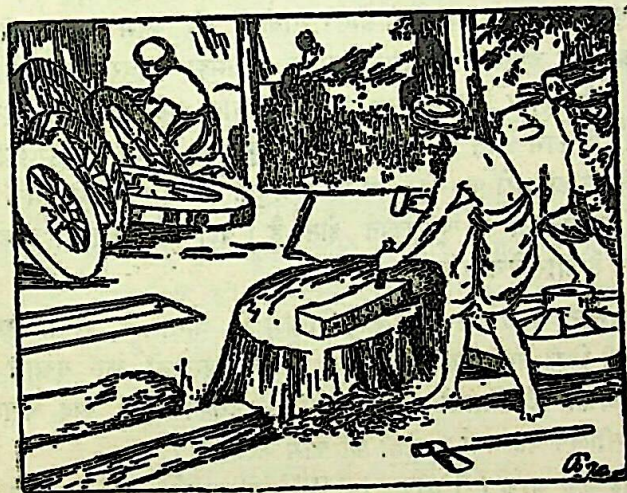
चित्र ६—लोहार

करता है। हलका फार हँसिया, खुरपी, फावड़ा, कुदाल आदि
लोहे का भाग वही बनाता है। इसके अतिरिक्त चाकू, कील,
नाल, सरौता, कूंड, डोल, पटरी, तवा, कढ़ाई इत्यादि चीज़ें
बनाता है और उनकी मरम्मत करता है और उनकी धार रखता है।
शहर के लोहे के कारखानों ने लोहारों का बहुत कुछ काम
लिया है, फिर भी खेती के छोटे मोटे काम अब भी वही करता
और किसी प्रकार कुछ दाम लेकर और कुछ फ़सलों पर रिवाज
अनुसार अनाज लेकर अपना निर्वाह करता है। शहरों में भी
कभी उसे कुछ काम मिल जाता है। कुछ खेती भी वह कर लेता है।

खेती की उन्नति के साथ नये औज़ारों का भी प्रयोग हो
उनकी जानकारी और उनकी मरम्मत करने का ज्ञान उसे
बहुत ज़रूरी है।

६—कुम्हार का काम

कुम्हार या कुम्भकार भी हमारे गाँवों में बड़े काम का कारी
है। ग्रामीण जीवन में ही क्या शहरों में भी मिट्टी के बरतनों का
प्रति प्रयोग होता है। घड़े, मटके, सुराही, नांद, हांडी तो रोज़ ही
के घरों में काम आते हैं, इनके अतिरिक्त कुल्हड़, शकोरे तश्तरी आ
भी विशेष अवसरों पर बहुत संख्या में प्रयुक्त होते हैं। त्योहारों पर
मिट्टी के खिलौनों की खूब खपत होती है। यही सब वस्तुयें कुम्हार
बनाता है और बेचता रहता है।

बरसात में उसका काम कुछ शिथिल हो जाता है, क्योंकि एक
तो सूखी मिट्टी नहीं मिलती दूसरे धूप कच्चे बरतनों को सुखाने
लिये काफ़ी नहीं मिलती। अन्य मौसमों में उसका काम खूब चलता
है। इसीलिये वह वर्षा में खेती का काम करता है।

वह एक चाक (Patteris Wheel) और एक लकड़ी
सारी चीजें बनाता है, फिर उन्हें धूप में सुखा कर आवे पर पका लेता

है। आवश्यकतानुसार बाद में उनपर लुक और रंग भी चढ़ाता है। उसे शहर के कुम्हारों और कारीगरों से मिलकर नई चीज़ें और डिज़ाइन सीखना चाहिये। नये प्रकार के खिलौनों की भी गाँवों में खपत होगी जो उसे बनाना चाहिये। मेलों, नुमायशों और त्योहारों में उसकी बिक्री भी खूब हो सकती है।

७—चमड़े का काम

चर्मकार या चमार भी गाँव का एक ज़रूरी कारीगर है। पर उसके गंदे काम के कारण उसकी सामाजिक स्थिति गाँव में बहुत नीची है। वह अछूत जाति का सदस्य है। मोची भी चमड़े का काम करता है। मरे हुए जानवरों का चमड़ा उसे गाँव में आसानी से मिल जाता है। उसका काम दो भागों में बांटा जा सकता है। एक तो खाल से चमड़ा बनाना (Tanning) और दूसरा चमड़े से और चीजें बनाना। जैसे मोट या पुर और जूते वद्धी आदि। चमड़ा बनाने का काम बहुत गंदा है। यह यदि कारखानों में किया जाय तो अच्छा है। बहुत से मोची बना बनाया चमड़ा बाज़ार से मोल लेकर काम में लाते हैं। गाँवों के मोची देशी और विलायती दोनों प्रकार का चमड़ा काम में लाते हैं।

कारखानों के बने हुए जूतों के कारण अब गाँव के मोचियों के बनाये हुये जूतों की मांग बहुत कम हो गई है। इसलिये इस धंधे में अब ज्यादा आमदनी की गुंजायश नहीं रही। कुछ लोग अब भी मोची के बनाए हुए जूते पहनते हैं। शहरों में हाथ के बने हुये जूते और चप्पल अब बहुत बिकते हैं। उनसे गाँव के मोची और चमार भी नई-नई चीज़ें बनाना सीख कर लाभ उठा सकते हैं।

८—सूत कातना व कपड़ा बुनना

हमारे देश का यह बहुत ही पुराना और महत्व पूर्ण कार्य है।

भोजन के पश्चात् सब को कपड़े की ज़रूरत होती है। अतः इस
उन्नति की बड़ी ज़रूरत है।

प्राचीन काल में भारतवर्ष ऊनी, रेशमी और सूती सब प्रकार
कपड़े बनाने के लिये सारे संसार में प्रसिद्ध था और बहुत सा कप
विलायत को भेजता था। पर गत दो तीन सौ वर्षों के भीतर उस
इस दस्तकारी का जान बूझ कर नाश कर दिया गया। दूसरे पाश्चा
मिलों के कपड़ों के मुकाबले में भी उसका जीवित रहना कठिन
गया। परिणाम स्वरूप प्रति वर्ष करोड़ों रुपियों का कपड़ा हमें विदे
से मोल लेना पड़ता था। एक प्रकार से हमारी आर्थिक और राजनै
परतन्त्रता का यह एक बड़ा भारी कारण था। पूज्य महात्मा गां
जी ने इसे भली भांति समझ लिया था और इसीलिये राजनै
स्वतन्त्रता के लिये उन्होंने आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना आवश्
समझा और चर्खे का प्रचार किया और विदेशी वस्त्र का बहिष्क
किया। उनका विचार ठीक ही प्रमाणित हुआ। चर्खे और खादी
प्रचार करके उन्होंने इस धंधे को बहुत प्रोत्साहन दिया।

उनके मतानुसार किसानों के लिये अपनी आय को बढ़ाने औ
जीवन की एक बड़ी आवश्यकता को पूरा करने के लिये यह सू
कातने और कपड़ा बुनने की दस्तकारी से बढ़कर इस समय और को
सहज उपाय नहीं है।

प्राचीन काल में हमारे यहां प्रत्येक घर में, विशेष कर वृद्धायें चर्ख
कातती थीं और सूत बनाती थीं और उसे जुलाहों और कोरि
के हाथ कपड़े से बदल लेती थी या कुछ दाम देकर कपड़ा बनव
लेती थ.।

स्वतन्त्रता संग्राम के दिनों में काफी चर्खे चलने लगे थे पर अ
फिर यह काम शिथिल हो गया है, क्योंकि कांग्रेस अब शासन कार्य

आवश्यकताएं
(Wants)
आवश्यक आवश्यकताएं
(Necessaries)
सुखप्रद आ-श्यकताएं
(Comforts)
विलासिता सम्बन्धी आवश्यकताएं
(Luxuries)
जीवन रक्षक आवश्यक-आवश्यकताएं
(Necessaries for existence)
निपुणता या कार्य्य कुशलता रक्षक
आवश्यक-आवश्यकताएं
(Necessaries for efficiency)
सम्मान रक्षक या सामाजिक
आवश्यक-आवश्यकताएं
(Conventional
necessaries)
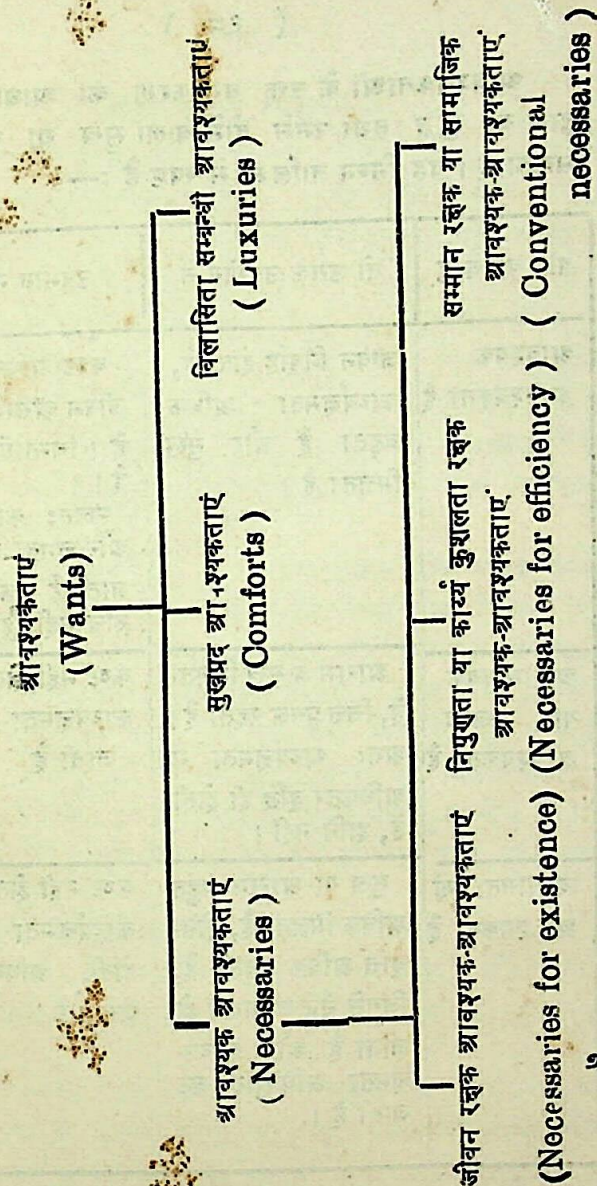
आवश्यकताओं के उक्त वर्गीकरण का आधार निपु
ह्रास या वृद्धि तथा उनमें होने वाला सुख या दुःख ही
सकता है। यह निम्न तालिका से स्पष्ट है :—

यदि वह वस्तु	तो उसके उपभोग से	उपभोग न करने
आवश्यक आवश्यकता है	जीवन निर्वाह होता है, कार्य्यक्षमता अधिक बढ़ती है और सुख मिलता है।	कष्ट अधिक होता जीवन असम्भव हो है। चिन्ताएँ बढ़ है। फलतः कार्य्यकुश और क्षमता बहुत क जाती है। काम करने रुचि नहीं रहती।
आरामदायक या सुखप्रद आवश्यकता है	आराम व सुख मिलता है, चित्त प्रसन्न रहता है। अतः कार्य्यक्षमता में अधिकतर वृद्धि ही होती है, हानि नहीं।	कष्ट नहीं होता कार्य्यक्षमता कुछ क जाती है
विलासिता पूर्ण आवश्यकता है	सुख या आराम बहुत अधिक मिलता है, भोग-वृत्ति अधिक बढ़ती है, जिससे नैतिक पतन हो जाता है और कार्य्य-क्षमता अधिकतर घट जाती है।	कष्ट नहीं होता, कार्य्यक्षमता कम होती, अधिकतर जाती है।

आय, व्यय, सन्तुष्टता

साधारणतया तो सम्पत्ति उत्पादन के पश्चात् लोग सबसे पहले आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति में उसका उपभोग करते हैं, फिर सुखप्रद आवश्यकताओं की पूर्ति में और अन्त में विलासपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति में, पर कभी इस नियम के विरुद्ध भी देखा जाता है।

एक मज़दूर घी दूध न खावेगा पर बीड़ी में पैसा खर्च कर देगा एक शराबी कपड़े लत्ते खाने-पीने की कुछ परवाह न करेगा शराब पर अधिक से अधिक खर्च कर देगा, एक किसान कपड़े लत्ते, शिक्षा सफ़ाई पर बहुत कम खर्च करेगा पर ब्याह शादी में, मुक़दमेबाज़ी में बहुत खर्च कर देगा। तो यह सब क्यों होता है और वास्तव में आवश्यकताओं की पूर्ति कैसे होती है?

आय—बात यह है कि प्रत्येक मनुष्य कुछ न कुछ कार्य्य करके एक निश्चित समय के भीतर कुछ रुपिया कमा लेता है चाहे पैदा की हुई सम्पत्ति बेचकर, चाहे मज़दूरी और नौकरी करके, चाहे लगान और ब्याज लेकर और चाहे किसी व्यवसाय द्वारा लाभ उठाकर, किसी न किसी प्रकार से वह कुछ धन कमा लेता है, इसे ही अर्थशास्त्र में आय कहा जाता है फिर उस आय को वह भिन्न भिन्न प्रकार की आवश्यकताओं पर व्यय करता है अर्थात् उससे मनमानी वस्तुएं और सेवाएं मोल लेता है। इन सब का उपभोग करके वह सन्तुष्टि प्राप्त करता है।

आजकल रुपये पैसे का बहुत महत्व है। प्रत्येक आदमी रुपिया पैसा चाहता है। क्योंकि उसके द्वारा वह सारी वस्तुएँ और सेवाएँ मोल ले सकता है और सुख, सन्तोष और शान्ति का व्यय कर सकता है।

प्राचीन समय में जब विनिमय और वितरण का प्रश्न नहीं था प्रत्येक मनुष्य जो उत्पन्न करता था वही उपभोग करता था और इसलिये अपनी आवश्यकता की लगभग सभी वस्तुएँ वह स्वयम्

नदा कर लेता था और उन्हें सीधे सीधे उपभोग में लाता था और सन्तुष्टि करता था।
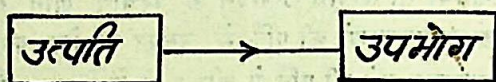
चित्र ७

जैसा ऊपर चित्र में दिखाया गया है उत्पत्ति और उपभोग में सीधा सम्बन्ध था। यदि किसी को भूख लगी तो उसने शीघ्र मछली मारकर या किसी जानवर का शिकार करके भूख शान्त कर ली। किसान भी अन्न पैदा करके अपनी क्षुधा की तृप्ति करता है।

पर अब आवश्यकताओं के बढ़ जाने से उसे पैसे की अधिक आवश्यकता रहती है। अतएव वह उत्पत्ति से आय कमाता है और उसे व्यय करके उपभोग करता है। जैसा नीचे के चित्र में दिखाया गया है। रुपिये पैसे के व्यय से आज सन्तुष्टि प्राप्त की जाती है।
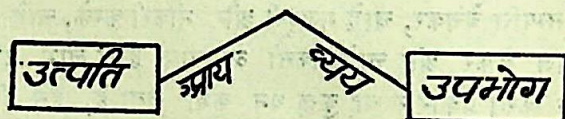
चित्र ८

आय से सन्तुष्टि का बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। जो मनुष्य जितना ही अधिक कमाएगा या जिसकी आय जितनी ही अधिक होगी वह उतनी ही अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकेगा, उतनी ज़्यादा वस्तुओं और सेवाओं का वह उपभोग करके सन्तोष लाभ करेगा। इसी प्रकार जिसकी आय जितनी ही कम होगी वह उतनी ही कम सन्तुष्टि प्राप्त कर सकेगा।

उदाहरण के लिये जो किसान साल भर में ४, ५ हज़ार रुपिया खेती से कमा लेता है, उसके पास बहुत सी हैसियत की चीज़ें होंगी जैसे अच्छा बड़ा मकान गाय, बैल, घोड़ा, साइकिल, रथ गाड़ी, सोने

चाँदी के ज़ेवर, अच्छे अच्छे कपड़े, बरतन, पलंग, कुरसी मेज़ आदि इसके अतिरिक्त वह अच्छा से अच्छा भोजन करेगा, फल और मिठाई खायगा, लड़के बालों को शिक्षा देगा और साफ़ सुथरा रक्खेगा, पर जिस किसान की आय साल में कुल ५, ६ सौ रुपिया ही है वह कठिनता से दोनों वक्त परिवार को भोजन दे पायगा और मामूली फटा पुराना कपड़ा पहनेगा शिक्षा स्वच्छता आदि का कोई प्रश्न ही न होगा और मामूली कच्चे फूस के घर में रहेगा।

इसी प्रकार जिस देश की राष्ट्रीय आय कम होगी वह ग़रीब होगा और जिसकी अधिक राष्ट्रीय आय होगी वह अमीर होगा। भारत एक बहुत ही ग़रीब देश है यहाँ की औसत वार्षिक आय प्रत्येक मनुष्य की १००) रु० से अधिक नहीं है। दूसरी ओर अमरीका की वार्षिक औसत आय प्रत्येक मनुष्य की १०००) से अधिक है। यही कारण है कि वहाँ लोग अत्यन्त स्वस्थ सुखी और सन्तुष्ट हैं और उन्नतिशील हैं। हम ग़रीब, कमज़ोर और पिछड़े हुए हैं।

वह लोग प्रयत्नशील और उद्योगी हैं और हम लोग अपने भाग्य को कोसते रहते हैं और कभी कभी भगवान तक को गाली देते रहते हैं। वास्तव में यह कर्मों का ही फल है। यदि परिश्रम करें तो हम भी अमीर हो सकते हैं। अब हमें अवसर भी मिला है। देश स्वतन्त्र हो गया है। राज्य की ओर से भी हमें बहुत कुछ सहायता और प्रोत्साहन मिलेगा। अतएव हमें अपनी आय बढ़ाने की धर्म मार्ग पर चलकर चेष्टा करनी चाहिये।

आय को निम्न भांति काम में लाया जाता है :—

(१) स्वभावतः ही आय का एक बहुत बड़ा भाग सब प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति में व्यय किया जाता है।

(२) उसके पश्चात कुछ रुपिया बैंक आदि में जमा कर दिया जाता

है या ऐसे काम में लगाया जाता है जिससे और आय हो सके। इसे बचत (Saving) कहते हैं।

(३) जो फिर भी शेष रहता है उसे घर में रख दिया जाता है या तो ज़ेवर व अन्य सामान के रूप में या ज़मीन में गाड़ दिया जाता है। इसको रुपिया जोड़कर रखना (Hoarding) कहते हैं।

व्यय

आय को व्यय करके ही आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। साधारणतया तो जिसके पास अधिक रुपिया होता है वह सब प्रकार से सुखी रहने की चेष्टा करता है। इसलिये सुख और सन्तोष लाभ करने के लिये आय का अधिक होना नहीं वरन उसका व्यय होना जरूरी है। मैं अपने मुहल्ले के दूकानदारों को देखता हूँ जिनकी हज़ारों की सालाना आय है और लाखों की उनके पास जायदाद है और घर में खूब सोना चाँदी का ज़ेवर भी भरा हुआ है पर उनको स्वयम देखने से बड़ी घृणा होती है, क्योंकि गर्मी भर वह केवल दो अत्यन्त मैली धोतियां पहन कर समय काट लेते हैं जिनसे वास्तव में दुर्गन्ध आती है और वे बिलकुल नंगे रहते हैं अतएव उनका रहन सहन बहुत ही खराब है। हाँ शादी व्याह के अवसर पर वे १०, २० हजार रुपिये खर्च कर देते हैं और वह भी बहुत बुरी तरह से। न उन लोगों को साफ कपड़े पहनने का शौक है न कुछ पढ़ने लिखने का न अच्छे साफ और हवादार मकान में रहने का खाने में भी घी दूध तो अवश्य खाते हैं पर फल इत्यादि से उन्हे कोई प्रयोजन नहीं। अंतएव वह सम्पत्ति का सात्विक सुख भी नहीं उठा सकते। इसलिये सुख और सन्तुष्टि की वृद्धि आय को व्यय करने पर निर्भर है न केवल आय को बढ़ाने और जोड़ने पर।

धन के व्यय करने के कुछ नियम यह हैं :—

१—हमें धन इस प्रकार व्यय करना चाहिये कि हमारी सब प्रकार की आवश्यकतायें अधिक से अधिक मात्रा में सन्तुष्ट हो सकें और उन पर व्यय करने से हमें अधिक से अधिक सुख और सन्तोष प्राप्त हो। जरूरत के हिसाब से क्रमानुसार व्यय करने से ही ऐसा हो सकता है।

२—हमें ठीक-ठीक इस बात का ज्ञान होना चाहिये कि हमें किन किन वस्तुओं पर कितना-कितना खर्च करना है। उसका एक ब्योरा पहले से तैयार रखना चाहिये। जीवन, निपुणता और सम्मान की रक्षा पर पहले व्यय करना चाहिये—फिर आराम और सुखप्रद चीजों पर सब कुछ विलास की वस्तुओं पर।

३—हमें यह भी जानना चाहिये कि अच्छी से अच्छी और सस्ती से सस्ती वस्तुयें कहां मिल सकती हैं। अर्थात् हमें बाजार का ज्ञान होना चाहिये। नौकरों पर निर्भर नहीं रहना चाहिये। स्वयम् भी परिश्रम करना चाहिये।

४—हमें मोल तोल करना भी आना चाहिये नहीं तो हम ठगे भी जा सकते हैं।

कहा जाता है पैदा करने से रुपिये का व्यय करना बहुत कठिन है। अतएव बुद्धिमानी और होशियारी से व्यय करना चाहिये।

बचत (Saving)

मनुष्य साधारणतया यह कोशिश करता हैं और उसे करना भी चाहिये कि वह अपनी आय का पूर्णरूप से समाप्त न कर दे वरन् उसका कुछ न कुछ भाग अवश्य बचा ले। यह एक बड़ा भारी नैतिक गुण है। दूसरे उनका बहुत ही निर्धन लोग कालान्तर में बहुत धनी और सम्पन्न बन जाते हैं।

अर्थशास्त्र की दृष्टि से 'बचत' आय का, व्यय के पश्चात्, वह

बचा हुआ धन है जिससे और भी अधिक आय की सम्भावना हो। यदि बचा हुआ रुपिया घर में रक्खा गया, या जेवर में बदल लिया गया या ज़मीन में रख दिया गया तो वह जोड़ना या (Hoarding) कहा जायगा। पर यदि वह बैंक में रख दिया गया या किसी को ब्याज पर दे दिया गया या किसी काम में लगा दिया गया तो वह वास्तव में बचत कहलायगा।

बचत से कुछ लाभ भी हैं :--

१—अचानक जरूरत पड़ने पर वह काम आ सकती हैं जैसे बीमारी में, काम न मिलने पर या आय कम हो जाने पर।

२—उससे आय बढ़ती रहती है। जैसे बैंक में सूद मिलने से।

३—आजकल जीवन का कुछ ठीक नहीं। यदि किसी की मृत्यु हो गई सो भी बच्चों की परवरिश और शिक्षा आदि सरलता से हो सकेगी। आजकल 'बचत' के लिये बहुत से साधन निकाले गये हैं।

१—बैंक खोले गये हैं जहाँ बचत रक्खी जा सकती है।

२—सरकारी कर्जों में रुपिया बचाया जा सकता है जैसे वारबांड (War bonds) कैश सार्टीफिकेटस (Cash certificates) कम्पनियों के हिस्से (Shares)।

३—बीमा कम्पनियाँ—यह पालिसी देती हैं, यह दो प्रकार की होती है।

पहली जीवन पालिसी (Life policy) इसमें जब तक आदमी जीवित रहता है कुछ रुपिया मासिक, त्रैमासिक या वार्षिक जमा करता रहता है इस रुपियों को 'प्रीमियम' (premium) कहते हैं। मृत्यु के पश्चात् एकट्ठा कुल रकम जितनी का बीमा होती है और कुछ लाभ उसके उत्तराधिकारियों को मिल जाता है। दूसरी पालिसी एक निश्चित समय के लिये होती है जिसे (Endowment policy) कहते हैं जो मनुष्य के जीवन में ही मिल जाती है।

४—प्रोवीडेन्ट फंड (Provident Fund) यह नौकरियों में होता है इसमें कुछ रुपिया नौकर अपने वेतन में से जमा करता रहता है और नौकरी समाप्त होने पर उसे एकट्ठा रुपिया मिल जाता है। कहीं-कहीं मालिक की ओर से भी इसमें कुछ जुड़ता जाता है बीमा और प्रावीडेन्टफंड अनिवार्य बचत (Compulsory saving) के तरीके हैं जोड़ना (Hoarding) यह गांवों में अधिक होता है जहां आय से बचा हुआ रुपिया घर में ही रक्खा जाता है। जेवरात के रूप में या जमीन के नीचे। यह सुरक्षित नहीं होता और न इससे कोई आय होती है। बचत से आय होती है। व्यक्ति और समाज का दोनों का लाभ होता है। पर जोड़ने से समाज को कोई लाभ नहीं होता। चोरी का भय रहता है।

प्रश्न

(१) 'उपभोग' और 'उत्पादन' का आर्थिक अर्थ और भेद ठीक २ समझाइये।

(२) आवश्यकताओं का अर्थशास्त्र मे क्या अर्थ और महत्व है ? उनके मुख्य गुण क्या हैं ?

(३) आवश्कताओं के विभाजन को ठीक २ समझाइये।

(४) आय, व्यय और सन्तुष्टि का सम्बन्ध समझाइये।

(५) व्यय के मुख्य नियम क्या है ? उन पर प्रकाश डालिये।

(६) बचत का अर्थ इस शास्त्र में क्या है ? उस से क्या लाभ हैं ? उसके लिये आजकल क्या सुविधाएं है ?

सातवाँ अध्याय

रहन सहन का स्तर या दर्जा

(Standard of living)

यह हम पिछले अध्याय में पढ़ चुके हैं कि प्रत्येक मनुष्य अपनी आय और बुद्धि के अनुसार अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति करता रहता है। और ऐसा एक समय तक करते रहने से उसका एक स्वभाव सा बन जाता है जिसे वह आसानी से बदल नहीं पाता। और जब उसे बदलना पड़ता है तो कुछ कष्ट का भी अनुभव होता है, विशेष कर जब उसे अपनी साधारण आवश्यकताओं में, आय की कमी या व्यय के आधिक्य से, कमी करनी पड़ती है। इन्हीं आवश्यकताओं से जिनका कि वह आदी हो जाता है, उसके रहन-सहन के स्तर का निर्धारण होता है।

अर्थात किसी मनुष्य के रहन सहन के स्तर का अर्थ उन आवश्यकताओं से है जिनको पूरा करने की उसे आदत पड़ गई है।

यों तो प्रत्येक व्यक्ति के परिवार का रहन सहन का स्तर या दर्जा अपना प्रथक-प्रथक होता है पर साधारणतया देखा जाता है कि लगभग एक सी आय वालों का रहन सहन भी लगभग एक ही सा होता है। जैसे हम देखते हैं कि गाँव में जो लोग मजदूरी से जीविका कमाते हैं और जिनकी मासिक आय ५०) रु० से अधिक नहीं होती या जो किसानी और धंधों से ५०) रु० मासिक से अधिक नहीं कमा पाते वे सब क़रीब-करीब एक ही ढंग से रहते हैं या उनका रहन सहन का दर्जा एक ही सा है। वे साधारण आवश्यक आवश्यकताओं की ही पूर्ति कठिनता से कर पाते हैं। एक ही से कच्चे फूस के उनके मकान

होते हैं। एक दो मामूली फटे पुराने वस्त्र पहनते हैं। मोटा नाज खाते हैं कभी दाल से और कभी साग से रोटी खा लेते हैं। कभी-कभी गुड़ खाकर जल पान कर लेते हैं। सफाई और शिक्षा आदि का कोई प्रश्न ही उनके सामने नहीं रहता।

इसी प्रकार शहरों में भी १००) रु० तक मासिक आय वालों को भी हम लगभग एक ही प्रकार से रहते देखते हैं। हां थोड़ा बहुत अन्तर समान आय के पढ़े लिखे और वे पढ़ों में अवश्य दृष्टिगोचर होता है। जैसे १००) रु० मासिक कमाने वाले अपढ़ किसान या बढ़ई और १००) रु० कमाने वाले एक क्लर्क के जीवन में अन्तर दिखाई पड़ता है। किसान भोजन और जेवर पर या सम्मान रक्षक आवश्यकताओं पर या मुकदमें बाजी आदि पर अधिक खर्च करता है। गाय भैंस पालने का उसे शौक और सुविधा होती है। शहर का क्लर्क मकान पर, कपड़ों पर, पढ़ाई पर, नौकर चाकरों पर अधिक खर्च करता है या कुछ आराम की वस्तुओं पर जैसे कुरसी मेंज़, चित्र, सफर, समाचार पत्र और पुस्तकें इत्यादि।

रहन सहन का दर्जा निम्न-लिखित साधनों पर निर्भर है।

१—आय–जितनी अधिक आय होती है उतनी ही अधिक आवश्यकतायें उसके जीवन का अग बन जाती हैं। और जीवन स्तर के ऊँचा होने की सम्भावना बहुत कुछ बढ़ जाती है।

२—व्यय–व्यय करने में जो जितना चतुर होता है वह व्यय से अधिक से अधिक लाभ उठाता है। एक व्यक्ति १०) शराब में खर्च कर देता है दूसरा उस १०) को दूध व घी पर व्यय कर देता है, या एक आदमी ५) रु० मासिक सिनेमा में खर्च करता है दूसरा उसे समाचार पत्र पर खर्च करता है। अतः यह व्यय की चतुरता शिक्षा और बुद्धि पर तथा सामाजिक प्रभावों पर बहुत कुछ निर्भर है।

इस प्रकार समान आय वालों का भी रहन सहन का स्तर व्यय करने की चातुरी के कारण भिन्न हो सकता है। ऐसे भी उदाहरण मिलेंगे जिनमें अधिक आय वाले का जीवन स्तर कम आय वाले से नीचा होगा। बहुत से बनिये और व्यापारियों का यही हाल है। आय उनकी १०००) रु० मासिक है पर वे ठीक से बुद्धिमानी से खर्च नहीं करते। खाद्य पदार्थों या व्याह शादियों में या जेवर में वे आम
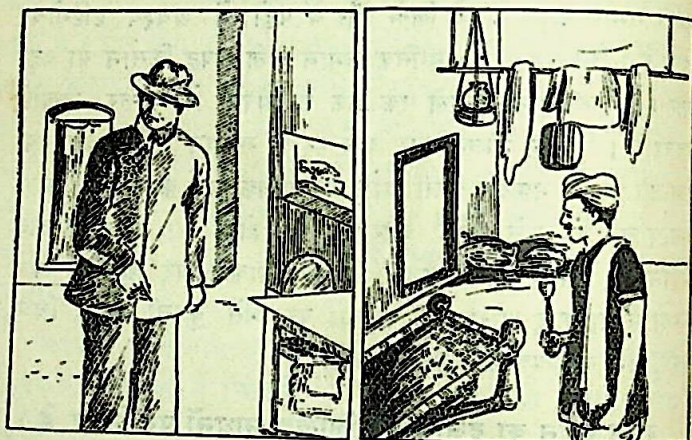
चित्र ६—अंग्रेजी रहन सहन का ऊँचा स्तर   भारतीय रहन सहन का नीचा स्तर

तौर से अधिक खर्च करते हैं या जोड़ते हैं, कला शिक्षा या सभ्यता की आराम के वस्तुओं पर नहीं व्यय करते अतः उनका स्तर उन ५००) मासिक आयवालों की अपेक्षा नीचा कहा जायगा जो अच्छे साफ सुथरे हवादार मकान में रहते हैं, साधारणतया अच्छा और पुष्ट भोजन साफ और मौसम के हिसाब से सभ्य पुरुषों जैसे कपड़े पहनते हैं। कलाओं, ज्ञान वृद्धि; शिक्षा, मनोरंजनों में रुचि रखते हैं। और थोड़ा बहुत बचा भी लेते हैं। यह ठीक है कि बचत इनके पास कम होती है

पर इनका व्यय और बचत उन बनियों के जोड़ने की अपेक्षा व्यक्ति और समाज दोनों के लिये अधिक उपयोगी है। अतः इनके रहन सहन का स्तर उन लोगों से कहीं ऊँचा कहा जायगा।

इस सम्बन्ध में एक बात और विचारणीय है। सब बातें समान होते हुए यदि एक व्यक्ति अपनी निजी या परिवार की आवश्यकताओं पर ही अधिक खर्च करता है। तो उसकी अपेक्षा दूसरे व्यक्ति का रहन सहन ऊँचे दर्जे का कहा जायगा जो अपनी आवश्यकताओं को कुछ कम करके समाज के अन्य सदस्यों की उचित सेवा और सहायता में खर्च करता है।

इसी में उसकी नैतिक अथवा धार्मिक उन्नति का तत्व निहित है, जिस पर हमें रहन सहन के स्तर को निश्चित करने में अवश्य ध्यान देना चाहिये समाज के कल्याण की दृष्टि से इस विचार धारा की उपेक्षा नहीं की जा सकती। पाश्चात्य और पूर्वीय दृष्टि कोण में इस स्थान पर कुछ मूल अन्तर है।

एक बात और है। रहन सहन के स्तर का प्रभाव हमारी कार्य्य कुशलता (efficiency) और उत्पादक शक्ति (productive (capacity) पर भी बहुत पड़ता है, जो मज़दूर शराब बीड़ी सिनेमा आदि पर अपनी आय को अधिक न व्यय करके जीवन-रक्षक निपुणता रक्षक पदार्थों पर अधिक खर्च करेगा जैसे पौष्टिक भोज्य पदार्थ, साफ़ मकान, शिक्षा और स्वच्छता की वस्तुयें, वह अपना कार्य अच्छी तरह से सीखने और उसे कुशलता के साथ करने में अवश्य सफल होगा क्योंकि उसमें शक्ति, स्वास्थ्य, ज्ञान और चरित्र बल सब कुछ होगा। पर जो मजदूर शराब बीड़ी आदि में तथा अन्य दुर्व्यसनों में अपनी आय उड़ायेगा वह रोगी, कमजोर, दुराचारी होगा और अपने काम में जी न लगायेगा न उसे कुशलतापूर्वक कर सकेगा। उसकी आय भी कम हो जायगी और वह मालिक का विश्वास पात्र न रह सकेगा।

अतएव रहन सहन के दर्जे का प्रभाव कार्य कुशलता और उत्पादक शक्ति पर बहुत पड़ता है और उसके द्वारा आय पर। जो अच्छा काम करेगा वह अधिक कमा सकेगा।

भारतीय रहन सहन का स्तर :—

भारत एक अत्यन्त गरीब देश है। यहां की औसत मासिक आय एक व्यक्ति की ४) रु० से अधिक नहीं है। यही कारण है कि यहां की रहन सहन का दर्जा कम से कम ८० प्रतिशत् आदमियों का तो बहुत ही नीचा है।

यहां के ७५ प्रतिशत लोग किसान हैं। जो औरों का पेट तो भरते हैं पर अपना पेट नहीं भर पाते। ऐसे बहुत परिवार गांवों में हैं जो दोनों समय रूखा सूखा भोजन भी नहीं कर पाते, जिन्हें दिन में एक वार भोजन मिल जाना बड़े सौभाग्य की बात है।

हजारों परिवार आम, खरबूजा, शकरकन्द खाकर ही पेट भर लेते हैं, बहुत से केवल चवेना चबाकर ही गुज़र करते हैं। भोजन का तो यह हाल है। इसी प्रकार मकानों को देखिये तो गाँवों में ६० प्रतिशत घर ऐसे हैं जो मिट्टी और घास फूस से बने हैं और जिनमें आदमी और पशु साथ-साथ रहते हैं ; घरों में कोई सामान नहीं है ज्यादातर लोग पैरा बिछाकर जाड़े में और गर्मी में ज़मीन पर ही सोते हैं, कहीं-कहीं चारपाइयां दो एक टूटी फूटी मिलेंगी। दो चार लोहे पीतल के ज़रूरी बरतन और मिट्टी के घड़े और हाड़ियां ही उनकी गृहस्थी है। वस्त्र के नाम पर एक दो बाबा आदम के समय की कथरियां या प्रत्येक व्यक्ति के पास दो चार फटे पुराने गले कपड़े मिलेंगे। जाड़ों की रात में बड़ी देर तक आलाव पर समय कटता है। एक-एक कथरी में पैरे में पशुओं के समान घुसकर रात काट देते हैं।

कुछ सम्पन्न किसानों के पास अधिक धराऊ कपड़े हैं और जिन्हें भोजन भी जैसा तैसा दो बार मिल जाता है। दूध घी यदि होता भी है

तो अधिकतर रुपये के लिये बेच ही दिया जाता है। रोशनी के लिये एकाध मिट्टी की तेल की ढिब्री थोड़ी देर के लिये टिम-टिमा जाती है।

यह है हमारे देश के अधिकतर लोगों का रहन सहन। इतना नीचा दर्जा रहन सहन का कदाचित ही किसी देश के निवासियों का हो।

करीब-करीब यही हाल हमारे उन्नत शहरों में मजदूरों का है। न उसे अच्छा पौष्टिक भोजन मिलता है न पहनने को काफी कपड़े। घरों की शहरों में बहुत कमी है ; अतः कानपुर ऐसे शहर में एक-एक छोटी कोठरी में ८, १० मजदूर भेड़ों की तरह रहते हैं। उसी में वे खाना अलग-अलग बनाते हैं और जाड़ों में उसी में सब सोते हैं, गर्मियों में सड़कों पर किनारे-किनारे एक-एक चारपाई पर दो-दो कभी तीन आदमी सो जाते हैं। बरसात में फिर उसी कोठरी या बरामदे में जमीन पर सो जाते हैं। अधिकतर मजदूर अपना परिवार गांवों में छोड़ जाते हैं क्योंकि वहां रखने का स्थान ही नहीं है। सिवा कारखानों में मेहनत करने और भोजन बनाकर खा लेने और सो रहने में उनके जीवन का कोई भी उद्देश्य नहीं रह जाता। कभी-कभी मनोरंजन के लिये कुछ गाना मिलकर गा लेते हैं या सिनेमा देख लेते हैं, और सप्ताह में मजदूरी मिलने के दिन बहुत से शराब पीकर कुछ मनोरंजन कर लेते हैं। औद्योगिक नगरों में मजदूरों की कुछ खास बस्तियां या (Slums) हो गई हैं जहां वे अधिकतर रहते हैं जो बहुत घनी और गन्दी हैं।

आय कम होने से रहन सहन नीचा होता है, उससे कार्य्यक्षमता या निपुणता कम हो जाती है। और इससे उत्पादकता भी कम हो जाती है। और फ़िर उसके फल स्वरूप आय कम हो जाती है। इन सब कारणों से मज़दूरों में शराबखोरी, जुवा, चोरी, बदचलनी आदि

इन नगरी में बहुत फैल गई है । और उनके शारीरिक और मानसिक पतन के कारण उनका नैतिक और आध्यात्मिक पतन भी ज़ोरों से हो रहा है ।

इससे यह पता चलता है कि हमारी अधिकतर जन सख्या का रहन सहन का स्तर बहुत ही नीचा है । वे बहुत ही कमजोर है और उत्पादन कार्य्य में काफी सहायता नहीं पहुँचा सकते, जिससे हमारे राष्ट्र का आर्थिक और सामाजिक तथा नैतिक और आध्यात्मिक पतन हो रहा है ।

अतः यह आवश्यक है, मानवता की पुकार है कि गांव और शहरों दोनों में जनता के रहन सहन के दर्जे को शीघ्राति शीघ्र ऊँचा उठाया जावे , जिसके कुछ उपाय निम्नलिखित हैं :—

(१). सबसे पहली चीज़ है उनकी आय को बढ़ाना । पर यह एक कठिन और जटिल समस्या है, जो अनेकों समस्याओं से उलझी हुई हैं हमारी सारी आर्थिक समस्याएं ऐसी हैं जिनका कारण और परिणाम ग़रीबी और अज्ञान हैं । अतएव सारी समस्याओं पर एक साथ आक्रमण करने की आवश्यकता है । साथ ही किसानों की समस्या शहरी मज़दूरों की समस्या से कुछ भिन्न प्रकार की है और उसे भिन्न रूपों से सुलझाना होगा इन समस्त समस्याओं का एक कुचक्र (vicious circle) सा बन गया है जिसमें से भंवर में पड़े हुए मनुष्य के समान निकलना बड़ा कठिन है । अज्ञानता, ग़रीबी, और अस्वस्थता रुढ़िया शोषण आदि सभी समस्याएं एक दूसरे से लिपटी हुई हैं । साधारणतया सम्पत्ति के अधिक उत्पादन तथा उसके न्यायपूर्ण वितरण पर व्यक्तिगत आय की वृद्धि निर्भर है ।

अतएव सबसे पहले आय को बढ़ाने के लिये खेती व दस्तकारी की उन्नति में शासन की ओर से सहायता देनी होगी । भूमि में अधिकार देने से, सिंचाई के साधनों की वृद्धि से, पूंजी का प्रबन्ध

करने के और शोषक महाजनों से उनकी रक्षा करने से, बीज, खाद और हल बैलों का और फ़सलें बेचने का प्रबन्ध करने से खेती में आय बढ़ सकेगी।

(२) शिक्षा का सर्वत्र प्रचार करने से भी बहुत कुछ लाभ हो सकता है विलासिता सम्बन्धी बहुत सी फ़िज़ूल खर्ची रोकी जा सकती है और जीवन-रक्षक और कार्य्य क्षमता-रक्षक आवश्यक आवश्यकताओं पर व्यय करने से रहन सहन का दर्जा ऊँचा उठाया जा सकता है। ज्ञान वृद्धि से बहुत सी सफ़ाई की बातें अपने आप आ जाती हैं। स्कूलों में इन सब आवश्यक विषयों के पाठ पढ़ाए जाने चाहिये। सामाजिक शिक्षा का, प्रौढ़ शिक्षा का, स्त्री शिक्षा का उचित और स्थायी प्रबन्ध गाँवों में किया जाना चाहिये। व्यायाम और प्राणायाम तथा ब्रह्मचर्य की शिक्षा भी ग्रामीण स्कूलों में दी जानी चाहिये। हमारी प्रान्तीय सरकार की नई व्यायाम योजना का प्रचार सर्वत्र होना आवश्यक है।

(३) जनसंख्या की वृद्धि को भी रोका जाना चाहिये क़ानूनी और नैतिक तरीक़ों से। कम बच्चों का भरण पोषण कम आय में अच्छा हो सकता है ज़्यादा का नहीं। ब्रह्मचर्य से पवित्र जीवन बिताने के लिये पाठ पढ़ाएँ जाने चाहिये। विवाह बाल्यावस्था में न करके प्रौढ़ावस्था में होने चाहिये।

(४) वस्तुओं के बढ़ते हुए मूल्य पर नियन्त्रण (Control की अभी आवश्यकता है क्योंकि जब तक वस्तुओं का मूल्य कम न होगा और रुपिये का मूल्य न बढ़ेगा, सीमित आय से बढ़ती हुई आवश्यकताओं का पूरा करना और जीवन स्तर को उठाना सम्भव नहीं। चोर बाज़ार की रोक थाम भी ज़रूरी है।

(५) पुराने और नये ऋणों का बोझ भी किसानों पर बहुत हो गया है, जिसके कारण गरीबी बहुत बढ़ गई है और रहन सहन

नीचे दर्जे का हो गया है। सरकार को सहकारी आन्दोलन को और उपयोगी बनाने का प्रयत्न करना चाहिये और महाजनों पर अधिक नियन्त्रण होना चाहिये।

(६) अच्छे और स्वस्थ घरों के बनवाने का प्रबन्ध गाँवों और शहरों दोनों में होना चाहिये। सरकार और मिल मालिकों को मिलकर यह काम करना चाहिये।

(७) ज़मींदारी उन्मूलन शीघ्र होना चाहिये। इससे किसानों की आय स्वतः बढ़ जायगी और दृष्टिकोण भी बहुत कुछ बदल जायगा इन सब उपायों से रहन सहन का दर्जा ऊँचा किया जा सकता है।

प्रश्न

(१) रहन सहन के दर्जे का अर्थ ठीक २ समझाइये। भारत के निवासियों के रहन सहन के ऊपर एक नोट लिखिये।

(२) अधिक आय या अधिक व्यय से रहन सहन का दर्जा उठाया जा सकता है। इस विचार से आप कहां तक सहमत है ?

(३) किसानों के रहन सहन का दर्जा क्यों नीचा कहा जाता है ? उसे कैसे ऊंचा किया जा सकता है ?

(४) किसानों के रहन सहन के दर्जे को उठाने में सरकार क्या कर सकती है।

आठवां अध्याय

पारिवारिक बजट

(Family Budget)

गत अध्याय में आय-व्यय के सम्बन्ध में एक नियम यह बताया गया है कि मनुष्य को अपनी आय को इस प्रकार से व्यय करना चाहिये कि उसको अधिक से अधिक सन्तुष्टि और सुख प्राप्त हो सके और वह जभी हो सकता हैं जब आय को पहले सबसे ज़रूरी, फिर कम ज़रूरी और फिर सबसे कम जरूरी वस्तुओं पर व्यय किया जाय।

यह नियम बनाना तो आसान है पर इसको काम में लाना अत्यन्त कठिन है। यों तो प्रत्येक मनुष्य स्वयम् ही यह निर्णय करता है कि उसके लिये सब से अधिक जरूरी चीज़ें कौन है और सिलसिलेवार कम जरूरी चीजें कौन हैं। या उसके लिये लाभदायक या हानिकारी वस्तुयें कौन हैं। पर साधारणतया देखा जाता है कि लोग अपने अपने दृष्टिकोण के अनुसार इस नियम का उल्लंघन प्रायः किया करते हैं और वेकार चीजों को या हानिकारक चीजों को अपनी दुर्बुद्धि या कम बुद्धि के कारण बहुत जरूरी समझ बैठते हैं और रुपिये का दुरुपयोग करने लगते हैं और अपव्यय कर बैठते हैं। जैसे एक गरीब यही सोचता है कि शराब उसके लिये घी दूध और बच्चों की शिक्षा आदि से

कहीं अधिक जरूरी है और उस पर वह आय का एक बड़ा भाग व्यय कर डालता है। अतः यदि ऐसे लोगों के लिये एक सुझाव दे दिया जाय या व्यय की लाभदायक दिशाओं का कुछ संकेत और निर्देश कर दिया जाय तो शायद वे उससे लाभ उठा सकें और अपने जीवन को सुधार कर रहन सहन के दर्जे को अच्छा बना सकें।

पारिवारिक बजट

ऐसे समय में अच्छे पुरुषों या बुद्धिमान परिवारों के बजट बहुत काम दे सकते हैं। इसलिये अर्थशास्त्र में इन पारिवारिक बजटों का एक विशेष मूल्य है। उनके अध्ययन से बहुत सी बातें मालूम होती हैं और अपने देश और समाज का बहुत कुछ आर्थिक ज्ञान प्राप्त होता है।

पारिवारिक बजट क्या है ?

एक परिवार के किसी निश्चित काल के आय-व्यय विवरण या ब्योरे को 'पारिवारिक बजट' कहते हैं। इसके साधारणतया चार अंग होते हैं :—

१—परिवार के लोगों का और उनकी आय का सविस्तार वर्णन।

२—व्यय का कोष्ठ बद्ध क्रमानुसार विस्तारपूर्वक विवरण।

३—इस व्यय के ऊपर की हुई समालोचना या टिप्पणी और सुधार का संकेत।

४—ग्राफ़ पेपर पर बजट के मुख्य तत्वों का चित्रण, जिस पर दृष्टिपात करते ही यह पता चल जाय कि अमुक आवश्यकता या वस्तु पर कितना और किस अनुपात से व्यय किया गया है। इस प्रकार

जब कई बजटों का साथ-साथ चित्रण किया जाता है तो उन परिवारों का तुलनात्मक आर्थिक अध्ययन भी सरलता से हो जाता है।

पारिवारिक बजट से अनेकों लाभ हैं जो नीचे दिये जाते हैं :—

१—इसके द्वारा एक परिवार सम-सीमान्त उपयोगिता नियम का अपने व्ययक्रम में पालन कर सकता है, अर्थात् प्रत्येक व्यय की मद में अधिक से अधिक लाभ उठा सकता है।

२—इससे उसे यह ज्ञात हो जाता है कि कौन सा व्यय अनावश्यक रहा है, उसे वह रोक सकता है या कम कर सकता है और इस प्रकार मितव्ययता या किफायतशारी का पाठ सीखता रहता है।

३—एक स्थान या जाति के बहुत से बजटों के अध्ययन से उस स्थान के निवासियों या उस जाति के सदस्यों के रहन सहन के स्तर का ज्ञान हो सकता है।

४—सरकार को बजटों के अध्ययन से यह पता चलता है कि किन-किन विषयों पर अपव्यय हो रहा है अथवा कौनसी वस्तुओं के उपभोग से समाज की हानि हो रही है। उन पर कर लगाकर उनका उपभोग कम किया जा सकता है या बन्द किया जा सकता है, जैसे नशे की वस्तुओं की बिक्री कांग्रेस सरकार ने कई प्रान्तों के कई जिलों में बन्द कर दी है। यह बड़ा भारी सुधार का कार्य है, जिसके लिये हम सरकार के ऋणी रहेंगे।

५—इससे यह भी पता चलता है कि आय का कितना प्रतिशत बचत में जाता है या बचता है। बचत का बढ़ाना भी व्यक्ति और समाज दोनों के लिये जरूरी है। इसीसे पूँजी बनती है और उससे उत्पादन बढ़ता है।

६—इनका अध्ययन करके और अन्य देशों से मुकाबला करके देश को उन्नति के पथ पर ले जाया जा सकता है।

७—इन बजटों के आधार पर ही 'उपभोग' के बहुत से नियम स्थिर किये गये हैं। इस प्रकार उनके अध्ययन से अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों को अपने इस शास्त्र का आधार बहुत कुछ समझ में आ जाता है।

जब पारिवारिक बजट से इतने लाभ हैं तो विद्यार्थियों को भी अपना बजट रखना चाहिये और अपने परिवार के मुखिया से उनके रखने का अवश्य अनुरोध करना चाहिये।

साथ ही विद्यार्थियों को किसानों, मजदूरों, कारीगरों तथा अन्य गृहस्थों के बजट बनाना भी चाहिये।

पूर्व इसके कि हम बजट बनाने की विधि का अध्ययन करें हम अर्थशास्त्र के एक प्रख्यात नियम—एँजिल्स नियम (Engles law of consumption) का अध्ययन करेंगे, जो पारिवारिक बजटों को ही अध्ययन करके निर्धारित किया गया है।

एँजिल का उपभोग नियम

(Englis law of Consumption)

अर्थशास्त्र में इस प्रकार का उपभोग से सम्बन्ध रखनेवाला नियम सबसे पहले जर्मनी के अर्थशास्त्रज्ञ डा० एञ्जिल (Dr. Engle) ने निकाला था। उन्होंने जर्मनी के सेक्सनी प्रान्त के बहुत से श्रमिक परिवारों के बजट एकत्रित किये और उनका अध्ययन करके निम्नलिखित नियम स्थापित किये :—

(१) जैसे परिवार की आय बढ़ती है भोजन पर कुल व्यय का प्रतिशत घटता है।

(२) जैसे परिवार की आय बढ़ती है वस्त्र, निवास तथा ईंधन और प्रकाश पर कुल व्यय का प्रतिशत् समान रहता है।

(३) जैसे परिवार की आय बढ़ती है शिक्षा, मनोरंजन, स्वास्थ्य आदि पर कुल व्यय का प्रतिशत् बढ़ता है।

यह तीनों नियम निम्नलिखित आंकड़ों पर आधारित हैं :—

व्यय की मद	निर्धन परिवार	मध्यश्रेणी का परिवार	उच्चश्रेणी का परिवार
भोजन —	६०%	५५%	५०%
वस्त्र —	१८%	१८%	१८%
घर —	१२%	१३%	१२%
रोशनी व ईंधन—	५%	५%	५%
शिक्षा, मनोरंजन स्वास्थ्य आदि	५%	१०%	१५%

पारिवारिक बजट बनाने का तरीका

पहले परिवार और उसकी कुल आय का सविस्तार वर्णन कर देना चाहिये, उसके पश्चात् एक समय के कुल व्यय को मुख्य-मुख्य आठ नौ विषयों में बांट लेना चाहिये जैसा कि नीचे के नक़शे में दिखाया गया है। फिर प्रत्येक विषय या आवश्यकता को लेकर उसका सविस्तार अध्ययन करना चाहिये और जिन-जिन वस्तुओं और सेवाओं

भारतवर्ष में भी पारिवारिक बजटों का अध्ययन किया गया है। और एञ्जिल का नियम यहां बहुत कुछ सिद्ध प्रमाणित हुआ है। वस्त्र तथा घर की आवश्यकतायें भारत में पाश्चात्य देशों से कुछ भिन्न हैं पर अन्य सब मदों में एञ्जिल का नियम लागू होता है।

या कार्यों पर व्यय किया गया हो वह नियमित रूप से उसमें लिखना चाहिये।

साधारणतया लोग और खास तौर पर अपढ़ लोग अपने आय व्यय का कोई ब्योरा या हिसाब नहीं रखते। दूसरें अपने घर की बातें बताने में उन्हें संकोच होता है। अतः उनसे मैत्री करके और बड़ी सहानुभूति और बुद्धिमता से उनसे ज़रूरी बातें पूछनी चाहिये। वह बहुत कुछ ग़लत बताने पर अपनी बुद्धि और उनकी परिस्थिति और बाज़ार भाव आदि देखकर कुछ ठीक कर लेना चाहिये।

नमूने के लिये नीचे एक किसान परिवार का मासिक उपभोग बजट दिया जाता है।

परिवार के मुखिया का नाम और पूरा पता पं० जगदम्बा प्रसाद, अयोध्या।

आयु

उसके सदस्यों की संख्य और आयु — पुरुष–१–४५ वर्ष

स्त्री–१–४० वर्ष

बच्चे बालक–१–१२ वर्ष

बालक–१– ८ वर्ष

परिवार की जाति और पेशा — बालिका–१– ५ वर्ष

ब्राह्मण–खेती और पूजा पाठ

आय के स्रोत········खेती से········५०) रु०

नौकरी से········३०) रु०

अन्य खेतों से········२०) रु०

कुल आय········१००) रु०

बजट का निश्चित काल ········मार्च–१९५०

परिवार की आर्थिक स्थिति की कुछ व्याख्या—इस परिवार के पूर्वज श्री अयोध्या जी में मन्दिरों के पुजारियों का कार्य करते थे और अब

भी करते हैं। कुछ भूमि उन्हें राजा ददुआ के समय में दान में मिली थी, वह दो परिवारों में बट गई। इस परिवार के पास १½ बीघा भूमि है।

आगामी पृष्ठ पर बजट का व्यय सम्बन्धी पूरा ब्योरा दिया जाता है। मेरे विचार में बजट बनाने की यह विधि सर्वोत्तम है।

अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों को पारिवारिक बजट किसान, कारीगर और मजदूर परिवारों के अवश्य एकत्रित करके बनाना चाहिये ठीक इसी विधि से जैसी की इस नमूने के बजट में दिखाई गई है। इसमें कुछ परिश्रम करना चाहिये। झूठे और मन गढ़त आंकड़े नहीं देना देना चाहिये। ऐसा करने से सत्य का गला घोंटना होगा और देश की ठीक-ठीक आर्थिक स्थिति का पता न चलेगा।

सत्य की खोज प्रत्येक शास्त्र और उसके अध्ययन करने वालों का मुख्य उद्देश्य है।

श्री० पं० जगदम्बा प्रसाद (किसान) का मार्च १९५० का

उपभोग बजट

(Budget of Consumption March 1950)

उपभोग के विषय	पूर्ण व्यय	कुल व्यय का प्रतिशत	सविस्तार व्याख्या				
			वस्तु	मात्रा या संख्या	दर	व्यय	व्याख्या
१—भोजन	रु.आ.पा. ५२।=)	४८·०	गेहूं	३० सेर	ऽ२½ प्रति रु०	१२—०—०	यह सब पदार्थ घर की खेती की उपज हैं, उनपर व्यय बाजार के भाव से दिखाया गया है।
			जौ	७ "	ऽ३½ " "	२—०—०	
			चना	७ "	ऽ३½ " "	२—०—०	
			चावल	६ "	ऽ१½ " "	६—०—०	
			अरहर	१० "	ऽ२ " "	५—०—०	
			उरद	३ "	ऽ२ " "	१—८—०	

			शक्कर	२½ सेर	ऽ१ प्रति रु०	२—८—०	यह सारी वस्तुएं ग्राम या शहर की बाजारों से मोल ली गई हैं।
			गुड़	५ ,,	ऽ२ ,, ,,	२—८—०	
			घी	१ ,,	५) रु० सेर	५—०—०	
			तेल	२ ,,	१) ,, ,,	२—०—०	
			निमक	२ ,,	≡) ,,	०—६—०	
			कुल मसाला	—	—	१—०—०	बच्चों द्वारा कभी २ कई पदार्थ जैसे फल, मिठाई, चाट आदि समय पर उपभोग में आई हैं।
			तरकारी	—	—	६—०—०	
			अन्य	—	—	४—०—०	
					कुल व्यय	५२—६—०	
२—कपड़ा व जूता	१५—८—०	१३·५	वस्तु	संख्या	व्यय		
			क़मीज	१	३—०—०		
			कुरता	१	३—०—०		
			धोती	एक जोड़ा	६—०—०		
			जूता	,,	३—८—०		
				कुल व्यय	१५—८—०		

उपभोग के विषय	व्यय	कुल व्यय का प्रतिशत	व्यय की सविस्तार व्याख्या
३—मकान	रु० आ० पा० ६—०—०	५.०	मकान किराए का है। इसका किराया ६) मासिक है। बहुत ही साधारण कच्चा घर है, कुवाँ घर के बाहर है। इसलिये पानी का कष्ट रहता है। मरम्मत ठीक न होने से बरसात में भी परिवार को कष्ट रहता है। सुविधा यह है कि खेतों से निकट है।
४—ईंधन व प्रकाश	११—०—०	६.५	वस्तु — मात्रा — भाव — व्यय लकड़ी — ६ मन — १½ मन प्रति रु० — ६—०—० मिट्टी का तेल — ८ बोतल — ।) बोतल — २—०—० कुल व्यय ११—०—०

५—सेवाएं	६—८—०	५·०	चौका बर्तन करनेवाली	४-०-०	एक स्त्री घर का चौका बर्तन झाड़ू पानी आदि दिन में दोनों समय करती है।
			धोबी	१—४—०	देहात का धोबी कपड़े धोता है — इससे कुछ सस्ता पड़ता है।
			नाई	०—१२—०	
			भंगी	०—८—०	
			कुल व्यय	६—८—०	
६—शिक्षा व स्वास्थ्य	८—०—०	७·०	स्कूल फीस	५—४—०	एक बालक महाराजा स्कूल अयोध्या में नवीं कक्षा में पढ़ता है।
			कापियाँ आदि	२-४—०	इस मास में कुछ कापियाँ, ड्राइंग बक्स आदि खरीदा गया।
			दवा	०—८—०	स्त्री कुछ अस्वस्थ हो गई थी उसके लिये वैद्य जी से कुछ औषधि लाई गई थी।
			कुल व्यय	८—०—०	

उपभोग के विषय	व्यय	कुल व्यय का प्रतिशत			व्यय की सविस्तार व्याख्या
७ -मनोरंजन धार्मिक व सामाजिक व्यय	१० - ४—०	८ ५%	होली	५—०—०	होली एक विशेष त्यौहार है। इस पर कुछ पकवान मिठाई के खिलौने, खीलें, अबीर गुलाल, रंग इत्यादि में व्यय
			दान व पूजा व्यय	२—८—०	इस मास में देवी जी की एक विशेष वार्षिक पूजा होती है।
			सिनेमा	१—४—०	होली में सब बच्चे सिनेमा देखने फैजाबाद गए थे।
			पान तम्बाकू	१—८—०	स्त्री व पुरुष पान व तम्बाकू का सेवन करते हैं।
			कुल व्यय	१०—४—०	

८—अन्य खर्च	४—४—०	३.५	यात्रा २—०—० पंडित जी २ दिन के लिये गोंडा गये। डाक ०—४—० अतिथि सत्कार २—०—० कुल व्यय ४—४—०
९—बचत	— — —		व्यय इस मास में आय से कुछ अधिक हुआ। इसलिये बचत का कोई प्रश्न ही नहीं है। आमतौर से ऐसा ही होता है। साल भर में शायद किसी मास में कभी कुछ बचत हो जाय।
मार्च १९५० का कुल व्यय	११३—१४—०	१.०%	

इस बजट पर टिप्पणी—

सब से पहली बात जो हम इस बजट में देखते हैं वह यह है कि परिवार की आय का अनुमान तो १००) प्रतिमास का लगाया गया है पर व्यय इस मास में और अन्य मासों में भी इससे साधारणतया अधिक ही होता है। यही कारण है कि वर्ष भर में परिवार के ऊपर लगभग १००) १५०) का ऋण लदा ही रहता है जो वास्तव में कष्टदायक और चिन्ता की बात है।

दूसरी बात जो हम देखते हैं वह यह कि परिवार में दूध का बिलकुल उपभोग नहीं होता और घी भी बहुत कम। महीने भर में एक सेर घी का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ यह है कि आधी छँटाक रोज़ का औसत पड़ा। आधी छँटाक घी में ५ व्यक्तियों के लिये दिन भर में प्रयोग करना नहीं के बराबर है। अतः कोई पौष्टिक पदार्थ किसी को नहीं मिलता। यह दुःख की बात है। दूध घी तो विद्यार्थियों और बच्चों का जन्म सिद्ध अधिकार है पर वह उन्हें नसीब नहीं होता। गाय तो इस खेतिहर परिवार में आसानी से रक्खी जा सकती थी पर न जाने क्या विशेष कारण है जो इसमें एक भी गाय नहीं है।

शायद गाय मोल लेना इस समय बहुत कठिन हो रहा है। क्योंकि कहीं से भी कोई बचत की सूरत नहीं है। एक साधारण २ सेर दूध वाली गाय का दाम भी इस समय १००) रु० से कम नहीं है।

कपड़े पर १५॥) इस मास में होली के त्योहार के कारण विशेष रूप से खर्च किया गया है। अन्यथा कपड़ा मोल लेना भी बहुत कठिन है। इसीलिये बच्चों के पास भी साफ़ कपड़े नहीं हैं। इतना कपड़ा भी नहीं है जो हफ़्ते में भी एक बार धुलवाया जा सके। धोबी का १।) महीने भर में धुलाई दी गई हैं जिससे जान पड़ता है कि अधिक से अधिक मास भर में केवल दो बार कपड़े धुलने गये हैं।

जिसमें एक धुलाई में ।|=) देना पड़ा होगा। इसका अर्थ यह है कि कुल १०, १२ कपड़ों से अधिक नहीं दिये गये साथ ही पंडित जी को और बड़े लड़के वो कुछ अधिक साफ़ कपड़ों की आवश्यकता रहती हैं क्यों-कि उन्हें बाहर जाना पड़ता हैं। इसलिये उन्हीं के कपड़े विशेष रूप से धुलने जाते होंगे स्त्री और बच्चों के कपड़े घर में ही धोए जाने चाहिये। पर शायद धोए नहीं जाते क्योंकि छोटे बच्चे प्रायः मैले ही वस्त्रों में देख जाते हैं और गन्दे रहते हैं। बच्चे और गृहणी प्रायः बीमार भी रहते हैं।

घर भी बहुत छोटा है पर धुला हुआ है। किराए का होने से मरम्मत भी ठीक नहीं होती है। खपरैल और छप्पर वर्षा में टपकते रहते हैं। पंडित जी कभी २ कुछ खर्च करके मरम्मत करवाते हैं फिर भी पुराना होने से कुछ अधिक लाभ नहीं होता। मालिक मकान नए छप्पर या खपरैल उलटाने में व्यय नहीं करना चाहता। पंडित जी चाहते हैं कि वह उन्हें नया बनवावें पर किराए में न कटेगा इससे साहस नहीं करते। सेवाओं में भी कुछ अधिक परिवर्तन नहीं हो सकता। गृहणी के अस्वस्थ रहने के कारण चौका बर्तन का सारा भार उस पर नहीं डाला जा सकता। शिक्षा का व्यय भी दिन पर दिन बढ़ रहा है। लड़की के ब्याह की भी फिकर अभी से है।

फ़ैज़ाबाद शहर के दो परिवारों के उपभोग बजटों का तुलनात्मक अध्ययन। उनकी आय लगभग समान ही है।

व्यय के विषय	१ पोस्टल क्लर्क का परिवार		२ एक किसान का परिवार	
	व्यय	प्रतिशत	व्यय	प्रतिशत
	रु० आ० पा०		रु० आ० पा०	
१—भोजन	४६—३—३	४१%	५२—६—०	४८%
२—कपड़ा	१६—४—०	१६%	१५—८—०	१३·५%
३—मकान	६-१४—०	६%	६—०—०	५%
४—ईंधन व प्रकाश	१२—०—०	१०%	११—०—०	६·५%
५—शिक्षा व स्वास्थ्य	१२-१५—०	१२%	८—०—०	७%
६—सेवाएं	१२—७—०	१०%	६—८—०	५%
७—धार्मिक व सामाजिक व्यय	४—४—०	३%	१०—४—०	८·५%
८—अन्य व्यय	३—०—०	२%	४—४—०	३·५%
९—बचत	×	×	×	×
कुल	११६—१५—३	१००%	११३—१४—०	१००%

प्रश्न

(१) पारिवारिक बजट का क्या अर्थ है? उससे क्या लाभ हैं?

(२) पारिवारिक बजट के मुख्य अंग क्या हैं? इसके निर्माण पर एक नोट लिखिये।

(३) एक किसान और मजदूर के बजटों की तुलना कीजिये।

उपर्युक्त दोनों बजटों के प्रतिशतों का ग्रैफिक प्रदर्शन

बायाँ बजट	मद	दायाँ बजट
२%	अन्य	३.५%
३%	धार्मिक व सामाजिक	८.५%
१०%	सेवाएं	५%
१२%	शिक्षा व स्वास्थ्य	७%
१०%	ईंधन प्रकाश	८.५%
६%	घर	५%
१६%	कपड़ा	१३.५%
४१%	भोजन	४९%

चित्र १०
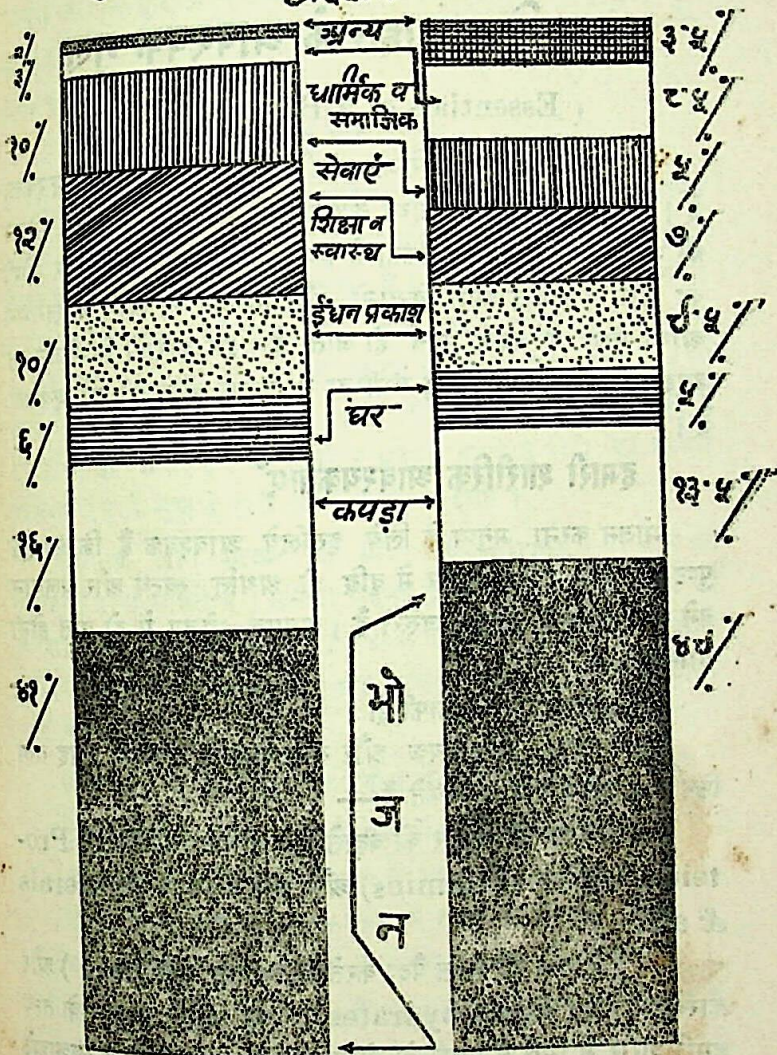
नवां अध्याय

सन्तुलित आहार के आवश्यक गुण

(Essentials of a Balanced Diet)

आहार या भोजन हमारे जीवन की सब से आवश्यक आवश्यकता है। जीवन की रक्षा और कार्य्य कुशलता के लिये एक संतुलित भोजन की मनुष्य को सदैव आवश्यकता है। आहार के ऊपर अधिकतर लोगों का और स्वास्थप्रद हमारे किसानों और मज़दूरों की आय के लगभग आधा भाग आजकल खर्च हो जाता है। इन कारणों से भोजन या आहार के विषय में भी कुछ गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है।

हमारी शारीरिक आवश्यकताएँ

भोजन करना मनुष्य के लिये इसलिये आवश्यक हैं कि वह हृष्ट पुष्ट रहे और उसके शरीर में वृद्धि हो, अर्थात् स्वस्थ और बलवान बने रहने के लिये आहार ज़रूरी है। अतएव भोजन में दो बातें होनी चाहिये :—

(१) उसकी मात्रा काफी हो।

(२) उसमें शक्तिदायक और स्वास्थ्यवर्धक तत्व हों। यह तत्व फिर दो भागों में बांटे जा सकते हैं:—

(१) वे तत्व जो शरीर को बढ़ाते हैं, अर्थात् प्रोटीन (Protein) विटामिन (Vitamins) और खनिज पदार्थ (minerals & acids)

(२) वे तत्व जो शक्ति पैदा करते है; अर्थात् चर्बी (fats) और कारबोहाईड्रेट (Carbohydrates) यह दोनों प्रकार के तत्व हमारे शरीर में भिन्न २ प्रकार के भोज्य पदार्थों द्वारा भिन्न २ मात्राओं

में पहुँचा करते हैं, पर यदि भोजन काफी न हुआ और उसमें सब उपर्युक्त तत्व न हुए तो न हमारा स्वास्थ्य ठीक रहेगा और न हम में शक्ति होगी। फलतः हम रोगी और कमज़ोर रहेंगे और हम अच्छा और शीघ्र काम भी न कर सकेगें।

भोजन की मात्रा

सबसे पहला प्रश्न इस सम्बन्ध में यह उठाता है कि हम कितना भोजन करें ? इसका साधारण उत्तर यह हो सकता है कि इसको निश्चय करने की क्या आवश्यकता है। जिसको जितनी भूख होगी वह उतना खाएगा। पर यह उत्तर ठीक नहीं। वास्तव में जो जितनी आदत डाल लेता है वह उतना खाता है और तृप्त रहता है। जो आदमी ४ रोटी खाने की आदत डाल लेता है उसकी भूख उतने में ही शान्त हो जाती है। जो धीरे २ प्रयत्न करके ६ रोटी की आदत डालेगा उसकी भूख ६ रोटी खाने से शान्त होगी।

वैज्ञानिक लोग भोजन की मात्रा (Calories) या ताप की इकाइयों द्वारा नापते हैं। उनका कहना है कि एक साधारण पुरुष को जो शारीरिक श्रम न करता हो २४०० कलोरीज प्रति दिन खाना चाहिये। और काम के साथ २ इस संख्या में भी वृद्धि करते जाना चाहिये।

निम्न भांति से कैलोरीज़ का प्रयोग होना चाहिये —

हलके काम के लिये—७५ कैलो० प्रति श्रम घंटा के लिये।
साधारण काम के लिये —७५ से १५० " "
कठिन काम के लिये —१५० से ३०० " "
बहुत कठिन काम के लिये—३०० या अधिक " "

हमारा देश कृषि प्रधान है और शारीरिक परिश्रम काफी करता है, पर यहाँ की जलवायु प्रधानतः गर्म है और अधिकतर लोग मांसाहारी

नहीं है, शाकाहारी हैं, इसलिये एक साधारण किसान या मज़दूर को २५०० से २६०० कैलोरीज़ प्रतिदिन लेना चाहिये।

किसी डाक्टर की सहायता से या पुस्तक से हमें यह जान लेना चाहिये कि किस भोज्य पदार्थ से कितनी कैलोरीज़ मिलती हैं और उसी के अनुकूल अपने भोजन के पदार्थ और मात्रा निश्चित कर लेना चाहिये।

भोजन के तत्व (शरीर वर्धक)

मात्रा पर विचार करने के बाद अब भोजन के तत्वों पर भी भी विचार करना चाहिये। शरीर वर्धक तत्व हैं (१) प्रोटीन (२) विटामिन और (३) खनिज पदार्थ।

(१) प्रोटीन (Protien)

यह तत्व शरीर को बनाने वाला है। उसके मज्जा-तन्तुओं (tissues) को बनाता है। यह शक्ति भी देता है, दूध, दही, मछली, गेहूं, चना, चावल, दाल आदि में प्रोटीन काफी होती है। चोकर में प्रोटीन बहुत होता है। पत्तीदार, जड़दार तरकारियों और फलों में भी यह तत्व काफ़ी पाया जाता है। प्रौढ़ों से बच्चों के लिये यह अधिक आवश्यक है। उनकी हड्डियाँ इसी से बढ़ती हैं।

(२) विटामिन या जीवन सत्व

इन तत्वों की आधुनिक खोज से भोजन शास्त्र में एक क्रान्ति सी मच गई है। यह तत्व हमारे साधारण भोजन में मौजूद रहते हैं पर हम उनको प्रयोग करने के स्थान में नष्ट करते हैं। जहां तक हो सके हमें इनका प्रयोग करना चाहिये और उनकी रक्षा करनी चाहिये। जैसे कच्ची तरकारी में तत्व काफ़ी होते हैं, उबली तरकारी में उससे कम और भुनी तरकारी में बिलकुल नहीं होते।

जीवन सत्व 'ए' (Vitamin A)

यह फेफड़ो, आंतड़ियों, पेट और आँखों के लिये अत्यन्त लाभदायक है, दूध, दही, मक्खन, घी, पनीर, अंडे और मछली में यह बहुत होता है। पत्तीदार भाजी में जैसे पालक, सैजन की फली, बन्द गोभी, करम कल्ला, पके फलों में जैसे आम, पपीते, टमाटर, नारङ्गी, यह तत्व यथेष्ट मात्रा में पाया जाता है। हमारे भोजन में इसकी कमी रहती है। इसे बढ़ाना चाहिए।

जीवन सत्व बी' (Vitamin B)

यह तत्व पाचन शक्ति को ठीक रखता है और भूख बढ़ाता है। मस्तिष्क के लिये बहुत लाभदायक है और मांस पेशियों (Muscles) को शक्ति देता है। यह अनाज, दाल, फल, भाजी, दूध, अंडों में बहुतायत से पाया जाता है। यह बेरी-बेरी नाशक (Anti-beri beri vitamin) तत्व के नाम से भी जाना जाता है।

जीवन सत्व 'सी' (Vitamin C)

इस तत्व से रुधिर शुद्ध होता है, दाँत और हाड़ पुष्ट होता है। ताजे फली और हरी पत्तीदार तरकारियों में बहुत होता है। नीबू, सन्तरा, अनार, टिमाटर आदि में भी यह काफ़ी मिलता है। तरकारी जब सूख जाती है या बासी हो जाती है तो यह तत्व भी नष्ट हो जाता है। फल और पत्तीदार तरकारी खाने से यह पर्याप्त प्राप्त हो सकता है।

जीवन सत्व 'डी' (Vitamin D)

यह दाँतों और हड्डियों के लिये अकसीर है। यह तत्व सूर्य की किरणों से उत्पन्न होता है। धूप में बैठने से यह काफी मिल सकता हैं। दूध, घी, अंडा, मछली के तेल (Cod Liver Oil) में यह काफी मिलता है।

(३) खनिजदार पदार्थ (Mineral and acid)

कैलशियम (Calciums)

यह पदार्थ हड्डियों को बढ़ाता है। दांतों को स्वस्थ रखता है। यह दूध, दही, पनीर और हरी पत्तीदार तरकारियों में और चूने में होता है।

फासफोरस (Phosphorous)

यह रक्त वर्धक हैं और मांसपोशियों की वृद्धि करता है। अनाजों दालों में, दूध, सोयावीन, सलाद और गाजर में काफ़ी मिलता है।

लोहा (Iron)—खून को बनाने के लिये लोहे की आवश्यकता होती है। जब खून की कमी हो जाती है या (Anemia) हो जाता है तब इस पदार्थ को बहुत जरूरत होती है। अनाज उरद व मूँग मसूर की दालों में और मांस में लोहा यथेष्ट होता है, तरकारियों में कम।

भोजन के तत्व (शक्ति वर्धक)

यह तत्व दो प्रकार के हैं। चर्बी (Fats) और कारबोहाइड्रेट्स (Carbohydrates)

चरबी (Fats)—चर्बी शक्ति और बल उत्पन्न करती है अतः यह बहुत लाभदायक चीज है। यह मनुष्य को रोग से बचाती है।

यह घी, मक्खन, तेल और मछली के तेल में मिलती है। जानवरों की चर्बी घी, मक्खन में (Vitamin A) रहता है।

और देशों में गाय, बैल, सुअर और बकरे की चर्बी सीधे-सीधे इस्तेमाल की जाती है पर भारत में घी, मक्खन, तेल के रूप में ही खाई जाती है। जीवों की हिंसा न करके वल्कि उनका पालन करते हुए उन्हीं की उपज से।

(Carbohydrates) कारबोहाइडे्ट :—

शरीर के विशेष शक्ति देने वाले यही तत्त्व है। शहद, गन्ना, गुड़, चीनी, शकर में तो यह तत्त्व विशेष रूप से पाया जाता है। साबूदाने में भी यह पाया जाता है। पर अधिक शकर या मीठे का प्रयोग हानि-कारक सिद्ध होता है, अतएव मीठा थोड़ा ही खाना चाहिये। गांवों में गुड़ खाकर पानी पीने और भोजनोपरान्त कुछ गुड़ या शकर खाने का रिवाज है। यह लाभदायक है।

संतुलित भोजन का निश्चय

हमें अपने भोजन को निश्चित् करते समय उपर्युक्त बातों का ध्यान रखना चाहिये। हमें यह दिखाना चाहिये कि हमारे भोजन में यह सब आवश्यक तत्व यथेष्ट मिल जाते हैं और भोजन की मात्रा भी इतनी है कि २४०० से २६०० तक कैलोरीज़ हमें दिन भर में मिल जाती है। भोजन को ठीक से पचाने के लिये और कैलरीज़ बढ़ाने के लिये हमें कुछ शारीरिक परिश्रम भी करते रहना चाहिये और अधिक भोजन पचाने का अभ्यास करना चाहिये। हम लोग जो आहार लेते हैं वह किसी नियम पर अवलम्बित नहीं है वरन् तीन दृष्टि-कोणों से निश्चित होता हैं। अर्थात् कुछ भोज्य पदार्थ तो हम परम्परा और रीति रिवाज के अनुकूल खाते हैं जैसे रोटी, दाल, चावल भुनी हुई तरकारियां आदि कुछ घी और दूध। कुछ भोजन हम फैशन के लिये करते हैं जैसे चाय, काफ़ी इत्यादि, और कुछ स्वाद के लिये जैसे खूब भुना हुआ मांस, जरदा, पुलाव खीर हलवा आदि। बहुत से लोगों को हरी पत्ती वाली तरकारियां या साग या दूध पसंद नहीं हैं, जो बहुत ही लाभदायक वस्तुयें हैं। आजकल बच्चे और प्रौढ़ भी दूध के स्थान में खूब गहरी काली चाय पसंद करने लगे हैं। यह सब प्रवृत्तियाँ और रुढियां राष्ट्रीय स्वास्थ्य और बल की दृष्टि से भयानक हैं। इनमें परिवर्तन और सुधार की आवश्यकता है।

अतः भोजन में कभी कोई तत्व कम हो जाता है तो कभी बहुत ज्यादा हो जाता है। और कभी-कभी परमावश्यक तत्व भोजन में बिलकुल नहीं होते। इसलिये हमें सावधानी और बुद्धिमानी के साथ अपने भोजन के पदार्थों का चुनाव अब वैज्ञानिक ढंग से करना चाहिये जिसमें हमारी राष्ट्रीय कार्यक्षमता (National efficiency) बढ़ सके और हम धनी और सुखी हो सकें।

हम भारतवासी अधिकतर शाकाहारी हैं। हमारे इस प्रकार के भोजन में निम्न वस्तुयें अत्यन्त आवश्यक हैं :—

दूध, घी, दही, मक्खन।

इन सब में दूध मुख्य वस्तु है। ये सब उसी की उपज हैं। दूध में करीब-करीब सभी तत्व हमें मिलते हैं और इसको सबसे अच्छा भोजन प्राचीन काल में भी हमारे ऋषियों ने बताया था। और आधुनिक विद्वान भी बताते हैं। अतएव यह परम आवश्यक पदार्थ है। जिस प्रकार हो सके पाव भर से आध सेर तक एक दिन में एक व्यक्ति को अवश्य लेना चाहिये। कहा जाता है कि प्राचीन काल में हमारे यहां दूध दही की नदियां बहती थी। जिसका अर्थ यही है कि दूध का मूल्य लोग समझते थे और उसे खूब उत्पन्न करके पीते थे। और यही एक कारण है कि गाय को मानव जाति की माता का पद दिया गया था। आज कल पशुओं की बहुत कमी है। उनका दाम भी बहुत बढ़ गया है। नगरों में उनका पालन भी आधुनिक परिस्थिति में बहुत कठिन हो गया है। पर देहातों में अब भी आसान है। पर किसान की खेती में इतनी हानि होती रही है कि उसके लिये भी बैलों के अतिरिक्त और पशुओं का पालन कठिन सा हो गया है। जिनके घर में गाय भैंस हैं भी वे गरीबी के कारण दूध बेचकर पैसा पैदा करते हैं। स्वयम् उसका

उपभोग नहीं कर पाते। यह स्थिति अत्यन्त शोचनीय है। चाय अ.. काफी के स्थान में दूध को फिर स्थापित करना होगा।

फल व तरकारियां

दूध, घी आदि के बाद दूसरी आवश्यक वस्तुयें हैं ताजे फल और हरी पत्ती वाली तरकारियां। इनका सेवन भी अत्यन्त जरूरी है। क्योंकि इनमें भी बहुत से उपर्युक्त तत्व मौजूद है। फलों के लिये यह आवश्यक नहीं कि सेब अंगूर ऐसे क़ीमती फल खाए जावें। हमें अपने देशी मौसमी फलों को उचित मात्रा में खाना चाहिये जैसे आम, खरबूजा, सकरकन्द आदि। तरकारियों में हरी पत्ती की तरकारियों का खूब प्रयोग किया जाना चाहिये। गांवों में तरकारियों का रिवाज बहुत कम है। वही ग़रीबी इसका भी कारण है। एक तो पानी की कमी के कारण लोग काफ़ी तरकारियां पैदा नहीं कर पाते दूसरे जो करते हैं उससे दाम खड़े करने को फ़िक्र रहती है। ख़राब या सूखी साखी तरकारियां भोजन के काम में लाई जाती हैं। सलाद सोया विन पालक, कुलफा, चौलाई, आदि के साग खूब खाए जाने चाहिये। यह बड़े लाभदायक हैं। इनमें 'ए' 'वी' 'सी' तीन जीवन सत्व (Vitamins A. B. C.) प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। खाली उबली तरकारियां खाना अधिक लाभप्रद है। पर स्वाद के लिये उन्हें भूनकर उनका प्रयोग लाभप्रद नहीं है।

अन्न (गेहूं, चना, चावल, दाल) यह तो हमारे मुख्य आधार पदार्थ हैं। शहरों में अन्न मशीनवाली चक्कियों से पिसा हुआ ही आटा खाया जाता है जिसके बहुत से गुण नष्ट हो जाते हैं। चावल भी पालिश किया हुआ होता है जिसमें भी जीवन सत्व (Vitamins) नष्ट हो जाते हैं। चोकर सहित आटा खाना बहुत लाभदायक है पर चोकर को छानकर बिलकुल निकाल दिया जाता है। अन्य फल शाक भाजी सब के छिलकों में ही जीवन तत्व अधिक रहते हैं पर मिलों

में पिसने से, काफी भूने जाने से यह शक्तिदायक तत्व सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। केवल प्रोटीन और कारबोहाइड्रेट मिलते हैं, भीगे हुए कच्चे चने बहुत पुष्ट कारक होते हैं। स्कूलों में चने बांटने का यही उद्देश्य है कि विद्यार्थियों को अंकुवा निकला हुआ चना दिया जाय। पर अब भुने चने देने का सब कहीं चलन हो गया है।

वास्तव में स्कूल डाक्टरों और अधिकारियों को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। प्रबन्ध की सुविधा के लिये भुने चने बाजार से भुनवाकर आमतौर से दिये जा रहे हैं जो आधा ही लाभ पहुँचाते हैं। क्योंकि उनके जीवन सत्व (Vitamins) सर्वथा नष्ट हो जाते हैं।

डाक्टरों का कहना है कि पालिश किया हुआ चावल और तेल खाने से 'beri beri' 'वेरी वेरी' बीमारी होती है। जो ऐसा करते हैं उन्हें जीवन सत्व 'बी' (Vitamin B) जो इस बीमारी का नाशक है अवश्य किसी न किसी रूप में लेना चाहिये।

मिष्ठान या मिठाई

अधिक मीठा हानिकारक है। अतएव थोड़ी मिठाई, गुड़, शक्कर या अन्य रूप में भोजन के साथ या आगे पीछे खा लेना लाभदायक होता है।

नीचे हम दो उदाहरण संतुलित भोजन के भारतवासियों के लिये देते हैं।

१—उत्तर पश्चिम भारत के लिये और देशी तौल में (छटाकों में)
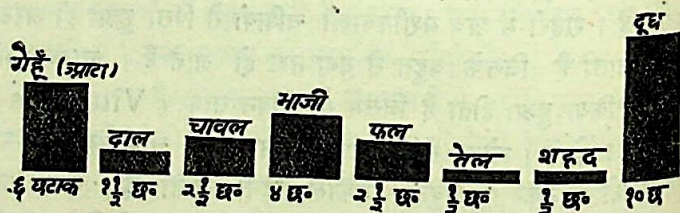
चित्र ११

२—पूर्व—दक्षिण भारत के लिये और अंग्रेजी तौल में (आउंसों में)
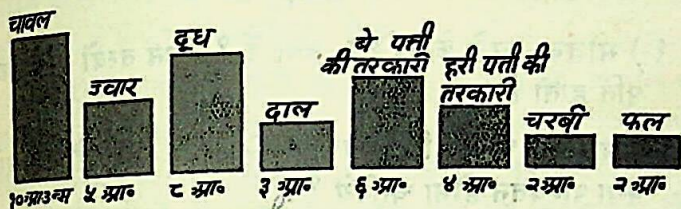
चित्र १२

इन दोनों उदाहरणों में भोजन के लगभग सब तत्त्व आ जाते हैं और उसकी मात्रा भी इतनी हो जाती है कि उससे एक दिन में एक साधारण मनुष्य को २५०० से २६०० कैलोरीज तक ताप मिल सकता है जो कम से कम जरूरी है।

इस सम्बन्ध में कुछ अन्य आवश्यक बातें :—

१—भोजन बहुत न पकाया जाय, अर्थात् बहुत भूना न जाय।

२—मसालों का कम प्रयोग किया जावे।

३—गरिष्ट, चटपटी चीज़ें या स्वादिष्ट पदार्थ बहुत न खाए जांय।

४—भोजन का समय निश्चित होना स्वास्थ्य के लिये अत्यन्तावश्यक है।

५—भोजन को खूब चबाना चाहिये जिसमें दांतों का काम आंतों को न करना पड़े।

६—भोजन के साथ पानी अधिक न पीना चाहिये। वरन् कुछ देर बाद पिया जाय तो बहुत अच्छा है।

७—बासी भोजन और सूखे साखे शाक भाजी और फल न खाए जांय। ताज़ी चीज़ें खानी चाहिये।

८—भोजन सादा, सात्विक और सस्ता होना चाहिये।

६—भोजन शुद्धता से बनाना और रखना चाहिये और शुद्धता से करना चाहिये।

प्रश्न

(१) भोजन करने के उद्देश्य क्या हैं ? किन तत्वों से इनकी पूर्ति होती है ?

(२) भारतीय आहार किन बातों से निश्चित होता है ? उसमें क्या परिवर्तन होना चाहिये ?

(३) 'संतुलित भोजन' का क्या अर्थ है ? उसका एक उदाहरण दीजिये।

(४) भोजन के विषय में साधारण नियमों का पालन करना चाहिये ?

दसवाँ अध्याय

विनिमय

सम्पत्ति के उत्पादन और उपभोग के बाद अब हम उसके विनिमय पर ध्यान देंगे।

विनिमय का अर्थ

हम लोगों में से बहुत से लगभग रोज़ बाज़ार की ओर किसी न किसी काम से नित्य प्रति आते जाते रहते हैं। वहाँ हम यही देखते है कि तमाम लोग दूकानों पर सौदा लेते हैं और दाम देते हैं। कोई कपड़ा लेता है, कोई जूता खरीदता है, कोई मिठाई, शाक भाजी आदि चीज़ों का मोल भाव करता है। इस प्रकार के नाना प्रकार के दृश्य हमें वहाँ दिखाई पड़ते हैं और इसीलिये काफ़ी चहल पहल और भीड़ भाड़ वहाँ दिखाई पड़ती है। बाज़ारों का एक मात्र उद्देश्य

वस्तुओं का और रुपये पैसों का अदल बदल करते रहना है, क्योंकि इसीसे लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। परन्तु जब यह अदल बदल दोनों पक्षों की खुशी से और सम्मति से ही होता है तभी वह आदि में विनिमय कहा जाता है।

ऊपर जो बात कही गई है वह आमतौर से शहर के बाज़ारों की बात है। गाँवों में कुछ दूसरी बात है, वहाँ भी रुपये पैसे से वस्तुएँ कुछ खरीदी बेची जरूर जाती हैं पर ज़्यादातर वस्तुओं का अदल बदल वहाँ वस्तुओं से होता है। बहुत सी रोज़ की वस्तुएँ, जैसे निमक मसाला, तम्बाकू, गुड़, तरकारी इत्यादि अनाज से मोल ली जाती हैं। साथ ही बहुत सी सेवाओं का मूल्य भी फ़सल पर अनाज में दिया जाता है। पुरोहित, नाई, धोबी, कुम्हार, बारी, बढ़ई, लोहार सबको उत्पन्न किये हुए अनाज में से, एक पुरानी प्रथा के अनुसार कुछ भाग साल में दो बार दोनों फ़सलों पर दे दिया जाता है।

यही सम्पत्ति का अदल बदल विनिमय कहलाता है। पर साथ ही एक बात और ध्यान देने योग्य है। यदि एक ग्राहक किसी तरकारी बेचने वाले की दूकान पर जाय और एक आना वहाँ रखकर एक पूरा कटहल उठाकर चुपचाप बिना दूकानदार को बताए हुए चला जाय तो यह अदल बदल अर्थशास्त्र में विनिमय न कहा जायगा। क्यों? एक तो यह एक प्रकार की चोरी है जो कानून जायज नहीं है। दूसरे दोनों खरीदने और बेचने वालों की सम्मति से यह अदल बदल नहीं हुआ है। अतः विनिमय सम्पत्ति का वह अदल बदल है जो बेचने और खरीदने वाले दोनों की राय से हैं और क़ानून की दृष्टि से ठीक हो अर्थात् चोरी और धोखा उसमें न हो।

अतएव 'विनिमय' विस्तित अर्थ में अर्थशास्त्र का वह विभाग है जिसमें हम उन नियमों और प्रयत्नों का अध्ययन करते हैं, जिनके द्वारा सम्पत्ति का न्यायपूर्ण पारस्परिक अदल बदल होता है। विनिमय

में तीन बातें होना ज़रूरी हैं :—(१) दो तरफ़ा हो, (२) राज़ी खुशी से किया गया हो और (३) क़ानून जायज हो। इन तीनों के होने पर ही सम्पत्ति का अदल बदल अर्थशास्त्र में विनिमय कहा जायगा।

(विनिमय से लाभ)

इस बात पर भी विचार करना आवश्यक है कि आखिर लोग विनिमय करते क्यों हैं ? क्या ज़रूरत है कि लोग अपनी वस्तु दूसरों के हाथ बेचें और उस रुपिये से और वस्तुएं मोल लें ?

इस प्रश्न का उत्तर नीचे संक्षिप्त रूप से दिया जाता हैं। अर्थात् अब हम 'विनिमय' के कारणों और लाभों का कुछ वर्णन करेंगे :—

(१) सब से पहली बात तो यह है, कि मनुष्य की आवश्यकताएं बहुत सी हैं और दिन दिन बढ़ती जाती हैं। पर वह अपनी सब आवश्यक वस्तुओं को स्वयम् उत्पन्न नही कर सकता। जब आदिकाल में उसकी आवश्यकताएं बहुत ही साधारण थीं तब यह सम्भव भी था, पर आज सभ्यता के युग में, जब आवश्यकताएं अनन्त हो गई है, यह सर्वथा असम्भव है, किसान ही को देखिये, अब उसे नए बड़े हल, रासायनिक खाद, मिल का बना कपड़ा, जूता, उसके बच्चों को प्रेस की छपी किताबों, कारखाने की बनी दवाओं और शक्कर, निमक और मिट्टी के तेल की आवश्यकता है। अतः वह यह सब चीजें स्वयंम अपने गांव में नहीं उत्पन्न कर पाता है और उन्हें बाहर से शहर की बाज़ारों से ख़रीदनी पड़ती हैं। अतः उसे अपना माल बेचकर पैसे से यह सब खरीदना होता है। इसलिये विनिमय की उसे आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में वह अब आत्म निर्भर (self-sufficient) नही है अब वे दूसरों पर निर्भर है। जिनके माल से उसे अपने माल का विनिमय करना पड़ता है।

(२) हम यदि सब चीज़ें बनाने का प्रयत्न करेंगे तो एक तो सब चीज़ें बनाना असम्भव ही होगा और फिर यदि बहुत सी बनाने में लगें तो कुछ अच्छी और जल्दी बनेंगी और कुछ खराब और भद्दी। जो लोग एक ही दो वस्तुओं को बनाएंगें वे उनमें विशेषज्ञ और कुशल या निपुण होंगे। अतः उन्हें हमसे कहीं अच्छी बनाएंगे। अब हम यदि उनकी अच्छी और सस्ती वस्तुओं को न लेकर अपनी ही भद्दी और महंगी वस्तुओं को उपभोग में लाना चाहते हैं तो हमको विनिमय की कोई आवश्यकता नहीं, पर हम अपना लाभ इसी में देखेगें कि हम जो कुछ बनावें वह खूब अच्छा और सस्ता बनावें जिसमें हमें उनके अच्छे दाम मिल सकें और साथही जो वस्तुएं दूसरों से ले वे भी अच्छी और सस्ती मिलें। इस प्रकार विनिमय द्वारा दोनों प्रकार से लाभ है।

(३) फिर हम यह देखते हैं कि जो व्यक्ति एक ही वस्तु बनाता है वह उसे अच्छी, जल्दी, सस्ती और अधिक मात्रा में बनाता है। बड़े बड़े कारखाने इस समय असंख्य वस्तुएं बना रहे हैं, जिनका बहुत थोड़ा सा भाग उन्हें अपने लिये ज़रूरी है। अधिकतर वे बेचने के लिये ही बना रहे हैं। अतः उसे उन्हें बेचना ही पड़ेगा अर्थात् विनिमय ही करना पड़ेगा। बिना इसके उनको कोई लाभ न हो सकेगा।

(४) जब विनिमय के साधन, जैसे रुपिया पैसा, आवागमन के साधन, बाज़ार इत्यादि उपस्थित होते हैं और देश में शान्ति और अन्य व्यापारिक सुविधाएँ होती हैं तब लोगों की उत्पादक वृत्ति और शक्ति जाग्रत हो जाती हैं और उनके द्वारा सम्पति की वृद्धि के साथ २ कला कौशल की भी उन्नति होने लगती है।

इन्हीं और कई और कारणों से और लाभों से आधुनिक युग में 'विनिमय' अत्यन्तावाश्यक हो गया है। आजकल प्रत्येक देश की आर्थिक और सामाजिक उन्नति इस पर निर्भर है।

विनिमय के भेद

इस प्रकार सम्पत्ति के सारे अदल बदल या विनिमय की क्रियायें दो मुख्य भागों में बांटी जा सकती है।

१—भौतिक सम्पत्ति का भौतिक सम्पत्ति से और सेवाओं से विनिमय या वस्तु परिवर्तन (Barter)

२—रुपिये पैसे से भौतिक सम्पत्ति और सेवाओं का विनिमय या क्रय-विक्रय (Sale and purchase)

१—वस्तु परिवर्तन (Exchange by Barter) इसमें वस्तुओं का वस्तुओं से परिवर्तन होता है। इसलिये ऐसी अदला बदली को वस्तु परिवर्तन (Barter) कहना ठीक ही है। यदि पेंसिल देकर हम पटरी लें या अनाज देकर हम तरकारी लें तो यह वस्तु परिवर्तन (Barter) होगा।

२—जब हम रुपिये पैसे से किसी वस्तु का अदल बदल करते हैं तो वह क्रय-विक्रय (Sale and purchase) कहलाता है। जैसे किसान अपना गेहूं मंडी में जाकर रुपिये लेकर बेच देता है। यह विक्रय हुआ, अब रुपिया लेकर किसान ने उससे कपड़ा, जूता, शक्कर, निमक आदि मोल लिया तो यह उसका क्रय हुआ। अतः रुपिये से वस्तुओं का अदल बदल क्रय-विक्रय कहलाता है। नाई और धोबी को पैसा देकर हम उनकी सेवायें भी खरीदते हैं।

वस्तु परिवर्तन (Barter)

वस्तुओं का वस्तुओं से परिवर्तन अब शहरों में बहुत ही कम होता है। आपने अपने जीवन में ऐसा अनुभव शहर में शायद ही किया हो, क्योंकि वहां ऐसा बहुत कम होता है। हां कभी-कभी कुछ लोग शीशे या आलमोनियम के बर्तन लेकर आते हैं और उनको पुराने कपड़ों वगैरा से बदल ले जाते हैं।

पर साधारणतया शहर से यह प्रथा अब उठ सी गई है। वहां पैसे का ही बोल वाला है।

परन्तु हमारे देश के गांवों में अब भी यह प्रथा बहुत प्रचलित हैं, क्योंकि लोग बहुत गरीब हैं इसलिये पैसा उनके पास नहीं है। जो खेतों में नाज पैदा होता है वही उनके पास है अतः उसी को देकर वे नित्य की आवश्यक वस्तुयें लेते हैं। गांव की दूकानों और बाज़ारों में बहुत कुछ अदल बदल अनाज से होता है। निमक, मसाला, तम्बाकू गुड़, तरकारी आदि इसी प्रकार वेचे और खरीदे जाते हैं। बढ़ई लोहार चमार से भी ऐसे ही उनकी सेवाओं का अदल बदल किया जाता हैं। फ़सल पर उन्हें उन सब के बदले में कुछ अनाज दे दिया जाता है।

इसलिये हम कह सकते हैं कि संसार के कुछ पिछड़े देशों में, जिनमें हमारा देश भी है, यह प्रथा जारी है। पर सभ्य संसार से यह अब लोप हो गई है।

प्राचीनकाल में जब तक रुपिये पैसे का आविष्कार नहीं हुआ था और उनका चलन नहीं था तब तक वस्तु परिवर्तन द्वारा ही सम्पत्ति का अदल बदल सब नहीं होता रहा। और अब भी बहुत से पिछड़े हुए असभ्य देशों या भागों में उसी प्रकार होता है।

पर सभ्य संसार से यह प्रथा उठती जा रही है। इसके कुछ कारण अवश्य थे या हैं। इस वस्तु परिवर्तन प्रणाली (Barter system) में कुछ विशेष दोष हैं। जिसके कारण सभ्य संसार उसे छोड़ता जा रहा है और वे निम्नांङ्कित हैं :—

१—सबसे बड़ा दोष यह है कि दो अदल बदल करने वाले व्यक्तियों के पास उन दो वस्तुओं में से एक होना चाहिये, जिनकी कि उन दोनों को आवश्यकता है। जैसे एक आदमी के पास गेहूं है उसे

शकर की आवश्यकता है। अब भी कोई दूसरा आदमी ऐसा उसे मिल जाय, जिसके पास शकर हो और वह गेहूं लेना चाहता हो तब तो वह दोनों अपनी-अपनी वस्तुओं का अदल बदल कर सकते हैं और करेंगे अन्यथा अदल बदल सम्भव न होगा। यदि इस उदाहरण में पहिले को शकर की जरूरत न हुई या दूसरे को गेहूं की जरूरत न हुई तो विनिमय इन दो व्यक्तियों में असम्भव है। अतः उन दोनों को उस समय तक खोज करती रहना पड़ेगी जब तक इच्छित वस्तुयें दोनों के पास न हों। रुपिये या द्रव्य माध्यम से बेचना और खरीदना आसान हो जाता है।

२—दूसरा दोष इसमें यह है कि इनमें प्रत्येक वस्तु का मूल्य प्रत्येक वस्तु में आँकना होता है। जैसे हमें यह जानना होगा कि यदि मेरे पास एक 'पुस्तक' बेचने को है, तो इसके बदले में हमें कितना गेहूं, चना, शकर, टोपी, जूता, घड़ी, मेज आदि मिल सकती हैं। अर्थात् जो वस्तु या वस्तुयें उसके बदले में हम चाहते हैं। यह एक बड़ी कठिन समस्या है। मूल्य इन रुपिये पैसे में आसानी से हो सकता है।

३—तीसरा दोष यह है कि वस्तु के रूप में हम धन सम्पत्ति को न जोड़कर बहुत समय तक रख सकते हैं न आधुनिक अर्थ में आसानी से बचा सकते हैं क्योंकि वस्तुयें जल्दी खराब हो जाती हैं, रुपिया पैसा जल्दी नष्ट नहीं होता।

इन्हीं सब दोषों के कारण यह प्रणाली आजकल के लिये ठीक नहीं समझी जाती। इसमें बड़ी सुविधायें हैं।

क्रय-विक्रय

क्रय—विक्रय वस्तुओं का रुपिये के द्वारा होता है। और इस प्रणाली में वे सब दोष मिट जाते है जो वस्तु-परिवर्तन से बताये गये

हैं। इन्हीं दोषों के कारण द्रव्य का या रुपिये पैसे का आविष्कार किया गया। वस्तुओं का क्रय-विक्रय बाज़ारों में होता है। अतः अब हम 'बाज़ार' के अर्थ पर ध्यान देंगे।

बाज़ार

साधारणतया 'बाजार' हम उस स्थान को समझते हैं जहाँ वस्तुयें बेची और खरीदी जाती हैं। हर गाँव या शहर में ऐसे नियत स्थान होते हैं जहाँ कची पक्की छोटी बड़ी सब प्रकार की दूकानें होतीं हैं और जहाँ सब आवश्यक वस्तुयें बिकती हैं।

शहरों में हम ऐसी भी बाजारें देखते हैं जहाँ एक ही वस्तु की बहुत सी दूकाने होती हैं जैसे तरकारी मंडी, बजाजा, नाज की मंडी इत्यादि।

पर 'बाज़ार' की यह परिभाषा अब अर्थशास्त्र की दृष्टि से ठीक नहीं समझी जाती, एक वस्तु के बेचने और ख़रीदने वाले अब एक ही स्थान पर नहीं होते वरन् बहुत दूर तक फैले होते हैं क्योंकि आवागमन और संबाद-वाहन के साधनों में बहुत उन्नति हो गई है। रेल, तार, जहाज़ आदि के कारण जो वस्तु लखनऊ या अलाहाबाद में पैदा होती है वह आसानी से और शीघ्र ही कलकत्ता और बम्बई बल्कि लन्दन तक पहुँच जाती है। अतः उसके बेचने वाले लखनऊ और अलाहाबाद में होते हैं तो ख़रीदने वाले कलकत्ता बम्बई और लन्दन में हो सकते हैं। इसलिये वैज्ञानिक दृष्टि से बाज़ार की परिभाषा अब यों की जाती है :—

"बाज़ार" वह समस्त प्रदेश या भूखंड है, जिसमें किसी वस्तु के बेचने और खरीदने वालों में पारस्परिक सम्बन्ध होता है और उनमें स्वतन्त्र स्पर्धा होती है। यह स्पर्धा वस्तु के मूल्य को बाज़ार भर में एक कर देती है।

अतः बाज़ार में तीन बातें होना ज़रूरी हैं :—

(१) किसी वस्तु के बेचने वाले ।

(२) उस वस्तु के ख़रीदने वाले ।

(३) उन दोनों में पारस्परिक स्वतन्त्रता स्पर्धा हो, और एक प्रकार की वस्तु का एक ही मूल्य हो ।

बाज़ार का क्षेत्र

बाज़ार छोटे भी होते हैं और बड़े भी, इसका अर्थ यह है कि किसी वस्तु में विनिमय या बिक्री का क्षेत्र सीमित होता है और किसी वस्तु का बहुत विस्त्रित । जैसे ईंटों का बाज़ार ४, ५ मील के क्षेत्र के भीतर ही सीमित रहता है । अर्थात् एक शहर के निकटस्थ भट्ठों की ईंटे इसी छोटे से क्षेत्र के भीतर बिकती हैं और उसी में उनके बेचने और ख़रीदने वालों में स्पर्धा होती रहती है और उनका मूल्य उसी के अनुसार घटता बढ़ता रहता है । इसी प्रकार मांस, मछली, हरी तरकारियां ताज़े फलों का भी बाज़ार सीमित ही रहता है, क्योंकि यह वस्तुयें ख़राब हो जाने के भय से दूर नहीं भेजी जा सकतीं । पहले इन वस्तुओं का बाज़ार तो बहुत ही सीमित था पर अब जैसे जैसे आवागमन के साधनों में उन्नति होती जाती है इन वस्तुओं के बाज़ार भी कुछ अधिक विस्त्रित होते जाते हैं । गेहूं और सोने के बाज़ार बहुत विस्त्रित हैं । समस्त सभ्य संसार उनका बाज़ार है ।

अब हमको यह देखना है कि किसी वस्तु के बाज़ार का क्षेत्र या विस्तार छोटा या बड़ा, या सीमित और विस्त्रित क्यों होता है ? इसके कुछ मुख्य कारण नीचे दिये जाते हैं :—

(१) जिस वस्तु की मांग (Demand) अधिक और दूर तक होती है उसका बाज़ार भी विस्त्रित होता है जैसे गेहूं, रुई, जूट, पिट्रोल, सोना इत्यादि आजकल इन वस्तुओं की ज़रूरत प्रत्येक राष्ट्र को है । अतएव इनका बाजार अन्तर्राष्ट्रीय (International)

कहलाएगा। इनके विपरीत धोती व गाँधी टोपी की मांग अधिकतर भारत में ही है, अतएव इनके बाज़ार बहुत सीमित हैं। केवल राष्ट्रीय बाज़ार कहे जा सकते हैं।

(२) पूर्ति (Supply) की अधिकता से भी बाजार का क्षेत्र बढ़ जाता है। खाली मांग से बाजार नहीं बढ़ता, जब तक उस वस्तु की पूर्ति न की जाय। जैसे गेहूं की मांग सब कहीं होने पर भी अगर उसकी पैदावार कम है और सब कहीं पूर्ति नहीं हो सकती तो बाज़ार सीमित ही रह जायगा। जैसे लखनऊ की एक खास क़िस्म के दसहरी आम की पैदावार सिर्फ एक बाग में होती है। अतः उसकी उपज इतनी कम है कि उसकी मांग बम्बई और कलकत्ता में होते हुए भी पूर्ति वहां नहीं हो सकती है। इसलिये उसका बाजार भी लखनऊ के आस पास तक ही सीमित रहता है।

(४) जो वस्तुयें अधिक दिनों तक बिना खराब हुए रक्खी जा सकती हैं उनका बाज़ार विस्त्रित होता है जैसे अनाज, कपड़ा आदि, पर जो वस्तुयें जल्दी नष्ट होने लगती हैं उनका बाज़ार सीमित रहता है जैसे दूध, ताज़े फल, मछली इत्यादि।

(४) जो वस्तुयें भारी होने के साथ-साथ कीमती ज्यादा हैं उनका बाजार बहुत विस्त्रित होता है। जैसे सोना चाँदी का बजार विस्त्रित है पर ईंटों, और लोहे, मिट्टी का बाजार बहुत ही सीमित होता है क्योंकि वजन ज्यादा होने के साथ इनका मूल्य बहुत कम है। उनके दूर तक ले जाने का खर्चा बहुत बढ़ जाता है। सोना जहां भी पैदा होता है वहाँ से सारे संसार में बिकता है पर ईंटें जहां बनती हैं वही आस पास में थोड़ी ही दूर तक जाती हैं।

(५) उपर्युक्त गुणों के होने पर भी किसी वस्तु का बाजार सीमित ही रहेगा यदि उसे दूर तक, जल्दी और कम दामों में ले जाने वाले साधन न हों जैसे सड़कें, रेल, जहाज। साथ ही सन्देशवाहनों

जैसे डाक और तार, टेलीफून आदि के ऊपर भी बाजार का विस्तार निर्भर है। जहां यह उन्नत होते हैं वहां वस्तुओं का बाजार विस्तृत हो जाता है अन्यथा नहीं।

(६) साथ ही देश में शान्ति और कुशल शासन की भी जरूरत है। यदि लड़ाई, झगड़े लूट मार ज्यादा होगी तो व्यापार करना ही कठिन होगा। बाजार सीमित हो जायगे। भारत और पाकिस्तान में कुछ अनबन हो जाने से जूट और रुई का बाजार बहुत सीमित हो गया था अब फिर समझौता हो जाने पर बढ़ गया है।

(७) मुद्रा की चलन प्रणाली बैंकों और महाजनों के संगठन पर भी बाजार का क्षेत्र बहुत कुछ निर्भर है। क्योंकि बिना रुपिये के ठीक प्रबन्ध से व्यापार चल ही नहीं सकता और न बाजार बढ़ सकता है। माल खरीदने वालों को और बेचने वालों को रुपिये की सदैव आवश्यकता रहती है।

(८) अन्त में एक बात और भी इस सम्बन्ध में बताना आवश्यक है। जिन वस्तुओं का ठीक ठीक वर्गीकरण किया जा सकता है अर्थात् जिनके भेद गुण के हिसाब से ठीक-ठीक किये जा सकते हैं उनका बाजार दूर तक फैल सकता है। यदि गेहूं अपने जिले से बहुत दूर देश के दूसरे भाग या प्रान्त में भेजना है या एक देश से दूसरे देश में भेजना है तो उसके खरीदारों को यह सब बातें ठीक-ठीक बतानी होगी और वर्गों के हिसाब से उनके नमूने भी भेजने होंगे तब लोग उनमें से गुण और भाव के हिसाब से खरीदने के लिये अपना निश्चय करेंगे। जैसे पूसा नम्बर ४ का गेहूं का एक दाम है। तो उसके खरीदने वाले उस दाम पर उसी किस्म के गेहूं को खरीदेंगे।

इसीलिये आजकल बाज़ार के विस्तार और व्यापार की वृद्धि में विज्ञापन और एजेंटस का बहुत बड़ा स्थान है और बहुत कुछ बिक्री

उन्हीं के ऊपर निर्भर भी है। इन बातों में धोखा होने से माल फिर दुबारा नहीं बिकता। और यदि जैसा नमूना भेजा जाता है वैसा ही माल भी होता है तो बेचने वाले की साख जम जाती है और उसका माल खूब बिकता है, और उसका बाज़ार विस्तृत ही होता रहता है। यही कारण है जो माने हुए अच्छे उत्पादक (Standard produ- cers) हैं उनका माल खूब बाज़ार में बिकता है।

मूल्य या दाम का निर्धारण

(Determination of Value or Price)

अर्थ शास्त्र की दृष्टि से 'मूल्य' (Value) और दाम या कीमत (Price) में केवल रूप का अन्तर है। जब किसी वस्तु का मूल्य रुपिये पैसे में प्रकट किया जाता है तब वह उस वस्तु का दाम या कीमत कही जाती है।

सिद्धान्त रूप से कोई विशेष अन्तर नहीं है। व्यापारों में प्रायः दोनों का एक ही अर्थ रहता है।

अब प्रश्न यह है कि वस्तुओं का मूल्य या दाम कैसे निर्धारित होता है। क्योंकि बिना इसके वस्तुयें न खरीदी जा सकती हैं न बेची जा सकती है।

अर्थशास्त्र का यह 'मूल्य-निर्धारण' सिद्धान्त परम महत्वपूर्ण-सिद्धान्त है। वास्तव में इसी को सारे अर्थशास्त्र का सार सिद्धान्त कहा जा सकता है, क्योंकि जब तक किसी वस्तु का मूल्य निश्चित नहीं होता तब तक उसके उत्पादक का सारा परिश्रम निष्फल होता है क्योंकि वह उसे बेच नहीं सकता। दूसरी ओर बिना मूल्य निर्धारण के उस वस्तु का उपभोग करने वाला उसे खरीद नहीं सकता।

हम देखते है किसी दिन पहाड़ी आलू का भाव बाज़ार म १) सेर है तो किसी दिन ।।।) सेर है। और फिर कभी ।।) सेर भी होता है।

तो हमें यह जानना है कि यह भाव कैसे घट बढ़ जाता है और किसी एक समय एक ही भाव बाज़ार में क्यों हो जाता है। बाज़ार के सम्बन्ध में यह बताया गया है कि बाज़ार में किसी एक समय पर एक किस्म की वस्तु का भाव या मूल्य दर एक ही होता है। और खरीदने और बेचने वाले उसी दर में वस्तु को एक समय तक खरीदते और बेचते रहते हैं।

अर्थशास्त्रियों का कहना है कि किसी वस्तु का सामयिक मूल्य दो शक्तियों पर निर्भर है—(१) मांग (Demand) और (२) पूर्ति (Supply) मांग (Demand) खरीदने वाले की शक्ति है और पूर्ति (Supply) बेचने वाले की मांग (Demand) का अर्थ है किसी वस्तु को किसी संख्या या मात्रा में किसी मूल्य पर खरीदने के लिये खरीदार का निश्चय। यदि मैं एक सेर आलू ।=) सेर के भाव से लेने को तैयार हूं तो यह इस समय मेरी आलू की मांग है। पूर्ति (Supply) का अर्थ है किसी वस्तु को किसी संख्या या मात्रा में किसी मूल्य पर बेचने के लिये बेचनेवाले का निश्चय। जैसे यदि तरकारी वाला पहाड़ी आलू ॥=) सेर के भाव से एक मन बेचने को तैयार हैं तो यह उसकी आलू की पूर्ति उस समय कही जायगी। इस प्रकार एक बाज़ार की आलू की मांग का अनुमान सारे ख़रीदने वालों की मांग का अनुमान करके लगाया जा सकता है और उसी बाज़ार की आलू की पूर्ति का अनुमान सब आलू बेचने वालों की पूर्ति का अनुमान करके लगाया जा सकता है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि आज स्थानीय बाज़ार में आलू की माँग और पूर्ति निम्न भाँति हैं :—

बाज़ार में आलू का मांग :—

॥) सेर पर ५ मन आलू की माँग है।
॥=) " " ८ " "
।=) " " १२ " "

बाज़ार में आलू की पूर्ति :—

|||) सेर पर २५ मन आलू की पूर्ति है।
||=) " " १५ "
|=) " " १२ "

उपर्युक्त मांग और पूर्ति की तालिकाओं से यह पता चलता है, कि एक समय पर आलू का भाव |=) सेर निश्चय हो जायगा, क्योंकि उस भाव से खरीदने वाले १२ मन खरीदने को तैयार हैं और उसी भाव पर बेचने वाले भी १२ मन बेचने को तैयार हैं!

अब देखना यह है कि आखिर यह भाव निश्चय कैसे हुआ। माँग और पूर्ति की क्रिया और प्रति क्रिया से ही यह भाव निश्चय हुआ है। इस सिद्धान्त को पहले हम व्यक्तिगत रूप से देखेंगे फिर उसी को सामूहिक रूप से या बाज़ार की दृष्टि से देखेंगे।

मान लीजिये एक तरकारी बेचने वाला आप के घर पर आया। उसके पास पहाड़ी आलू है और आप को उसकी ज़रूरत है।

आप आलू खरीदने वाले हैं। आप की इच्छा क्या होती है? यही कि जितने कम दाम में आलू मिल जाय उतना ही अच्छा है। इसी में आप अपना लाभ समझते हैं। पर तरकारी वाला आलू बेचने वाला है। उसका उद्देश्य उसी प्रकार यह रहता है कि जितना अधिक से अधिक दाम उसे आलू का मिल सके तो अच्छा है। उसका इसी में लाभ है। उसे पैसा कमाना है और आप को खर्च करना है। सारे खरीदने वालों का दृष्टिकोण यही होता है जो आपका है और सारे बेचने वालों का दृष्टिकोण वही होता है जो इस तरकारी वाले का।

अच्छा अब आपने उससे पूछा कि आलू किस भाव से दोगे। वह कहता है :—'|||) सेर के हिसाब से बाबू जी,' आप एका-एक चौंक से पड़ते हैं और कहते हैं—'अरे इतना ज्यादा दाम!' ले जाओ

हमें नहीं खरीदना है । मगर वास्तव में आप लेना चाहते हैं पर यह स्वांग इसलिये कर रहे हैं कि वह आप को गरजमन्द न समझे बल्कि अपने को गरज़मन्द समझे ।

वह कहता है 'कि अरे बाबू जी आज तो यही भाव है । आप भी तो कुछ कहें क्या भाव लेंगे ?' आप झट झूठ मूठ कह देते हैं, कि भाई अभी हमारे पड़ोस में तो एक आदमी ।।) सेर में खूब बड़ा-बड़ा इसमें अच्छा आलू दे गया है । और तुम इन छोटे आलुओं का दाम ।।।) सेर मांग रहे हो यह तो बहुत ज्यादा है । अब वह सोचता है कि ।।) सेर में तो मैंने खुद ही मंडी से लिया है फिर इनको इस भाव से कैसे दे दूँ । इसमें मेरा कुछ भी लाभ न होगा । और वह सोचता हुआ वह टोकरी फिर सिर पर रखता है और यह कहता हुआ उठता है, कि आप के लिये ~) कम कर दूँगा ।।≶) सेर में दे दूँगा और चला जाता है । आप तुरन्त कह देते हैं कि अच्छा भाई देना है तो ।।=) सेर से दे दो, क्योंकि आप को मालूम है कि पड़ोस में ।।) में नहीं ।।=) सेर में ऐसा ही आलू लिया गया है । आपने उसे धोखा देने के लिये और अपने लाभ के लिये ।।) सेर भाव बताया था । आखिर में वह भी बहुत एहसान करता हुआ लौटता है और ।।=) सेर के भाव से आप एक सेर आलू लेते हैं । इस प्रकार आपके और उसके बीच में आलू का दाम निश्चय हो गया और १ सेर आलू खरीदा भी गया और १ सेर बेचा भी गया है ।

अब इस उदाहरण से हम कुछ नियम निकाल सकते हैं जो बाज़ार में लागू होते हैं ।

(१) मूल्य निर्धारण के लिये मांग और पूर्ति का बराबर होना आवश्यक है । व्यक्तिगत रूप से हमने देखा कि ।।=) सेर पर एक सेर आलू बेचा और खरीदा गया और बाज़ार में भी हमने देखा कि ।=) सेर पर १२ मन आलू लिया और खरीदा गया । जैसे इस उदाहरण में

बेचने वाला ।||) सेर के हिसाब से सारा टोकरा ही बेचने को तैयार था। उसी प्रकार हम देखते हैं कि बाज़ार में |||) सेर पर सब बेचने वाले २५ मन आलू बेचने को तैयार हैं। पर वहां खरीदने वाले इस भाव से कुल ५ मन ही लेने को तैयार हैं। तो फिर इस भाव पर ५ मन की बिक्री होना चाहिये थी पर हो नहीं पाई। यही बात समझने की है। सवाल यह होता है कि यह ५ मन आलू कौन बेचे, क्योंकि उस भाव से तो २५ मन बेचने वाले तैयार हैं। इसका अर्थ यह है कि पूर्ति (Supply) २५ मन है और उसी भाव पर मांग (Demand) केवल ५ मन है। अतः बेचने वालों में स्पर्धा शुरू हो जाती है। और फलतः उनमें से कुछ बेचने वालों ने दाम घटा दिये और ||=) सेर के हिसाब से १५ मन बेचने के लिये तैयार हो गये।

बाकी १० मन के बेचने वाले |||) सेर से कम पर किसी प्रकार बेचने को राजी नहीं है। शायद इसलिये कि इससे कम भाव से बेचने पर उन्हें लाभ नहीं होता या बहुत कम लाभ है। अब खरीदने वालों ने देखा कि कुछ लोग ||=) सेर के भाव से बेचना चाहते हैं तो लोग ५ के बजाय ८ मन खरीदने को तैयार हो गये। पर फिर भी वही समस्या रही, कि १५ मन में से कौन सा ८ मन बेचा जाय। और इसीलिये बेचनेवालों में और स्पर्धा हुई और |=) सेर पर १२ मन बेचने को कुछ लोग तैयार हो गये। और इस भाव पर १२ मन खरीदने वाले भी तैयार हो गये। बस इस भाव पर आलू बिकने लगा और १२ मन बेचा और खरीदा गया। इस प्रकार मांग और पूर्ति दोनों के |=) फ़ी सेर पर बराबर होने से उस समय आलू का मूल्य या दाम निश्चित हो गया।

(२) दूसरा नियम इसी उदाहरण से यह निकला कि पूर्ति जब मांग से अधिक होती है तब बेचने वालों में स्पर्धा होने लगती है और मूल्य गिर जाता है। इसी प्रकार जब मांग पूर्ति से अधिक होती है तो

खरीदने वालों में उसी प्रकार स्पर्धा होती है और दाम बढ़ जाता है। मूल्य या दाम के घटने बढ़ने का यही कारण है।

(३) एक नियम और मालूम होता है। वह यह कि वस्तु के मूल्य की कुछ सीमायें भी हैं। हमने अभी देखा कि कुछ लोगों ने ।।।) सेर से कम बेचने से इनकार कर दिया क्योंकि वह ।।।) सेर से कम में बेच ही नहीं सकते। कुछ लोग ऐसे थे जो ।।=) सेर से कम पर नहीं बेच सके। ऐसा क्यों है ? यह इसीलिये है कि लोगों को उस भाव से कम पर बेचने से लाभ नहीं होता अर्थात् उतनी ही उनकी लागत है। अतएव कोई बेचने वाला कभी अपनी लागत से कम पर नहीं बेचना चाहता। यही मूल्य की एक नीचे की सीमा है। साधारणतया मूल्य लागत से कम नहीं होता।

इसी प्रकार मूल्य की एक ऊपरी सीमा भी होती है। वह सीमा खरीदने वालों के ऊपर निर्भर है। इस बात पर कि वह अधिक से अधिक कहां तक दे सकते हैं। उपर्युक्त उदाहरण में आपने देखा था कि आप बड़ी कठिनता से ।।=) सेर तक आलू लेने को तैयार हुए थे। जबकि बेचने वाला ।।।) मांग रहा था। खरीदने वाले कम से कम दाम देना चाहते हैं जिसकी कोई सीमा नही पर उनकी अधिक से अधिक दाम देने की एक सीमा अवश्य होती है। जिससे ज्यादा देने को वे कभी तैयार नहीं होते। वह उनकी अपनी-अपनी आवश्यकता या ज़रूरत और वस्तु की उपयोगिता पर निर्भर होती है। ज़रूरत के समय हम अधिक से अधिक दाम देकर भी वस्तु मोल लेते हैं।

अतः मूल्य की दो सीमायें हैं। १—नीचे की सीमा जो (Cost of prodution) वस्तु की लागत होती है। (२) ऊपर की सीमा जो खरीदने वाले की उस वस्तु की ज़रूरत और उपयोगिता पर निर्भर है। अर्थात सीमान्त उपयोगिता (Marginal utility) पर।

गाँवों में मूल्य निर्धारण

लगभग यही नियम अर्थात् मांग और पूर्ति के द्वारा गाँवों में भी अब मूल्य निर्धारण होता है। पर वहाँ जो वस्तुयें पैदा होती हैं उनकी पूर्ति (Supply) स्वभावतः अधिक होती है और माँग बहुत कम होती है। अतएव दाम साधारणतया बहुत कम होता है। जैसे अनाज, गुड़, तरकारी इत्यादि वस्तुयें वहां बहुत सस्ती होती हैं।

एक बात और है। जब कोई ऐसा व्यापारी, महाजन या जमींदार माल लेने गाँव में आता है जिसके वे ऋणी हैं, जैसाकि प्रायः होता ही है, तब उनको कभी-कभी लागत से कम पर भी, एक पूर्व निश्चित भाव पर उन्हें अपना माल बेचना पड़ता है। इससे भी दाम कम हो जाता है।

इन दोनों बातों के अतिरिक्त रीतिरिवाज का बहुत से गांवों में अब भी बहुत बड़ा प्रभाव है। जो पुराना भाव चला आ रहा है उसी पर माल बेचना पड़ता है। लागत कुछ भी हो। और आधुनिक आर्थिक परिवर्तनों के कारण लागत बढ़ ही गई है। ऐसी हालत में जब बेचना पुराने भाव से ही होगा तो लागत से कम पर ही बेचना होगा।

पर धीरे-धीरे शहरों के सम्पर्क में आने से और आर्थिक अवस्थाओं के ज्ञान की वृद्धि होने से रीति रिवाज का प्रभाव बहुत कम हो गया है। मगर फिर भी उन वस्तुओं का दाम जो गाँव में पैदा होती हैं वहां शहरों से कम रहता है।

हाँ जो वस्तुयें बाहर से गाँव में बिकने आती हैं उनकी पूर्ति कम होती है पर माँग अधिक होने से दाम अधिक होता है। जैसे मसाला, नई चूड़ियां, कंघे, शीशे, बटन, मिट्टी का तेल कुछ तरकारियां और

फल, फूल, इत्यादि, इनके बेचने वाले कम होते हैं और उनमें स्पर्धा नहीं होती अतः दाम अधिक होते हैं।

प्रश्न

(१) 'विनिमय' का अर्थ और उसके लाभ बताइये।

(२) विनिमय के भेद कौन से हैं? समझाइये।

(३) वस्तु परिवर्तन द्वारा विनिमय कैसे होता है? प्राथमिक उदाहरण लेकर समझाइये।

(४) वस्तु परिवर्तन में क्या दोष हैं जिनको दूर करने के लिये क्रय-विक्रय होने लगा?

(५) बाजार के साधारण और आर्थिक अर्थ में अन्तर ठीक बताइये।

(६) बाजार के विस्तार के मुख्य कारण क्या हैं?

(७) वस्तुओं का मूल्य कैसे निर्धारित किया जाता है? उदाहरण द्वारा समझाइये।

(८) क्या मूल्य की कोई सीमाएं हैं? यदि हैं तो क्या और क्यों?

(९) गांव में मूल्य निर्धारित कैसे होता है? उदाहरणों द्वारा समझाइये।

ग्यारहवाँ अध्याय

ग्रामीण बाज़ार

गाँवों की पैदावार दो प्रकार की होती है। १—एक तो वह जो खेती से सम्बन्ध रखती है और। २—वह जो वहाँ की कला कौशल से सम्बन्ध रखती है। इस अध्याय में हम इस ग्रामीण सम्पत्ति की बिक्री पर विचार करेंगे।

यों तो गाँव के लोग अपनी पैदा की हुई वस्तुओं को अपने गांव या अड़ोस पड़ोस के गांवों में बेचने का प्रयत्न करते हैं। पर गाँवों में लोग इतने ग़रीब हैं कि वे बहुत कम चीजें खरीदते हैं और उनके जीवन का स्तर भी इतना नीचा है कि उनकी आवश्यकतायें भी बहुत ही कम है। इसलिये वे अपना माल या तो स्वयम ले जाकर निकटस्थ शहरों की मंडियों और बाज़ारों में बेच लेते हैं, या गाँव की पैठों या हाटों और मेलों में ले जाकर बेचते हैं, या अपने घर पर ही बैठे-बैठे व्यापारियों के हाथ बेच देते हैं;

गाँव के बाज़ार

गाँव के बाज़ार तीन प्रकार के कहे जाते हैं :—

(१) स्थानीय बाजार।
(२) हाट और पैंठ।
(३) मेलों और नुमायशों के बाज़ार।

(१) स्थानीय बाज़ार

लगभग प्रत्येक छोटे व बड़े गाँव में और विशेष कर प्राचीन गाँवों में एक विशेष स्थान पर दूकानें होती हैं जो बहुत छोटी होती हैं और

कई चीज़ें साथ ही साथ बेचते हैं। इसका एकमात्र कारण यह है कि वहां खरीदने वाले कम होते हैं और बहुत थोड़ा-थोड़ा माल खरीदते हैं। यदि दूकानदार शहर की तरह एक ही वस्तु बेचे तो उनका काम चल ही नहीं सकता, वह अपनी रोजी नहीं कमा सकते। इसलिये हम देखते हैं कि एक बनिये की दूकान पर आटा दाल, मसाला, निमक, तेल, गुड़, तम्बाकू, दियासलाई, दवाइयां, कागज़, पेंसिल, मेवा, और कभी-कभी कपड़ा भी बिकता है।

हाँ कुछ दूकान ऐसी होती है जिन पर एक ही दो चीज़ें बिकती हैं, जैसे कपड़े की दूकान पर कपड़ा और सूत, जूते की दूकान पर जूता, भड़भूंजे के यहां चवेना, तरकारी वाले की दूकान पर तरकारी, गोश्त वाले के यहां गोश्त बिकता हैं। पर यह संख्या में बहुत ही कम होती हैं। अधिकतर एक गाँव की स्थानीय बाजार में एक वस्तु बेचने वाली एक-एक दूकान होती है। बहु वस्तुयें बेचने वाली भी एक दो दूकानें होती हैं। अधिकतर बहुवस्तुयें बेचने वाली दूकानों का गाँव में चलन हैं।

इस स्थानीय बाजार के अतिरिक्त बहुत से लोग गाँव में अपनी चीजें अपने घरों पर हीं बेचते हैं। शहर की तरह उनके घर और दूकान अलग-अलग नहीं होते। ज्यादातर एक ही में होते हैं। जैसे तेली, तंबोली, मोची, बढ़ई, लोहार, भड़भूंजा यह सब लोग अपना माल अपने घर ही पर बेचते हैं। कारण यह है कि एक तो इनके पास माल बहुत कम होता है। खरीदने वाले भी कम होते हैं और साथ ही वे लोग खेती भी करते हैं। अतएव वे अपनी दूकान अधिकतर स्थानीय बाजार में नहीं रखते।

गाँव के बाजार में उन व्यापारियों और महाजनों को भी शामिल करना जरूरी है जो गाँव वालों को बहुत ऊँचे व्याज पर रुपिया फसल बोने के समय देते हैं और यह बचन ले लेते हैं या लिखवा लेते हैं कि

वे अपना माल उनके हाथों एक निश्चित मूल्य पर वेच देंगे। इस प्रकार गाँव वालों को अपना माल वहुत सस्ता इन लोगों के हाथ वेचना होता है।

कुछ कारखाने वाले भी जैसे तेल, शक्कर, कपड़े के कारखाने वाले काफ़ी रुपिया गाँव में ब्याज पर पहले से कर्जे के रूप से बाँट देते हैं और तिलहन गन्ना, कपास आदि कच्चा माल वहुत सस्ता खरीद लेते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऊँचे ब्यांज और कम दाम की दोहरीमार से गाँव वालों को वहुत हानि होती है और उनकी ग़रीबी और ऋण में सदैव वृद्धि ही होती रहती है।

(२) हाट या पैंठ

न तो किसान और कारीगर लोग अपना सारा माल गाँव में वेच ही सकते हैं और न वहाँ के लोग अपनी सारी जरूरत की चीजें वहां खरीद ही सकते हैं। दूसरे शब्दों में हमारी ग्रामीण बाजार का क्षेत्र वहुत ही सीमित रहता है। पर कठिनाई खरीदने वाले और वेचने वाले दोनों को है। एक गाँव के किसान यदि काफी गुड़ या तेल वनावें तो उसे कहां वेचें। इसी प्रकार यदि गाँव वालों को नाना प्रकार के कपड़ों, मिठाइयों, खिलौनों और चूड़ियों आदि की जरूरत हो तो वह कहां से खरीदें। इसका केवल एक उपाय यही था कि दोनों शहर की बाजार में जाकर अपनी जरूरत पूर्ण करें। पर शहरों के दूर होने के कारण और वहुत सी कठिनाइयों के कारण प्राचीन काल से हमारे गाँवों में 'हाट' या पैंठ का रिवाज चला आ रहा है जिनके ऊपर दोनो पक्षों को अर्थात्, वेचने व खरीदने वाले दोनों को सुविधायें मिल जाती हैं। गाँव वालों को वहुत कुछ जरूरी सामान मिल जाता है और वेचने वालों का वहुत कुछ सामान बिक जाता है।

हाट और पैंठ के लक्षण :—

१—यह सामयिक बाज़ार है, जहाँ कुछ समय के लिये (५, घंटों के लिये) माल बेंचने और खरीदने वाले एकत्रित हो जाते और क्रय-विक्रय कर लेते हैं।

२—यह सप्ताह में एक या दो दिन कई एक गाँवों के बीच केन्द्रीय स्थान पर लगती हैं। कहीं रविवार को कहीं मंगलवार को कहीं दोनों दिन।

३—इनमें साधारणतया सब प्रकार की गाँव वालों की ज़रूरत की चीजें बिकने आ जाती हैं। जैसे अनाज, तरकारी, कपड़ा, मिठाई, खिलौने, निमक, मसाला, पान, कत्था, सुपारी, मिट्टी के लकड़ी की चीजें, मांस मछली इत्यादि।

४—पैंठ में प्रायः एक ही वस्तु की बिक्री अधिकतर होती है तरकारी, या कपड़ा या जूता या अनाज की पैंठ। पर अब आम से पैंठ का रूप भी हाट ही का होगया है।

इन हाटों और पैठों से गाँवों में अच्छी चहल पहल हो जाती और उनमें काफी भीड़ भाड़ और खेल तमाशे भी रहते हैं। ५, मील के भीतर के लोग हाट में आजाते हैं, पैदल तो लोग अधिक आते ही हैं कुछ लोग घोड़ों और बैलगाड़ियों पर भी आते हैं। दोपहर से सायंकाल तक रहते हैं और ८, ६ बजे तक उठ जाते हैं इनमें भाव ताव खूब होता है और भाव जल्दी-जल्दी चढ़ता उतरता रहता है। हाट या पैंठ के उठने के समय भाव बहुधा गिर जाता है क्योंकि उस समय वेचने वाले भाव वेच देने की जल्दी में रहते हैं फल, तरकारी मछली मांस ऐसी वस्तुओं का भाव अन्त में काफी गिर जाता है क्योंकि न बिकने से वह दूसरे दिन खराब हो सकती है और तब उतने भी दामों की आशा उन्हें नहीं रहती।

(३) मेले और नुमायशें

हाट और पैंठ के अतिरिक्त वर्ष में कई बार निश्चित समय पर कुछ मेले भी लगते हैं। यह त्योहारों और धार्मिक अवसरों पर लगते हैं जैसे होली, दीवाली, दशहरा किसी देवी देवता के स्थान पर या नदियों के किनारे पर्व के अवसरों पर जैसे गंगा स्नान, झूले का मेला, चैत्र में रामनवमी का मेला, कुम्भ का मेला इत्यादि। इन मेलों में बाजार का क्षेत्र काफी विस्त्रित हो जाता है क्योंकि उनमें बहुत दूर-दूर से व्यापारी आते हैं। बहुत सी वस्तुयें आती हैं और खरीदनेवाले भी बहुत दूर-दूर से आ जाते हैं। हाट और मेलों का कोई विशेष रूप से संगठन नहीं करता वे परम्परा के अनुसार चले आते हैं।

नुमायशें भी अब बहुत होने लगी हैं। इनका संगठन विशेष रूप से या तो सरकार की ओर से होता है या कुछ सार्वजनिक संस्थाओं की ओर से होता है। जैसे स्वदेशी प्रदर्शिनी प्रयाग या लखनऊ, खेती की नुमायशें जिनमें मवेशी, खेती के औजार, बीज, पैदावार और आधुनिक कृषि मशीनें दिखाई जाती हैं। कृषि विभाग, सहकारी और ग्राम सुधार विभाग अब इन मेलों और नुमायशों के संगठन में विशेष रूप से भाग ले रहें हैं और इन में ग्रामीण माल की बिक्री भी खूब होती है।

———

बारहवाँ अध्याय

ग्रामीण सम्पत्ति का क्रय-विक्रय

अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि गाँव के लोग अपने पैदा किये हुए माल को कैसे बेचते हैं और उन्हें इसमें किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

किसान की फ़सल की बिक्री

फ़सल बेचने में किसान की मुख्य कठिनाइयाँ :—

१—वह अशिक्षित है। अतः उसे आधुनिक क्रय-विक्रय के ढंग नहीं मालूम हैं और न बाजारों का कुछ हाल ही वह जानता है।

२—वह बहुत ग़रीब है और उसकी खेती से पैदा की हुई सम्पत्ति इतनी थोड़ी है कि वह उसे कहीं बेचने के लिये दूर भी नहीं ले जा सकता।

३— महाजन, जमींदार, पुरोहित, नाई, कहार, बढ़ई लोहार आदि सब फ़सल तैयार होते ही दौड़ते हैं और खलिहान से ही अपना-अपना हिसाब किताब शुरू कर देते हैं। अतएव उसे फ़सल तुरन्त ही बेचनी पड़ती है। और चूँकि उसी समय अधिकतर किसानों को फ़सल बेचनी पड़ती है और खरीदार वहाँ पर बहुत थोड़े ही होते हैं इसलिये पूर्ति बाजार में अधिक और मांग कम होती है। इसके फल स्वरूप फ़सल का भाव गिर जाता है। उसको दाम बहुत कम मिलता है।

४— कभी-कभी महाजन या ज़मींदार से खेती के लिये पूँजी-आदि लेने के कारण उसे फ़सल एक पूर्व निश्चित भाव पर उनके हाथ बेचना पड़ती है जो बाजार भाव से भी कम होता है। इस प्रकार भी उसे हानि ही होती है।

अब हमें देखना है कि फ़सल बेचने की मुख्य प्रणालियां क्या हैं और उनमें क्या दोष है :—

यह प्रणालियाँ निम्नलिखित तीन प्रकार की है :—

(१) महाजनों के हाथ फ़सल बेचना।

(२) व्यापारियों के हाथ बेचना।

(३) मंडी में बेचना।

(१) महाजनों के हाथ फ़सल वेचना

हमारे देश में किसान सदैव से, परम्परा से ऋण-ग्रस्त चला आ रहा है। निर्धन होने के कारण उसे हर एक काम के लिये महाजनों की शरण लेनी ही पड़ती है। बिना ऋण लिये हुए, और वह भी बहुत बड़ी सूद की दर पर, उसका न तो खेती का ही काम चलता है और न घर का। महाजन उसकी आर्थिक सहायता तो अवश्य करता है पर साथ ही उसको चूसता भी खूब है अर्थात् उसका शोषण (Exploitation) भी खूब करता है। दूसरे शब्दों में वह उसकी गरीबी, मूर्खता और निर्बलता से लाभ भी बहुत उठाता है।

यही कारण है कि महाजन जब उसे रुपिया देता है तो यह शर्त लगा देता है कि किसान अपनी फ़सल पहिले उसी के हाथ वेचेगा। और इस निश्चित भाव या दर मे वेचेगा, जो वास्तव में बाजार भाव से बहुत ही नीचा होता है। यदि बाजार भाव ३ सेर फ़ी रुपिया का है तो उसे ४ सेर फ़ी रुपिया के हिसाब से महाजन को देना पड़ता है। इस प्रकार दोनों प्रकार से उसे हानि उठानी पड़ती है। एक तो वह ऊँचे दर से व्याज देता है और दूसरे नीची दर से या कम भाव से माल वेचना पड़ता है।

(२) व्यापारियों के हाथ फ़सल वेचना

कभी-कभी किसान अपनी फ़सल व्यापारियों के हाथ वेचता है। कुछ बड़े व्यापारी और उनके कारिंदे या एजेंट गाँवों में घूम-घूम कर किसानों की फसल सस्ते दामों पर खरीदते हैं और शहरों में तथा विदेश में ऊँचे दामों पर वेचकर बहुत लाभ उठाते हैं। उनके हाथ कम दामों पर किसान को निम्न कारणों से वेचना पड़ता है :—

(क) किसान शहर की बाज़ार का भाव नहीं जानता। जो कुछ व्यापारी झूठ सच कहते हैं उस पर विश्वास करता है।

(ख) उसे महाजन जमींदार आदि की मांगों के कारण बेचने की जल्दी रहती है।

(ग) गाँव में पूर्ति की अधिकता के कारण और किसानों की पारस्परिक स्पर्धा के कारण भी भाव गिर जाता है।

व्यापारी को मध्य-पुरुष (Middle man) कहा जाता है, क्योंकि वह किसान या किसी भी उत्पादक पुरुष और उपभोग करने वाले पुरुष के बीच का मध्य पुरुष है वह एक ओर से सम्पत्ति लेकर दूसरी ओर उपभोगताओं के हाथ बेचता है। वह माल खरीदता भी है और बेचता भी है। कम दाम पर खरीद करके ज्यादा दाम पर बेचकर ही वह अपना पेट पालता है और लाभ उठाता है। किसान की निर्बलता, मूर्खता और ग़रीबी से वह भी काफी लाभ उठाता है।

कुछ विद्वानों का विचार है कि यह मध्य पुरुष एक बहुत ही हानिकारक पुरुष है जिससे किसान को बड़ी क्षति पहुँचती है और महाजन के समान वह भी किसानों का शोषक (exploiter) है। अतः उसे नष्ट कर देना चाहिये, जिसमें जो लाभ उसे हो रहा है वह किसान को हो।

पर साथ ही कुछ और विद्वानों का यह मत है कि मध्य-पुरुष या व्यापारी एक बहुत ही आवश्यक पुरुष है वह बहुत ज़रूरी काम करता है। वह माल की पूर्ति, मांग और उसके खपत का पता लगाता रहता है और उसे इकट्ठा करके जहाँ २ आवश्यकता होती हैं भेजता है। इस काम में कौशल और बुद्धिमानी की आवश्यकता है, प्रत्येक पुरुष इस कार्य्य को ठीक ठीक नहीं कर सकता, इसके लिये भी उचित ज्ञान, अनुभव और रुचि की आवश्यकता है। भारतवर्ष में यह काम

और भी कठिन है, क्योंकि किसान लोग शहरों से दूर गाँवों में छिटके हुए हैं और आवागमन की सुविधाएँ भी कम हैं। साथ ही वे अपढ़ होने के कारण बाज़ार की दशा भी नहीं जानते और थोड़ा थोड़ा माल पैदा करने के कारण अच्छी बाज़ार में बेच भी नहीं सकते। अतएव इन व्यापारियों का विनाश कर देने के स्थान में उनके काम पर सरकार की ओर से काफ़ी रोक थाम और निगरानी होनी चाहिये।

और आजकल जब बाज़ार अन्तर्राष्ट्रीय हो रहे हैं व्यापरियों के काम और वर्ग को सर्वथा नष्ट तो किया ही नहीं जा सकता। यदि कोई किसान या उत्पादक भी इस कार्य्य को अपने हाथ में लेगा तो वह भी कुछ समय के पश्चात् जब उसमें काम में उत्पादन की अपेक्षा अधिक लाभ होने लगेगा, उसी वृत्ति का हो जायगा और वह भी अपने भाई किसानों का गला काटने लगेगा। अर्थात् उनसे कम से कम दाम पर माल लेने का और बाज़ारों में अधिक से अधिक दाम पर बेचने का भरसक प्रयत्न करेगा। अतः जब तक व्यापार होगा व्यापारी भी अवश्य होगा।

मंडी में फ़सल बेचना

हम नित्य प्रति देखते हैं कि बहुत सी अनाज के बोरों से भारी बैलगाड़ियाँ पास के गाँवों से शहरों की बाजारों और मंडियों में आया जाया करती हैं। वास्तव में यह माल उन किसानों का है जो अपनी फ़सल गाँव में महाजन या व्यापारी के हाथ न बेचकर स्वयम् मंडी में बेचने के लिये आते हैं। हाँ इसमें से बहुत सा माल व्यापारियों द्वारा भी खरीदा हुआ होता है। पर यहाँ भी किसान का दुर्भाग्य उसके साथ ही रहता है और कुछ कारणों से उसे अच्छे दाम नहीं मिल पाते। वे कारण यह हैं :—

१—दलाल लोग उससे दलाली लेते हैं क्योंकि वे माल के बेचने में उसकी सहायता करते हैं। वे शहर के या मंडी के आढ़तियों से

उनको मिलाते हैं और सौदा तय करवाते हैं। वह व्यापारियों से मिले रहते हैं।

२—माल तौलने वालों को भी उसे तौलाई देनी पड़ती है।

३—कुछ और लोगों को भी जैसे भिश्ती व भगी को पुण्य खाते में उसे देना पड़ता है।

दस्तकारी की चीज़ों की बिक्री

जिस प्रकार किसान को अपने खेती के माल को बेचने में कम दाम मिलते हैं और अनेक कठिनाइयाँ होती हैं उसी प्रकार दस्तकार या कारीगर को भी अपनी चीज़ों का दाम बहुत कम ही मिलता है। जैसे जुलाहा, तेली, चमार, रस्सी व चटाई बनाने वाले, टोकरी बनाने वाले, बढ़ई, लोहार आदि सब का वही हाल है।

यह लोग भी पहिले गाँव में ही अपना माल वेचने का प्रयत्न करते हैं और दर से कम दाम पाते हैं। वहाँ जाकर घूम फिर कर या बाजार में बैठकर माल वेचने में समय बहुत नष्ट होता है और कभी कभी बिकता भी नहीं और टैक्स भी देना पड़ता है!

व्यापारी और महाजन लोग इन कठिनाइयों को जानते हैं और उनसे खूब लाभ उठाते हैं।

हाटों, पैठों और मेलों तथा नुमायशों में भी यह लोग माल वेचने का भरसक प्रयत्न करते हैं।

किसानों की अपेक्षा उनकी दशा इस बात में अच्छी है कि वे अपना माल आसानी से ले जा सकते हैं और घूम फिर कर गाँवों और शहरों में वेच सकते हैं। फिर भी बहुत अच्छे दामों पर वे अपना माल नहीं बेच पाते।

बिक्री की रीति में सुधार

ऊपर के कथन से यह बात प्रकट है कि हमारे गाँवों की खेती और दस्तकारी की चीजों की बिक्री की रीति या प्रणाली दोषपूर्ण है, अतः उसमें सुधार की बहुत आवश्यकता है। यह सुधार निम्नांकित ढंगों से किया जा सकता है और शीघ्र ही होना चाहिये :—

(१ शिक्षा का प्रचार—साधारण शिक्षा और व्यापारी शिक्षा दोनों की किसान और दस्तकार दोनों को महान आवश्यकता है, इससे उन्हें बाजार की दशा का ज्ञान ठीक ठीक हो सकेगा और उसके अनुसार वे अपना माल बेचने का प्रबन्ध भी कर सकेंगे।

(२) माल को गाँव से शहरों की बाजारों, मंडियों, स्टेशनों और हाटों, मेलों आदि में ले जाने के लिये वस्तु-वाहक साधनों की उन्नति होनी चाहिये। गाँवों के कच्चे रास्तों और पगडंडियों से काम नहीं चल सकता, वर्षाऋतु में तो वे एक दम बेकार ही हो जाते हैं। यदि गाँव पक्की सड़कों द्वारा बड़ी २ सड़कों से मिला दिये जावें तो मोटर-बस आदि से भी लाभ उठाया जा सकता है और बैलगाड़ियाँ भी अच्छी तरह आ जा सकती हैं।

(३) साथ ही महाजनों दलालों और व्यापारियों के ऊपर भी कड़ी नज़र रखनी पड़ेगी और उनके अनुचित व्यवहारों, धोकेबाजियों और शोषण से किसानों को बचना पड़ेगा। इस कार्य्य के लिये कुछ सरकारी अफ़सरों की जैसे मारकेटिंग आफिसर (marketing officer) को नियत करना होगा जो इस बिक्री के काम का निरीक्षण करते रहें और उन लोगों पर रोक थाम रक्खें जो बिचारे अपढ़ मूर्ख किसानों को धोखा दिया करते हैं और उन्हें लूटते रहते हैं।

(४) (Co-oprative Marketing or sellers societies)

बिक्री की सहकारी समितियाँ खोलकर किसानों के माल को अच्छे से अच्छे दाम पर बड़े बड़े बाजारों में बेचा जा सकता है।

किसान लोग इन समितियों के सदस्य बन जाते हैं। उनको अपना सारा माल बाजार भाव से बेच देते हैं, और वे फिर उस माल को इकट्ठा करके ऊँची दर से बड़े बड़े दूर दूर के बाजारों में बेच देती हैं, जो लाभ उन्हें होता है वह सदस्यों में माल के हिसाब से बाँट दिया जाता है। यह समितियाँ बड़ी लाभदायक हैं, और देशों में वे खूब काम कर रही हैं। पर हमारे देश में अभी उनका यथेष्ट प्रचार नहीं हुआ है।

(५) किसानों के ऋण भार को हटाना

जब तक किसान महाजनों के चंगुल में फंसा रहेगा वह अपने माल को कहीं और न बेच सकेगा न उचित समय की प्रतीक्षा ही कर सकेगा। अतः इस बिक्री की समस्या के साथ साथ ऋण समस्या को भी हल करना होगा। और उसके लिये भी सहकारी ऋण समितियां काफ़ी संख्या में प्रत्येक गाँव में खोलना पड़ेगी। तभी कुछ सुधार सम्भव होगा।

प्रश्न

(१) क्या गांव वालों को अपने माल के दाम अच्छे मिलते हैं? यदि नहीं तो क्यों नहीं?

(२) बिक्री के समय का मूल्य पर क्या प्रभाव पड़ता है? उदाहरण देकर समझाइये!

(३) गांव में फ़सल बेचने के क्या तरीके हैं? उनमें क्या दोष हैं?

(४) गांव के क्रय--विक्रय में महाजन का क्या हाथ है? वह कैसे किसानों का शोषण करता है?

(५) व्यापारी लोग कैसे फ़सल खरीदते हैं? क्या वे किसानों

के लिये हानिकारक हैं ? यदि हैं तो क्या उनका विनाश आवश्यक हैं ?

(६) हाट, पैंठ और मंडी में क्या अन्तर है ? ठीक २ समझाइये। उनका मेलों और नुमायशों से सम्बन्ध स्थापित कीजिये।

(७ `। विक्री की प्रणाली में कैसे सुधार किया जा सकता है ?

तेरहवां अध्याय

वितरण

(Distribution)

अभी तक गत अध्यायों में हमने यह अध्ययन किया कि मनुष्य की कुछ आवशकताएं होती हैं, जिनको सन्तुष्ट करने के लिये वह सम्पत्ति उत्पन्न करता है और फिर उसका विनिमय करके वह रुपिया पैसा कमाता है। पर अभी एक बात और विचारणीय है, और वह यह कि जो सम्पत्ति किसी भी रूप में कभी भी और कहीं भी उत्पन्न की जाती है वह सामूहिक रूप से ही उत्पन्न की जाती है अर्थात् उसमें कई व्यक्तियों के सहयोग या सहायता की सदैव आवश्यकता होती है और इस का स्पष्ट रूप से कारण यह है कि सम्पत्ति के उत्पादन में हमें पांच साधनों की आवश्यकता साधारणतया रहती है अर्थात् (१) भूमि, (२) श्रम, (३) पूँजी, (४) प्रबन्ध, और (५ साहस।

इस प्रकार इन पाचों साधनों को प्रस्तुत करने वाले पांच व्यक्ति भी होते हैं अर्थात् भूमिपति, श्रमिक, पूँजीपति, प्रबन्धक, और साहसी।

अतएव जो सम्पत्ति उत्पन्न की जाती है वह इन पांचों सहयोगियों की ही सम्पत्ति सम्मिलित रूप से होती है। तो उसे बेचने पर जो धन या रुपिया मिलता है वह भी इन्हीं पांचो का होता है।

तो अब प्रश्न विनिमय के पश्चात यह उठता है कि इस सम्मिलित धन को इन पांचो में कैसे बाटा जाय, जिसमें प्रत्येक को, उसका एक भाग, उसकी सेवा के अनुसार 'न्यायपूर्ण रूप से मिल सके। यही भाग, उस सहयोगी की. व्यक्तिगत रूप से निजी आय होगी, जिसे वह अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये, अपनी इच्छा के अनुसार, स्वतन्त्रता पूर्वक, व्यय करने का अधिकारी होगा।

अर्थशास्त्र के 'वितरण' विभाग का यही विषय है कि इस सम्मिलित रूप से उत्पन्न की हुई सम्पत्ति को उन पांचों सहयोगियों में व्यक्तिगत रूप से कैसे बाटा जाय या वितरित किया जाय।

अत: 'वितरण' में उन नियमों और सिद्धान्तों का अध्ययन किया जाता है, जिनके द्वारा उत्पत्ति के उक्त पांचों सहयोगियों में उत्पन्न की हुई सम्पत्ति का या उसके मूल्य का बटवारा किया जाता है और उनकी व्यक्तिगत आय का निर्धारण होता है।

वितरण द्वारा उत्पादन के प्रत्येक सहयोगी को उसकी सेवा या सहायता का पुरस्कार मिल जाता है। जो निम्नाकिंत तालिका से स्पष्ट हो जाता है।

उत्पत्ति के साधन,	साधन का स्वामी, या सहयोगी	पुरस्कार
(१) भूमि	भूमि पति (ज़मीदार)	लगान या किराया
(२) श्रम	श्रमिक (मज़दूर)	मज़दूरी
(३) पूँजी	पूँजी पति	सूद या ब्याज

(४)	प्रबन्ध	प्रबन्धक	वेतन या तन्ख्वाह
(५)	साहस या जोखिम	साहसी	लाभ या मुनाफ़ा,

कृषि या खेती में वितरण

अब हमें यह देखना है कि कृषि में या खेती में उत्पन्न की जाने वाली सम्पत्ति का वितरण कैसे होता है और उसमें इन पांचों सहयोगियों का भाग कैसे निर्धारित होता है।

साधारणतया जब कोई भी किसान खेती करने का विचार करता है अर्थात् साहस करता है तो उसे सबसे पहिले भूमि की आवश्यकता होती है और वह अपने गांव के ज़मीदार की खुशामद करता है और अन्त में किसी प्रकार उसे प्रसन्न करके (नज़राना देकर) जितनी भूमि आसानी से उसे मिल सकती है उसको पहले लेता है और कुछ सालाना लगान देने को तय्यार हो जाता है।

भारतीय किसान के पास भूमि बहुत थोड़ी होती है और वह भी छोटे २ खेतों में बटी होती है। अतः वह खेती बहुत छोटे पैमाने पर करता है। विदेशों के समान बहुत बड़े पैमाने पर नहीं, और इसी लिये उनके समान वह बड़ी २ मशीनें और नए १ वैज्ञानिक तरीकों का भी खेती में प्रयोग नहीं कर सकता अर्थात् उसकी पूंजी भी बहुत कम होती है। उसकी पूंजी में सबसे आवश्यक चीज़ें हल और बैल हैं और उनके बाद खाद और बीज। इनके अतिरिक्त कुछ और भी आवश्यक वस्तुएँ होती हैं। आम तौर से इस सारी पूंजी के लिये उसे महाजन से रुपिया उधार लेना होता है, जिसके लिये वह प्रोनोट लिखता है और जो ब्याज वह मांगता है उसे देने को वह तैयार हो जाता है, क्योंकि बिना उन सब वस्तुओं के वह खेती में एक पग भी नहीं बढ़ सकता।

इस प्रकार वह भूमि और पूंजी का प्रबन्ध कर लेता है और तब अपना और अपने परिवारवालों का श्रम उसमें लगाता है। खाद डालने में, खेत जोतने में, बीज बोने में वह स्वयम् कार्य्य करता है और अपनी स्त्री और बच्चों से काम लेता है। साथ ही साथ कुछ कठिन कार्य्यों के लिये, जिनमें और भी अधिक मेहनत की ज़रूरत होती है, वह बाहर से कुछ श्रमिकों या मज़दूरों को भी लाता है, जिनसे उसे मजदूरी तै करना होती है और नित्य प्रति देनी भी होती है, जैसे सिंचाई, निराई, कटाई आदि के लिये उसे मजदूरी पर मजदूर लगाने पड़ते हैं। इस मजदूरी के लिये भी उसे रुपये की या पूंजी की आवश्यकता होती है।

भूमि का लगान और पूंजी और उसका ब्याज तो वह खेती के अन्त में फ़सल तय्यार होने पर देता है, पर और बहुत से खर्चे उसे खेती करते समय फ़सल तय्यार होने के पूर्व ही करते रहने पड़ते हैं। हाँ गाँव के कुछ अन्य कार्य-कर्ताओं और खेती के सहायकों को, उसे फ़सल तय्यार होने पर ही, उनका पुरस्कार देना होता है। जैसे पुरोहित, बढ़ई, लोहार, गोड़इत, चमार, बारी, कुम्हार इत्यादि।

इस प्रकार कुछ मजदूरी तो उसे फसल से पहले देना रहती है पर कुछ मजदूरी, पूंजी और ब्याज तथा लगान उसे अपनी फसल बेचकर देने होते हैं। और फिर उसमें से जो कुछ बचता है वह उसके अपने और अपने परिवार के श्रम और प्रबन्ध की मजदूरी और वेतन मिलता है और अपने साहस या जोखिम का लाभ। यदि सब की मांग पूरी करने के बाद कम बचा या कुछ न बचा तो उसको हानि उठानी पड़ती है। और अपने जीवन निर्वाह अथवा फिर खेती करने के लिये उसे महाजन की फिर शरण लेनी पड़ती है। इस प्रकार उसकी निर्धनता और ऋण का कुचक्र चलता रहता है और उसे कष्ट पर कष्ट झेलने पड़ते हैं और वह पनप नहीं पाता।
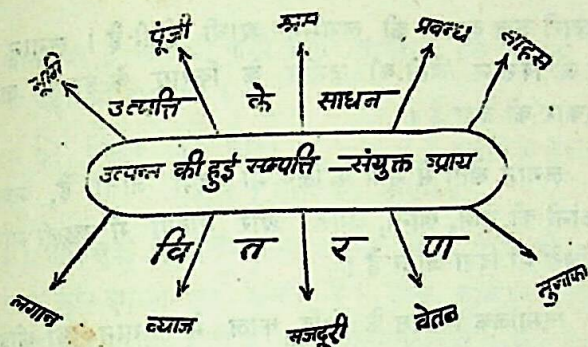
चित्र १३

लगान (Rent)

उत्तरी भारत में ज़मींदारी प्रथा अभी चल रही है, यद्यपि प्रान्तीय सरकारें उसे तोड़ने का विचार कर रही है। हमारे प्रान्त, उत्तर प्रदेश (U. P.) में ज़मींदारी उन्मूलन का क़ानून लगभग पास हो गया है और १५ अगस्त १९५० तक सरकार ने ज़मींदारी उन्मूलन (Abolition of Zamindari) का पूर्णरूप से निश्चय भी कर लिया है।

इस प्रथा के अनुसार ज़मींदार अपनी ज़मीन का स्वामी है, पर सरकार देश की समस्त भूमि की मालिके आला कही जाती है अतः ज़मींदार और ताल्लुक़दार लोग सरकार को अपनी अपनी ज़मीन के अनुसार कुछ सालाना रक़म देते हैं जिसे मालगुज़ारी कहते हैं, और उनको अपनी भूमि में सारे अधिकार मिले हुए हैं, जैसे वे ज़मीन को वेच सकते हैं, रेहन कर सकते हैं और अपनी इच्छा से जिसे चाहें दे सकते हैं। उनके स्वर्गवास के पश्चात् वह उनके क़ानूनी उत्तराधिकारियों को मिल जाती है।

उन्हें यह भी अधिकार है कि अगर वे चाहें तो उसमें से असामियों या किसानों को भी लगान पर दे सकते हैं। आमतौर से माल-

गुज़ारी कुल लगान की लगभग आधी होती है। लगान वह रक़म है जो किसान खेती की ज़मीन के किराए के रूप में ज़मींदार या सरकार को देता है।

लगान खेती में भूमि के लिये भी दिया जाता है, मकानों और दूकानों की भूमि, खानों, जंगलों और नदियों में मछली मारने आदि के लिये भी दिया जाता है।

सामाजिक विकास के आदि काल में लगान का कोई विशेष प्रश्न नहीं था क्योंकि उस समय भूमि बहुत थी और उसके प्रयोग करनेवाले मनुष्य बहुत कम। जो जितनी भूमि चाहता था उसपर अधिकार कर लेता था। ज्यों ज्यों जनसंख्या में वृद्धि होती गई त्यों त्यों खाद्य सामग्री की आवश्यकता बढ़ती गई और खेती के लिये भूमि की मांग भी बढ़ती गई। फलतः भूमि का लगान भी दिया जाने लगा और उसकी कदर बढ़ती गई।

वास्तव में जिनके पास भूमि कम थी उन्होंने ज्यादा भूमि वालों से इस शर्त पर ज़मीन ली कि वे उसकी उपज का कुछ भाग उन्हें पुरस्कारस्वरूप दिया करेंगे। इसी आवश्यकता और प्रथा से लगान का जन्म हुआ। पहले लगान उपज के एक भाग के रूप में अनाज में लिया गया, और फिर सुविधा के लिये उसको रुपियों में निश्चित किया गया।

उस स्वर्ण युग में किसानों और ज़मींदारों का सम्बन्ध बहुत अच्छा और सहानुभूति पूर्ण था। ज़मींदार अपने असामियों को अपनी प्रिय प्रजा समझता था और उससे बड़ा स्नेहमय व्यवहार करता था और उसकी भलाई या बुराई में अपनी भलाई व बुराई समझता था। यह सम्बन्ध बड़ा ही उत्तम था और इससे दोनों ही का कल्याण था। यद्यपि उस समय लगान रस्म व रिवाज के अनुसार

ही लिया जाता था। फिर भी कभी कभी ज़मींदार उसे किसानों की रज़ामन्दी से बढ़ा भी देता था।

लगान दो प्रकार का होता है :—(१) आर्थिक लगान; (२) निश्चित लगान।

(१) आर्थिक लगान—यह लगान किसी खेत की कुल पैदावार तथा कुल लागत का अन्तर है। जिस भूमि पर खेती की लागत व पैदावार बराबर होती हैं वह बे लगानी भूमि (No rent lnad) कहलाती है।

आर्थिक लगान उस खेत या भूमि पर होगा, जिसकी उपज, लागत बराबर होते हुए, बे लगानी खेत या भूमि से अधिक है, और उसकी मात्रा उन दोनों की उपज के अन्तर के बराबर होगी।

निम्नांकित चित्र से आर्थिक लगान का भाव स्पष्ट हो जायगा।

	अ	ब	स	
१० मन कुल उपज	आर्थिक लगान ४ मन	आर्थिक लगान २ मन	८ मन उपज	
	लागत ६ मन	लागत ६ मन	लागत ६ मन = उपज	६ मन उपज के बराबर

'स' भूमि पर लागत व उपज बराबर हैं—अतः इस पर कोई आर्थिक लगान नहीं है, 'अ' पर ४ मन और 'ब' पर २ मन आर्थिक लगान है।

(२) निश्चित लगान—वह लगान है, जो ज़मींदार और किसान में निश्चित होकर, किसान द्वारा ज़मींदार को दिया जाता है।

एक समय था जब हमारे देश में यह लगान निश्चित था और किसान लोग एक ही दर से परम्परा से उसे पीढ़ी दर पीढ़ी देते चले आते थे पर गत ५० वर्षों में और विशेषकर प्रथम महायुद्ध के बाद से यह बढ़ता ही जा रहा है। इस वृद्धि के मुख्य कारण यह हैं :—

(१) योरुपीय प्रथम महायुद्ध के समय योरुप में अनाज की मांग बहुत बढ़गई इसलिये भारतवर्ष में 'व्यापारिक कृषि' (Commercial agriculture) का आरम्भ हुआ अर्थात् विदेशों में अनाज वेचने के लिये अधिक अनाज पैदा किया जाने लगा। परिणाम स्वरूप भूमि की मांग भारत में भी बहुत बढ़ गई और इसलिये भूमि का लगान भी बहुत बढ़ गया।

(२) जन संख्या के निरन्तर बढ़ते रहने से भी अनाज और भूमि की मांग बढ़ती गई और लगान भी बढ़ता गया। किसानों में परस्पर स्पर्धा भी बढ़ गई।

(३) आधुनिक जीवन की सामाजिक आवश्यकतायें बढ़ गईं और उनके साथ-साथ भूमि की भी अधिक आवश्यकता हुई जैसे नये नगर बसाने के लिये पुराने नगरों को बढ़ाने के लिये, कैन्टूनमेन्ट और एरोड्रोमस बनाने के लिये, रेलें निकालने के लिये बाजार कारखाने खेल के मैदान, विश्वविद्यालय, नुमायशगाहें सिनेमाघर, घुड़दौड़ के मैदान आदि के लिये बहुत सी भूमि की आवश्यकता बढ़ गई और बहुत सी भूमि इन कामों में लगाई। अतः उसका लगान बढ़ जाना आवश्यक था।

इसके अतिरिक्त जमींदारों की और ज्यादतियां या अत्याचार भी बढ़ गये, जैसे मनमाना लगान बढ़ा देना. बेगार लेना, नजराना लेना, किसानों को जब जी चाहे बेदखल कर देना और उनकी जमीन छीन लेना। इसको रोकने के लिये सरकार ने 'किसानी कानून' बनाया।

यह क़ानून 'टिनैनसी लॅजिस्लेशन (Tenancy Legislation) के नाम से प्रसिद्ध है। इसके मुख्य उद्देश्य यह हैं :—

१—ज़मीदारों को मनमाना लगान बढ़ाने से रोकना।

२—किसानों को बेदखली से बचाना।

३—ज़मीदारों के अन्य अत्याचारों, बेगार नज़राना आदि से किसानों की रक्षा करना। इन क़ानूनों से पूरा लाभ न होते देख और समाजवादी तथा साम्यवादी और प्रजातन्त्री विचार धाराओं के बढ़ते वेग के कारण अब जमीदारी उन्मूलन का ही सरकार ने निश्चयकर लिया है। इस विषय पर उचित स्थान पर फिर विचार किया जावेगा यहाँ पर इतना कहदेना आवश्यक है कि इस समय अधिकतर भारतीय किसानों को लगान इतना अधिक देना पड़ता है कि उनकी आय या लाभ का एक बहुत बडा अंश उसमें चला जाता है।

सूद या व्याज

(Interest)

भारतीय किसान की खेती में बहुत से दोष बताए गये हैं उन्हीं के कारण वह लाभदायक होने के स्थान में अत्यन्त हानिकारक है। यही उसकी निर्धनता का एक मात्र कारण है। अतः खेती की पैदावार इतनी कम होती है कि न तो वह उसमें से लगान दे पाता है और न पूँजी का मूलधन और व्याज ही अदा कर पाता है। यदि वह यह सब अदा भी कर देता है तो फिर वह और सब खर्चे कहाँ से निकाले। उसे अपने परिवार का भरण पोषण, शादी व्याज मुँडन और मर्ग, मुकदमेबाजी सभी कार्यों के लिये तो रुपिया चाहिये। फिर यह आवे कहां से? सिवाय अपने महाजन के और कोई उसे समय पर उधार दे भी नहीं सकता है। शहरों में वह किसी को जानता नहीं न कोई उसे ही जानता है। हाँ कभी-कभी जेवर गिरवी रखकर सराफ़ों और सेठों

से वह कुछ रुपिया जरूर ले आता है। जमींदार भी कभी-कभी उसे ऋण दे देता है पर बहुत कम।

अन्त में उसे महाजन की ही शरण लेनी पड़ती है, वह अपने गांव के और पास के गांवों के किसानों को भली भांति जानता है। उनकी माली हालत और हैसियत भी समझता है। अतः उन्हें रुपिया उधार देने को सदा तैयार रहता है। पर वह उन्हें खूब लूटने का भी प्रयत्न करता है। उसके इस लेन देन के काम में कई दोष हैं जो किसान के लिये बहुत हानिकारक हैं पर किसान अपनी परिस्थिति से विवश है :—

गाँव के महाजनो कार्य-प्रणाली में दोष :—

(१) वह मूलधन (Principal) के वसूल करने पर ज़ोर नहीं देता, केवल ब्याज की ओर ध्यान देता है। किसान यह उसकी दया समझता है। पर वह नहीं जानता कि महाजन का इसी में लाभ है। वह उसकी स्थायी आय का एक स्थायी साधन है और एहसान का एहसान जिसके बोझ से वह और दूना दबा रहता है।

(२) सूद की दर भी वह ऊँची रखता है। जिसके कारण हैं :—

(क) उनकी निर्धनता और कम हैसियत।

(ख) खेती की पैदावार की अनिश्चितता।

(ग) रुपिये की मांग की अधिकता।

(घ) महाजनों में स्पर्धा का न होना।

२५ प्रति सैकड़ा या सवाई परम्परा से ब्याज की दर चली आ रही है पर अब ४०, ५० प्रति सैकड़ा और कहीं-कहीं इससे भी अधिक ब्याज की दर है।

(३) रुक्का या प्रोनोट पर हस्ताक्षर पहले करवा लेना और रकम बाद को भरना।

(४) खाता खोलाई, थैली खोलाई आदि की रस्में।

(५) हिसाब का एक तरफा रहना, क्योंकि किसान निरक्षर है। रसीद वगैरह भी उसे नहीं मिलती।

(६) काबुली और पठान महाजन उससे बड़ी निर्दयता का व्यवहार करते हैं।

किसानों को महाजनों के अत्याचार से बचाने के लिये और उनको कम व्याज पर रुपिया उधार देने के लिये निम्नलिखित उपाय निकाले गये हैं :—

१—सरकार की ओर से तक़ावी (उत्पादक ऋण) का किसानों में बांटना, जिसका व्याज बहुत कम होता है। वह १०, १२ प्रति सैकड़ा सालाना से अधिक नहीं होता। पर इसमें भी कई दोष हैं। जिन पर आगे प्रकाश डाला जायगा। इन कर्जों से किसानों को कोई विशेष लाभ नहीं है।

२—सरकार ने कुछ क़ानून बनाए हैं, जिनके अनुसार महाजन व्याज एक उचित सीमा से अधिक नहीं पा सकता। किसान के ऋण और हैसियत के अनुकूल ही व्याज की दर और व्याज की कुल रक़म निश्चित कर दी जाती है। इन क़ानूनों से किसानों को बहुत कुछ लाभ हुआ है। पर मुकदमे बाजी में उसका काफ़ी खर्चा होता है और समय भी नष्ट होता है।

३—पुराने पैत्रिक ऋणों को चुकाने के लिये भी कानून बनाये गये हैं और भूमि बन्धक बैंक भी खोले गये हैं पर उनसे ज़मींदारों और ताल्लुक़दारों का ही विशेष लाभ है जिनकी ज़मीनें गिरवीं या रेहन हैं।

४—सब से अच्छा उपाय 'सहकारी ऋण समीतियों' (Coop Credit societies) का खोलना है, जिनके सदस्य किसान लोग होते हैं, और जो शहरों के बड़े सहकारी बैंकों (Co-oprative

Banks) से १२ प्रति सैकड़ा ब्याज पर रुपिया उधार लेकर १५ से १७½ प्रति सैकड़ा पर किसान सदस्यों को उत्पादन कार्यों के लिये ऋण देती है। इनकी संख्या दिनों दिन गाँवों में बढ़ रही है और किसानों को बहुत लाभ हो रहा है। इस विषय पर आगे उचित स्थान पर सविस्तार विचार किया जायगा।

मज़दूरी

(Wages & Salaries)

सम्पत्ति के वितरण में श्रमिक को जो पुरस्कार श्रम के लिये मिलता है वह मजदूरी या वेतन कहलाता है। साधारणतया शारीरिक श्रम की जहां प्रधानता होती है वहां श्रम के पुरस्कार को मजदूरी और जहां मानसिक परिश्रम अधिक होता है वहां श्रम के पुरस्कार को वेतन कहा जाता है। जैसे एक मिल मजदूर का पुरस्कार मजदूरी और एक डाक्टर या क्लर्क का पुरस्कार वेतन कहलाता है। दोनों प्रकार के श्रमों की मूल प्रकृति एक ही होने से उनके नियमों में कोई भिन्नता नहीं समझी जाती। अतएव वेतन मजदूरी की समस्यायें भी समान हैं।

मजदूरी या वेतन दो प्रकार का होता है। एक तो यथार्थ मजदूरी (Real wages) होती है और दूसरी नक़द या नाममात्र की मजदूरी (Money or nominal wages) होती है।

यथार्थ (Real wages) मज़दूरी

मज़दूर को मज़दूरी जब वस्तुओं और सेवाओं के रूप में मिलती है या उनमें उसका अंकन किया जाता है तब वह यथार्थ (Real) या असली मज़दूरी कहलाती है, क्योंकि मजदूर को सुख और सन्तुष्टि उसी से वास्तव में मिलती है। इन्हीं वस्तुओं और सेवाओं से तो वह अपने जीवन की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

नकद या नाममात्र की मजदूरी

(Money or Nominal wages)

नकद या नाममात्र की मज़दूरी श्रम का वह पुरस्कार है जो रुपिये पैसे में मिलती है या आंकी जाती है।

मज़दूर या कार्यकर्ता सदैव असली या यथार्थ मज़दूरी की ओर ही विशेष ध्यान देता है नक़द मज़दूरी की ओर नहीं, क्योंकि उसे सदैव इसी बात की चिन्ता रहती है कि उसके श्रम के उपलक्ष में या नक़द मज़दूरी से वह कितना अन्न, वस्त्र, तरकारी, घी, दूध, शकर, आदि ले सकेगा, कितने किराये का और कैसा घर ले सकेगा, कहां तक अपने बच्चों को शिक्षा और स्वास्थ्य आदि का प्रबन्ध कर सकेगा। यही कारण है कि जहां कहीं भी उसे असली मजदूरी ज्यादा मिलने की सम्भावना होगी वहां वह काम करना चाहेगा।

एक श्रमिक के असली वेतन का ठीक-ठीक अनुमान करने के लिये निम्नाङ्कित बातों की ओर ध्यान देना होगा :—

(१) नक़द मज़दूरी

यह सीधी बात है कि जितनी कम या अधिक नक़द मज़दूरी अर्थात् रुपियों में श्रम के पुरस्कार स्वरूप उसे मिलेगी उतनी ही कमोधिक उसकी असली मज़दूरी होगी क्योंकि उतनी ही कमोधिक वस्तुयें और सेवायें भी वह ले सकेगा और उनका उपभोग कर सकेगा।

नक़द मज़दूरी तो आवश्यक वस्तुयें मोल लेने के लिये एक साधन मात्र है इसीलिये तो उसे नाममात्र (nominal) के लिये मज़दूरी कहा गया हैं असली चीज़ तो श्रमिक के लिये वे वस्तुयें और सेवायें ही हैं। जिनसे उसे सुख और सन्तोप प्राप्त होता है। फिर भी रुपिये की कमी और ज्यादती पर ही वस्तुओं और सेवाओं का कम और ज्यादा खरीदना निर्भर है। जो १००) रु० मासिक वेतन पाता है वह

कुछ वस्तुओं और सेवाओं का उपभोग कर सकता है पर जो २००) रु० मासिक वेतन पाता है वह उससे दूनी वस्तुओं और सेवाओं का या उससे दुगनी अच्छी वस्तुओं और सेवाओं का उपभोग कर सकता है।

(२) रुपये का मूल्य या वस्तुओं का मूल्य

यदि रुपये का मूल्य कम हो गया या वस्तुओं का मूल्य बढ़ गया तो एक निश्चित आय में श्रमिक कम और खराब वस्तुयें और सेवायें ही ले सकेगा अर्थात् उसकी असली या यथार्थ मजदूरी कम हो जावेगी दूसरी ओर यदि रुपिये का मूल्य बढ़ गया या वस्तुओं का मूल्य घट गया तो वही श्रमिक उसी आय में अधिक और अच्छी वस्तुयें और सेवायें प्राप्त कर सकेगा अर्थात् उसकी असली मजदूरी बढ़ जायगी और वह अधिक तृप्त और सन्तुष्ट रह सकेगा।

(३) अन्य प्रकार के लाभ

कभी-कभी श्रमिक को मजदूरी में रुपिये के साथ-साथ और भी बहुत से लाभ होते हैं, जैसे खाना कपड़ा, घर, पढ़ाई, दवा इलाज की सुविधायें भी मिल जाती हैं जैसे रेलवे और पोस्टल कार्य कर्ताओं को वरदी और रहने के लिये क्वारटर आदि। इस प्रकार असली मजदूरी अधिक होने के कारण श्रमिक वहां काम करना एक मिल में काम करने की अपेक्षा, जहां इस प्रकार का कोई लाभ नहीं है, अच्छा समझेगा।

(४) काम का तरीका

असली वेतन काम के तरीके और ढंग पर भी बहुत कुछ निर्भर है। जो काम खतरनाक होता है, जैसे सैनिक का काम या बारूद का काम, वहां श्रमिक अधिक वेतन चाहता है या जहां उत्तरदायित्व अधिक होता है वहां मजदूरी अधिक होती है।

(५) अन्य बातें

जहां काम कम हो, आराम और छुट्टी अधिक हो, पेन्शन मिलती हो या प्रावीडेन्ट फंड मिलता हो या कुछ बोनस मिलता हो तो वहां असली मजदूरी ज्यादा होगी और श्रमिक का उस कार्य में अधिक मन लगेगा।

यही कारण है कि एक गांव का मजदूर अपने गांव या पड़ोसी गांव में कभी-कभी कम मजदूरी पर काम कर लेता है पर दूर शहर में जाकर अधिक मजदूरी पर काम करना पसन्द नहीं करता। घर पर रह कर या घर से निकट रहकर उसे बड़ी सुविधायें रहती हैं जो घर से बाहर या दूर रहने से न मिलेंगी। जैसे स्त्री वस्त्रों को देख भाल, समय पर भोजन पका पकाया मिल जाना, अपनी खेती की देख भाल आदि। इससे उसकी असली मजदूरी बढ़ जाती है। अपने गांव से दूनी मजदूरी पर भी कानपूर में नौकरी करना अच्छा नहीं समझा जाता, क्योंकि वहां श्रमिक को सब प्रकार की कठिनाई होती है; न तो रहने को ठीक मकान मिलता है। न वह अपने परिवार को साथ रख सकता है। न उसका स्वास्थ्य और चरित्र ठीक रह सकता है, न उसे गाँव जैसी शुद्ध आवश्यक वस्तुयें घी दूध अन्न आदि सस्ती और अच्छी मिल सकती हैं। अतः गाँव में ३०) रुपया मासिक कमाते हुये भी कानपूर के ६०) रुपया मासिक वेतन की अपेक्षा उसकी असली मजदूरी कहीं अधिक होती है।

मजदूरी का निर्धारण

मजदूरी का निर्धारण तीन नियमों पर निर्भर है :—

१ –रीतिरिवाज—प्राचीन काल में और अब भी बहुत से पिछड़े हुए देशों में, जैसे भारत व चीन, मजदूरी बहुत कुछ रिवाज पर निर्भर है। जो मजदूरी की दर परम्परा से चली आती है वही दी जाती है। हमारे गांवों में भी अभी तक यही नियम कार्य करता रहा है और शहर

से बहुत दूर स्थिति गाँवों में अब भी मजदूरी की दर बहुत कुछ वही चली आ रही है। पर अब आर्थिक परिवर्तनों के साथ गावों में भी नकद मजदूरी में बड़ा परिवर्तन हो गया है। फसल का जो भाग प्रजाओं को दिया जाता है वह अब भी उसी पुरानी दर से लगभग सभी गांवों में दिया जाता है। फिर भी यह नियम अब धीरे-धीरे टूट रहा है।

२—मांग व पूर्ति का नियम, यह नियम सारे सभ्य संसार में अब काम कर रहा है। जहां मजदूरों की संख्या और पूर्ति वहां की मांग से अधिक होती है वहां मजदूरी गिर जाती है, क्योंकि मजदूरों में स्पर्धा होने लगती है। उसके विपरीत यदि पूर्ति से मांग अधिक हुई तो काम कराने वालों या म लिकों में स्पर्धा होती है और मजदूरी बढ़ जाती है।

३—जब संख्या और पूर्ति की अधिकता या मालिकों की एका के कारण मजदूरी बहुत हो जाती है तो सरकार को इस ओर ध्यान देना होता है और वह क़ानून द्वारा मज़दूरी को गिरने से रोकती है और कम से कम मज़दूरी की दर काम को देखते हुए निश्चित कर देती है। जैसे आजकल महँगाई के कारण कुछ दस्तकारियों में और सरकारी नौकरियों में सरकार ने कम से कम मज़दूरी और वेतन निश्चित कर दिया है। उससे कम मज़दूरी देना अपराध है।

मज़दूरी की सीमायें

मज़दूरी की ऊपरी सीमा मज़दूर द्वारा उत्पादित वस्तु का मूल्य है, उससे अधिक कोई मालिक भी मज़दूरी नहीं दे सकता उससे कम ही देना चाहेगा, जिसमें अन्य खर्चों और मुनाफे के रूप में कुछ उसे भी बचा रहे।

दूसरी सीमा मज़दूरी की नीचे की सीमा है और वह मज़दूर के रहन सहन पर निर्भर है। जो काम करता है वह कम से कम अपने

गुजर बसर भर को मजदूरी अवश्य चाहता है। उससे कम लेने पर उसको कष्ट होगा और उसका रहन सहन नीचा हो जायगा।
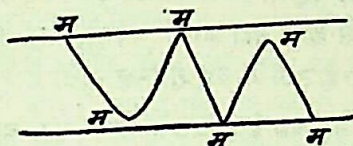
चित्र १४

इन्हीं दोनों सीमाओं के बीच कहीं न कहीं पर मज़दूरी निश्चित होती है, जो श्रम की मांग और पूर्ति के सन्तुलन पर निर्भर है।

मजदूरी की भिन्नता के कारण

एक ही प्रकार के व्यवसाय में भिन्न-भिन्न स्थानों में या एक ही स्थान से भिन्न-भिन्न व्यवसायों में मजदूरी भिन्न-भिन्न होती है। उसके कारण यह हैं :—

१—श्रमिक की कार्य कुशलता में भिन्नता।

२—श्रमिक के रहन सहन के दर्जे की विभिन्नता।

३—श्रमिकों की भिन्न-भिन्न मांग और पूर्ति।

४—कार्य सीखने का व्यय। कुछ कामों से सीखने में बहुत अधिक व्यय होता है जैसे डाक्टरी या इञ्जीनियरिंग।

५—रीति रिवाजों की भिन्नता पर भी मजदूरी की भिन्नता निर्भर है।

खेतो में मजदूरी

ऊपर कहा जा चुका है कि खेतों में किसान अपने परिवार के साथ स्वयम काफी मेहनत करता है। फिर भी कभी-कभी बहुत से कार्यों के लिये वह कुछ मजदूरों को बाहर से लगाता है और उन्हें निश्चित मज़दूरी देता है।

इस प्रकार खेती में दो प्रकार का श्रम रहता है :—

(१) एक तो यह जो किसान और उसका परिवार करता है। उसकी मज़दूरी उसे अदा नहीं करनी पड़ती, पर अन्त में जो कुछ किसान को बचता है उसी में वह शामिल रहती है।

(२) दूसरा वह श्रम है। जिसके लिये वह बाहरी मज़दूरों को लगाता है। और उनकी मज़दूरी उसे देना पड़ती है। और जिसके लिये उसे रुपिये की आवश्यकता रहती है। कभी-कभी अनाज और गुड़, तम्बाकू के रूप में भी कुछ मज़दूरी दी जाती है। इसके अतिरिक्त फ़सल का कुछ भाग भी मज़दूरी में देने का रिवाज है।

आज कल गाँवों में मज़दूरों की संख्या बहुत कम हो गई है और इसके फल स्वरूप मज़दूरी बहुत बढ़ गई है। इसके कुछ मुख्य कारण नीचे दिये जाते हैं :—

(१) गाँवों में मज़दूरी करने वाले वही लोग हैं जिनके पास खेती के लिये जमीन नहीं है। या जिनके खेत बहुत ही छोटे होते हैं और उनसे वे अपने परिवार का पालन पोषण नहीं कर पाते ऐसे लोगों की संख्या गाँवों में कम ही है। अतः मजदूरी ज्यादा हो गई है।

(२) शहरों में मज़दूरी ज़्यादा मिलती है और आने जाने में भी आवागमन के साधनों के बढ़ जाने से सुविधा हो गई है। अतः वे अधिकतर शहरों को चले जाते हैं। और यदि गांव में काम करने को रुकते भी हैं तो वही शहर वाली दर से मज़दूरी चाहते हैं। यही कारण है कि अब शहरों और उनके समीप के गांवों की मजदूरी में अधिक अन्तर नहीं रह गया है। फिर भी गांवों में मज़दूरी शहरों से कम है।

(३) अधिकतर गांव के अच्छे कार्य-कुशल युवक मज़दूर शहरों के कारखानों में स्थायी रूप से नौकरी करने चले जाते हैं। गांव में स्त्रियां, बूढ़े, बीमार और कमज़ोर अकुशल लोग ही रह जाते हैं। जिन

को कम मजदूरी पर रखना भी ज्यादा मजदूरी देना है क्योंकि वे काम कम और धीरे करते हैं।

(४) ज्यादा मज़दूरी मिलने पर भी हमारे देश में मज़दूर काहिल और सुस्त हो जाते हैं क्योंकि उनके रहन सहन का स्तर बहुत नीचा है और उनकी थोड़ी आवश्यकतायें शीघ्र ही पूरी हो जाती हैं और उनमें एक निष्क्रियता सी आ जाती है। एक देहाती कहावत इस भाव को खूब व्यक्त करती है और वह यह है :—

'घर में दाना सूद उताना'

मजदूरी कार्यकुशलता या कार्य्यक्षमता और रहन-सहन का स्तर

इन तीनों का बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है, और उनका एक चक्र सा चलता रहता है। अधिक मज़दूरी से रहन सहन का स्तर ऊँचा होता है। उसे कुछ कार्य क्षमता बढ़ जाती हैं। फिर इसके फल स्वरूप मज़दूरी बढ़ती है। इसी प्रकार रहन सहन नीचा होने से कार्य क्षमता घट जाती है जिस से मज़दूरी गिर जाती है। इसी प्रकार यह चक्र चलता रहता है।
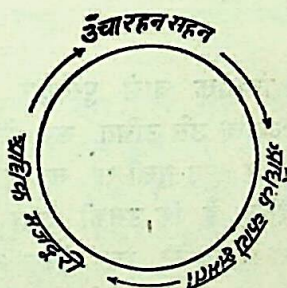
चित्र १५

हमारे देश का रहन सहन बहुत नीचा है। जिसके कारण कार्य क्षमता कम है। और इसीलिये मजदूरी भी बहुत कम हो गई है। यह सिद्धान्त ऊपर दिये हुए चक्र द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है।

वेतन और लाभ

(Pay and Profit)

ऊपर हम कृषि में वितरण की तीन समस्याओं का अर्थात् लगान ब्याज और मज़दूरी (Rent, Interest, Wages) का कुछ वर्णन कर चुके हैं। अब हमें शेष दो समस्याओं अर्थात् 'वेतन' और 'लाभ' पर विचार करना है। 'वितरण' के सिद्धान्त के अनुसार उत्पन्न की हुई सम्पति का वह भाग जो 'प्रबन्धक, को 'प्रबन्ध' साधन देने के लिये मिलता है 'वेतन' कहा जाता है। 'साहस' देने वाले का पुरस्कार 'लाभ' कहा जाता है।

खेती में किसान को लगान, ब्याज और मज़दूरी देने के बाद जो बचता है उसमें कई चीजें शामिल हैं, जो नीचे दी जाती हैं :—

(१) किसान के 'प्रबन्ध' का वेतन।
(२) किसान के 'साहस' का लाभ।
(३) उसके और उसके परिवार वालों के 'श्रम' की मज़दूरी।
(४) अपनी निजी पूंजी (जो उसने अपने पास से लगाई है) का ब्याज।

यदि यह सब उपरोक्त चारों पुरस्कार अर्थात् 'वेतन' 'लाभ' 'मज़दूरी' और 'ब्याज' उसे उचित रूप से मिलते जाय तो वह धनी हो सकता है और बहुत सुखी रह सकता है पर दुर्भाग्य से ऐसा नहीं होता। हम देखते है कि उसकी दशा कितनी शोचनीय और दीन है। उसे दोनों समय पेट भर भोजन नहीं मिलता न जाड़े से बचने के लिये कपड़ा न वर्षा से बचने के लिये ठीक मकान। इसका अर्थ स्पष्ट रूप से यह है कि वेतन, लाभ और ब्याज का तो कहना ही क्या उसे अपने और परिवार के 'श्रम' के लिये मज़दूरी भी पूरी नहीं मिलती।

अतः खेती में उन्हें बराबर हानि ही रहती है, जिसमें उनका न्यायपूर्ण पुरस्कार—वेतन, व्याज और मज़दूरी सब स्वाहा हो जाती है। फिर भी मूलधन और उसका व्याज और लगान का देना उसमें से असम्भव ही होता है।

किसान के लिये ऐसी दशा में कुटुम्ब का भरण पोषण करना और खेती का काम चलाते रहना एक बड़ी ही कठिन समस्या हो गई है अतएव वह सदैव ऋणी और दुखी रहता है।

लगभग २० वर्ष पहिले सन् १६२६—३० में, जबकि संसार में एक वृहत 'आर्थिक संकट' (economic crisis) आया था हमारे किसानों की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई थी, क्योंकि उस समय खेती से पैदा होने वाली चीज़ों के दाम बहुत गिर गए थे, पर लागत में कोई कमी नहीं हुई थी, लगान, व्याज आदि सब उसी पुरानी दर से लिये जाते थे। पैदावार का मूल्य लागत से जितना अधिक होता है वही लाभ कहलाता है। जितना वह कम होता जाता है उतना लाभ कम होता जाता है। इसीलिये भारतीय किसान को उस समय बड़ी हानि हुई। पर वह सब कष्टों को झेलता हुआ भी किसी प्रकार खेती से लिपटा ही रहा यद्यपि उसका कष्ट बहुत बढ़ गया था।

आज यह सौभाग्य की बात है कि खेती की चीज़ों का मूल्य काफ़ी बढ़ गया है और उससे उसे कुछ लाभ भी हुआ है, पर लागत बढ़ जाने से तथा अन्य सब चीज़ों के दाम बढ़ जाने से कोई विशेष लाभ हमारे किसानों को नहीं हुआ। कुछ विद्वानों का मत है कि इस मँहगी से अधिक न अधिक ३३ प्र० सै० या एक तिहाई किसानों को ही कुछ लाभ हुआ है।

यह प्रश्न हो सकता है कि यदि किसान को खेती से कोई लाभ हीं नहीं है तो वह उसे करता क्यों है, उसका एक मात्र उत्तर यही है

कि यदि खेती न करे तो भूखों मर जायगा, उसके लिये कोई और उपाय नहीं हैं क्योंकि हमारे देश में उद्योग और व्यापार बहुत ही कम विकसित हैं और उनकी उन्नति के साधनों की ओर अभी पूरा ध्यान भी नहीं दिया गया है। दूसरे हमारे गांवों में रहने वाले किसानों में इतना साहस और योग्यता भी नहीं है कि वे अपना घर वार जमीन गांव और जाति को छोड़कर कहीं और जाकर जीविकोपार्जन कर सकें जैसा कि पाश्चात्य देशों में लोग कर सकते हैं।

साथ ही १० प्र० सै० मनुष्य, सम्भव हैं, ऐसा कर भी लें पर ज़्यादा लोग ऐसा नहीं कर सकते। अतएव स्वतन्त्र भारत की समाजवादी और प्रजातन्त्रवादी सरकार को खेती की इन जटिल समस्याओं को किसान और गांव की उन्नति के लिये सुलझाना ही होगा। और उन्हें अपनी परिस्थिति को समझने के योग्य तो बनाना ही पड़ेगा।

किसान को खेती में आम तौर पर नुक़सान ही रहता है। १९२९—३० के आर्थिक संकट में उसे बहुत हानि हुई थी, पर आज कल खेती के माल के दाम बढ़ जाने से उसे कुछ लाभ आवश्य हुआ है।

प्रश्न

(१) मजदूरी की सीमाएं क्या हैं। और वह कैसे निर्धारित होती है?

(२) 'वितरण' के अर्थ क्या है और उसका विषय क्या है?

(३) खेती में सम्पति का वितरण कैसे होता है? उदाहरण द्वारा समझाइये।

(४) मालगुजारी और लगान का अन्तर समझाइये। यह कौन किस को और क्यों देता है?

(५) भारतीय कृषक की निर्धनता का एक मुख्य कारण लगान क्यों कहा जाता है।

(६) भारत में लगान के बहुत बढ़ जाने के क्या मुख्य कारण हैं ? ठीक २ समझाइये।

(७) किसान को रुपिया उधार क्यों लेना पड़ता है और किन लोगों से लेना पड़ता है ?

(८) भारतीय ग्रामों में व्याज की दर इतनी ऊंची क्यों है ? इस कारण ठीक २ समझाइये।

(९) महाजनी प्रथा में क्या दोष हैं ? महाजनों के अत्याचारों से किसान को कैसे बचाया जा सकता है ?

(१०) किसान अकुशल होने पर भी गांव में ज्यादा मजदूरी पाता है ; इसका क्या कारण है ?

(११) किसान का पुरस्कार क्या है ? वह कैसे निर्धारित होता है ?

(१२ नक़द और असल मजदूरी में क्या अन्तर है ? और यह अन्तर किन बातों पर निर्भर है ?

चौदहवां अध्याय

बटाई-प्रथा और रीति-रिवाज

पिछले अध्याय में खेती में वितरण कैसे होता है इस विषय पर कुछ प्रकाश डाला गया है। वहां यह बताया गया था कि किसान ज़मींदार को उसकी ज़मीन के लिये लगान रुपियों में देता है। पर हम अपने गांवों में यह भी देखते हैं कि किसान लगान रुपियों में न देकर

कभी २ उपज का एक भाग भी ज़मींदार को देता है। इसके अतिरिक्त हम यह भी देखते हैं कि गांव के कारीगरों, सेवकों और मज़दूरों को भी उपज का एक निश्चित भाग उनकी सेवाओं के उपलक्ष में पुरस्कार स्वरूप दिया जाता है। इसी प्रथा को बटाई-प्रथा कहा जाता है।

अतः हम कह सकते हैं कि 'बटाई-प्रथा' वह प्रथा है, जिसके अनुकूल खेतो की उपज के निश्चित भागों को ज़मींदार तथा अन्य सहयोग देने वालों को पुरस्कार रूप से दिया जाता है।

बटाई प्रथा के रूप

इस प्रथा के तीन मुख्य रूप हैं :—

(१) जमींदार को जमीन देने के बदले उपज का एक निश्चित भाग दिया जाता है। रुपियों में लगान नहीं दिया जाता।

(२) कारीगरों को, जैसे बढ़ई, लोहार आदि और मज़दूर लोगों को, जो खेती में किसी न किसी प्रकार की सहायता देते हैं, खेती की उपज का एक निश्चित भाग दिया जाता है। यह हमारे गांवों की बहुत ही प्राचीन प्रथा है।

(३) सेवकों या प्रजागण 'को' जैसे पुरोहित, नाई, धोबी, कहार कुम्हार आदि को भी उपज का एक निश्चित भाग प्राचीन प्रथा के अनुसार, उनको सेवाओं के पुरस्कार रूप में दिया जाता है। यह लोग खेती में कोई विशेष सहयोग तो नहीं देते हैं पर और सब प्रकार की सेवाएं दैनिक जीवन में तथा विशेष अवसरों पर, जैसे त्योहार, संस्कार और उत्सवों, पर करते रहते हैं और उनके लिये रुपिया पैसा नहीं पाते।

ज़मींदार और बटाई प्रथा

जमींदार आम तौर से ज़मीन देने के बदले रुपिये पैसे में लगान लेता है और उसमें से सरकार को मालगुज़ारी अदा करता है।

बटाई-प्रथा इससे भिन्न है। इसमें किसान ज़मींदार से जो भूमि खेती के लिये लेता है उसकी उपज का एक निश्चित भाग आधा या दो तिहाई आदि—ज़मींदार को देता है। कभी २ ज़मींदार से हल, बैल आदि सुविधाएं पाने पर यह भाग कुछ और बढ़ जाता है। कभी २ किसान सरकार को अपनी ज़मीन भर की मालगुज़ारी भी देने का भार अपने ऊपर ले लेता है तब ज़मींदार का भाग उपज़ में से बहुत कम हो जाता है।

उपज में ज़मींदार का भाग निम्नलिखित बातों पर निर्भर है :—

१ भूमि की दशा—

ज़मींदार का भाग वास्तव में बहुत कुछ भूमि की क़िस्म और दशा पर निर्भर है। यदि भूमि साधारण है तो वह उपज का आधा भाग लेने का प्रयत्न करता है यदि वह साधारण भूमि से अधिक उपजाऊ है तो दो तिहाई, और यदि वह साधारण भूमि से कम उपजाऊ है तो एक चौथाई उपज का भाग उसे मिलता है।

पर यह बात याद रखना चाहिये कि जमींदार बटाई पर वही भूमि साधारणतया देता है जो ख़राब या कम उपजाऊ होती है, जिसको लगान देकर कोई भी लेना नहीं चाहता, उपजाऊ उत्तम भूमि तो ऊंचे लगान पर उठ ही जाती है, अतः ख़राब भूमि पर उसे आमतौर से एक-चौथाई भाग ही उपज का मिलता है। कभी २ कुछ अच्छी भूमि पर, या ख़राब भूमि की भी अधिक मांग होने पर उपज का आधा भाग तक वह पा जाता है। जहां भूमि कम होती है और

किसान अधिक हैं अर्थात् भूमि की मांग पूर्ति से ज़्यादा होती हैं वहां नियमानुसार लगान भी अधिक बढ़ जाता है और बटाई में ज़मींदार का भाग भी ज़्यादा हो जाता है।

(२) खेती की सुविधायें

यह तो आप जानते ही हैं कि भारतीय किसान बहुत ग़रीब है। उसके पास साधारण पूंजी भी खेती करने के लिये नहीं होती। अर्थात् हल, बैल आदि भी कभी कभी उसके अपने नहीं होते। अतः वह ज़मींदार से केवल भूमि ही नहीं वरन यह सब आवश्यक वस्तुएं भी खेती के लिये लेता है। कभी कभी बीज और खाद आदि की सुविधाएं भी उसे ज़मींदार से मिल जाती हैं। ऐसी दशा में ज़मींदार का भाग उपज में से तीन-चौथाई तक हो जाता है।

(३) मालगुज़ारी का भार

साधारणतया मालगुज़ारी ज़मींदार ही देता है, पर कहीं कहीं जैसे कि मध्य प्रदेश में मालगुज़ारी का भार किसान के ऊपर ही होता है। ऐसी अवस्था में ज़मींदार का भाग उपज में बहुत कम अर्थात् एक चौथाई तक हो जाता है।

(४) रीति-रिवाज

हमारे गाँवों में रीति-रिवाजों का प्रभाव अब भी बहुत है। अतएव एक बहुत प्राचीन काल से चली आनेवाली रीति के अनुसार भी ज़मींदार का भाग उपज में निश्चित होता है। साधारणतया एक चौथाई भाग की दर बहुत से गाँवों में अब भी बटाई में प्रचलित हैं। प्राचीन रिवाज के कारण उसमें आज भी परिवर्तन नहीं हुआ।

(५) स्पर्धा (Competition)

अब शहरों में आर्थिक परिस्थितियों के बदलने के साथ साथ गाँवों में भी ज़ोरों से परिवर्तन हो रहे हैं और पुराने रीति-रिवाजों में

परिवर्तन शीघ्रातिशीघ्र होते चले जा रहे हैं। इस समय आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में स्पर्धा (Competition) बहुत बढ़ती जा रही है और प्रत्येक वस्तु और सेवा का मूल्य उसी के द्वारा निश्चित हो रहा है। अतः जहाँ भूमि की कमी और किसानों में उसकी मांग अधिक है वहाँ लगान और बटाई की दर दोनों बढ़ गई हैं। इसके विपरीत जहाँ किसानों में माँग और स्पर्धा कम है वहाँ दोनों दरें नीची हैं।

किसान और बटाई प्रथा

बटाई प्रथा प्रायः किसानों में भी देखी जाती है। जब किसान ज़मींदार से लगान पर या बटाई पर ज़मीन ले लेता है और किसी कारण से, जैसे मृत्यु, बीमारी, ग़रीबी, चोरी आदि, वह स्वयम् खेती करने से मजबूर हो जाता है तो वह अपनी ज़मीन को दूसरे किसान के हाथ बटाई पर उठा देता है। पर इस बात का ध्यान रखता है कि उसे उपज का इतना भाग अवश्य मिल जाय जिसमें से वह ज़मींदार का लगान या बटाई का निश्चित भाग देने के बाद भी कुछ अपने लिये भी बचा सके। अतः दूसरे किसान से वह उपज का भाग कुछ अधिक ही लेने की चेष्टा करता है और सफल भी हो जाता है। उदाहरण के लिये यदि ज़मींदार को उसे एक चौथाई उपज देना है तो दूसरे किसान के हाथ वह ज़मीन को आधे की बटाई पर उठा देगा। इस प्रकार एक चौथाई उपज उसे मुफ्त में ही बिना कुछ भी किये हुए मिल जायगी।

बटाई प्रथा से किसानों को निम्नलिखित लाभ हैं :—

(१) लगान प्रथा में चाहे उपज कैसी भी हो लगान उतना ही देना पड़ता है। अतः उपज कम होने पर उसे बड़ी हानि उठानी पड़ती है आजकल लगान बढ़ जाने से अधिकतर किसान को लाभ के स्थान में हानि ही होती है।

इसके विपरीत बटाई प्रथा में किसान को यह लाभ रहता है कि उपज के घटने बढ़ने के साथ साथ बटाई की दर उतनी ही रहने पर भी किसान को हानि नहीं उठानी पड़ती। जैसे चौथाई के दर से यदि उपज एक खेत में ८ मन हुई तो २ मन जमींदार लेगा और ६ मन किसान लेगा, यदि ६ मन उपज हुई १½ मन ज़मींदार और ४½ मन किसान लेगा। लगान रुपिये में होने से दोनों हालतों में उतना ही देना पड़ता है। इसलिये बटाई में किसान को फ़ायदा रहता है। यद्यपि आजकल कभी कभी जब फ़सल आमतौर से खराब होती है तो उस क्षेत्र के या गांव के सभी किसानों को लगान में से सरकार की ओर से कमी कर दी जाती है, जिसे 'लगान में छूट देना' कहा जाता है। पर ऐसी छूट एक क्षेत्र के सभी किसानों को मिलती है। किसान को व्यक्तिगत रूप से इस छूट से लाभ नहीं हो सकता। अतः लगान-प्रथा से बटाई प्रथा में किसान का अधिक लाभ है।

(२) लगान प्रथा में ज़मींदार किसान को हल, बैल आदि की कोई सुविधा नहीं देता। यदि किसान के पास यह सब ज़रूरी चीज़ें नहीं हैं तो वह महाजन आदि से कर्ज़ लेकर यह सब प्रबन्ध करता है। अगर नहीं कर पाता तो खेत नहीं लेता या छोड़ देता है। पर बटाई में ग़रीब किसान को यह सब सुबिधायें ज़मींदार से मिल जाती हैं।

(३) किसान को लगान देने के लिये फ़सल तय्यार होते ही उसे बेचने की चिन्ता होती है और उसमें उसे घाटा होता है क्योंकि भाव उस समय बहुत गिर जाता है और बाहर मंडी में ले जाने में भी कठिनाइयां रहती हैं।

बटाई प्रथा में फ़सल को तुरन्त कम भाव से बेचने की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि ज़मींदार को लगान के स्थान में फ़सल का एक भाग ही देना होता है और उसे वह खलिहान में ही आसानी

से निकाल देता है। और हल, बैल, बीज आदि की सुविधा हो जाने से महाजन को भी कुछ अधिक नहीं देना पड़ता। इसलिये वह शेष उपज को समयान्तर में अच्छे भाव से बेचकर लाभ उठा सकता है।

(४) कुछ चालाकी करके भी किसान अपना फ़ायदा कर लेता है। चोरी से वह कुछ फ़सल बिना ज़मींदार के जाने ही काट लेता है और कह देता है कि चोरों ने काट ली। कभी २ कुल फ़सल कटने पर खलिहान से ही चुपके से कुछ भाग वह इधर उधर कर देता है जिसे ज़मींदार नहीं जान पाता, और जो कुछ फ़सल सामने खलिहान में होती है उसमें से ही अपना भाग बांट लेता है।

बटाई से किसान को हानियां :—

(१) जब अनाज का भाव महंगा होता है तो बटाई में किसान को हानि होती है। लगान देने में लाभ रहता है। जैसे खेत की उपज १ मन चना है। बटाई में चौथाई के हिसाब से उसे १० सेर देना होगा। यदि चने का भाव ५ सेर फी रुपिया है और लगान उस खेत का २) है तो दोनों प्रथाएं बराबर हैं। यदि चने का भाव २½ सेर हो जाय तो लगान ५ सेर ही चना बेचकर दिया जा सकता है। हर बटाई में १० सेर देना पड़ता है। अतएव भाव बढ़ने पर बटाई में हानि होती है। आज कल बटाई में लगान प्रथा से अधिक हानि है।

(२) खेती की सुविधाएं प्राप्त करना तो आसान है पर उस से किसान का नैतिक पतन बहुत हो जाता है। उससे ज़मींदार फिर और बहुत से नाजायज फायदे भी उठाना चाहता है। इस प्रकार किसान अपना शोषण अपने आप करवाने में ज़मींदार को प्रोत्साहित करता है। उससे सब प्रकार से दबा रहता है। वह अपनी आर्थिक और सामाजिक स्वतन्त्रता खो बैठता है।

(३) उसका नैतिक पतन एक प्रकार से और होता है वह ज़मींदार को धोखा देने की कोशिश करता रहता है जो ऊपर आर्थिक

दृष्टि से उसका लाभ बताया गया है वह नैतिक दृष्टि से उसकी बड़ी भारी हानि ही है।

बटाई-प्रथा से ज़मींदार का लाभ और हानि

इस प्रथा से ज़मींदार को नीचे लिखे हुए लाभ हैं:—

(१) अच्छी ज़मींन तो लगान पर आसानी से उठ जाती है पर खराब ज़मींन को कोई लगान पर नहीं लेना चाहता। अतः वह बटाई पर आसानी से ग़रीब किसानों में उठ जाती है।

(२) खराब-ज़मींन बटाई पर देने से कुछ दिनों में अच्छी हो जाती है। और बाद को काफ़ी लगान देती है।

(३) कुछ सुविधाएं किसानों को देकर ज़मींदार बहुत कुछ बेगार और सेवा किसान से मुफ़्त करा लेता है जिससे उसका बड़ा लाभ होता है। खेती के लिये बहुत कम मज़दूरी पर मज़दूर मिल जाते हैं और घर का बहुत कुछ काम मुफ़्त हो जाता है। निगरानी भी हो जाती है।

(४) ज़मींदार के विरुद्ध यदि किसी प्रकार का संगठन या आन्दोलन किसानों में होता है तो बटाई वाले किसान ज़मींदार का साथ देते हैं।

बटाई-प्रथा से ज़मींदार को हानियां :—

(१) हल बैल किसानों को देने से कभी २ उसके खेतों की जोताई बोआई ठीक समय पर नहीं हो पाती।

(२) मालगुजारी देने के लिये रुपिये की ज़रूरत ज़मींदार को होती है। बटाई के कारण अनाज बेचने कर झंझट उसके सिर हो जाता है।

(३) अनाज का भाव गिरने से ज़मींदार को हानि रहती है।

बटाई-प्रथा के अन्यरूप

ऊपर बताया जा चुका है कि बटाई प्रथा के तीन रूप दृष्टिगोचर होते हैं। जिनमें से प्रथम और मुख्य रूप का वर्णन अभी किया जा चुका है, जिसका सम्बन्ध ज़मीदार और किसानों से है अब इस प्रथा के दो और रूप भी हैं उन पर कुछ प्रकाश डाला जायगा।

बटाई प्रथा और कारीगर तथा मज़दूर

गांव के कारीगर लोग जैसे बढ़ई, लोहार, चमार इत्यादि खेती के कामों में बराबर वर्ष भर इसी आशा से किसानों की सहायता किया करते हैं कि उनको दोनों फ़सलों पर प्रत्येक किसान से कुछ अनाज (उत्पत्ति का एक निश्चित भाग) मिल जायगा जो उनके परिवारों के भरण पोषण से बहुत कुछ सहायक होगा। इसीलिये यह कारीगर लोग अपना मुख्य कार्य्य भी करते हैं और साथ-साथ थोड़ी बहुत खेती भी कर लेते हैं और इस प्रकार उनका गुजर बसर अच्छी तरह से हो जाता है। पर अब आधुनिक परिस्थितियों में इन लोगों ने भी अपने मुख्य कार्य्यों के लिये पैसा भी लेना आरम्भ कर दिया है। हाँ छोटे मोटे कामों और मरम्मत के साधारण कामों के लिये वे अब भी बहुत से गांवों में (विशेष कर उन गांवों में जो शहरों से दूर हैं और प्राचीन हैं) पैसा नहीं लेते और वह भी इसलिये कि जिसमें उत्पत्ति में से, पुरानी प्रथा के अनुसार भाग लेने का उनका अधिकार न जाने पावे। भिन्न-भिन्न प्रान्तों और भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भिन्न प्रथायें हैं। कहीं २ सेर, कहीं २½ सेर और कहीं-कहीं तीन सेर अनाज प्रत्येक किसान इन लोगों को देते हैं। सब कारीगरों में मुख्यतः बढ़ई और लोहार का हक़ अब ज़रूरी और ज्यादा समझा जाता है क्योंकि बिना उनकी सहायता के खेती के औज़ारों को ठीक रखना और खेती करना असम्भव है।

बढ़ई हल और उसकी मूठ बनाता है। कुदाल, खुरपी, फावड़ा के बेंट बनाता है, गाड़ी बनाता है, पटेला तैयार करता है। और कुयें के लिये निवाड़ तथा पानी खींचने के लिये गरारी बनाता है और इन सब की मरम्मत भी करता है।

लाहार सब औजारों में लोहे के भाग लगाता है और उनको तेज़ करता रहता है। इन सब कार्यों के उपलक्ष में उत्पत्ति का एक भाग फ़सल पर उन्हें दिया जाता है।

वैसे तो मजदूरी लगभग नित्य प्रति कुछ न कुछ पैसों में दी ही जाती हैं। क्योंकि बिना उसके उनका गुजर ही नहीं हो सकता। फिर भी वह इतनी कम होती है कि फ़सल कटने पर उन्हें भी उत्पत्ति का कुछ निश्चित भाग अवश्य दिया जाता है। इस प्रथा से दोनों पक्षों का काम चलता रहता है। कुछ समय पहले तक गांवों में मजदूरी कम होने का यह मुख्य कारण रहा है।

खेती के कुछ मुख्य काम, जैसे फ़सल की कटाई इसी बटाई प्रथा के आधार पर अब भी आमतौर से हो रहे हैं। जैसे कहीं-कहीं दिन भर में १० बोझ काटने पर एक मजदूर को १ बोझ मजदूरी का मिल जाता है।

बटाई-प्रथा और गांव के सामूहिक सेवक या प्रजावर्ग

अनादि काल से हमारे ग्रामीण समाज के संगठन में कुछ 'सामूहिक सेवक' एक संस्था के रूप में चले आ रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि समाज ने कुछ कार्य कर्त्ताओं को समस्त समाज की सेवा के लिये उनकी रुचि और पैत्रिक कार्य के अनुसार नियत कर लिया है और यह भी निश्चित कर लिया है कि उत्पत्ति में से प्रत्येक किसान परिवार दोनों फ़सलों पर एक निश्चित भाग उन्हें दिया करेगा। यह भाग भी भिन्न-भिन्न प्रान्तों और प्रदेशों में भिन्न है।

पच्छमी उत्तर प्रदेश के कुछ जिलों में एक पंसेरी से दो पंसेरी तक अनाज उन्हें दिया जाता है, अर्थात् २½ सेर से ५ सेर तक। वैसे तो दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति तो वे करते ही हैं पर अतिथि सत्कार, उत्सवों, संस्कारों जैसे जन्म मृत्यु विवाह मुँडन इत्यादि और त्योहारों जैसे होली, दिवालीं, दशहरा इत्यादि के अवसरों पर उनसे विशेष सेवायें ली जाती हैं।

कारीगरों व मजदूरों तथा इन सामूहिक सेवकों में यह अन्तर है कि कारीगर और मजदूर लोग खेती के कामों में विशेष सहयोग देते हैं और 'सामूहिक सेवक' या प्रजागण अन्य दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक होते हैं। अतः बटाई प्रथा के यह दो भिन्न रूप कहे गये हैं।

अब जमींदारी प्रथा के उन्मूलन के साथ-साथ बटाई-प्रथा के रूपों में भी परिवर्तन सम्भव है। पर इसका पूर्णरूप से लोप हो जाना अभी बहुत समय तक असम्भव जान पड़ता है।

ग्रामीण रीति-रिवाज

भारतीय समाज और विशेषतया ग्रामीण समाज बहुत सी रूढ़ियों परम्पराओं और रीति-रिवाजों से बँधा हुआ है। हमारी प्राचीन संस्कृति और संगठन का यह एक मुख्य लक्षण और महत्व पूर्ण तत्व जान पड़ता है। और कदाचित इसका कुछ अर्थ भी था और हमारे समाज का कल्याण बहुत कुछ इसपर निर्भर था।

एक बहुत बड़ा लाभ इन सब बन्धनों का यह था कि कोई भी व्यक्ति किसी व्यक्ति पर किसी भी जीवन के क्षेत्र में अन्याय या अत्याचार न कर सकता था। इनके द्वारा समाज अपना प्रभुत्व और मर्यादा कायम किये था और उसके द्वारा समाज के सदस्यों की व्यक्ति गतरूप से रक्षा भी होती थी। जो मर्यादा को तोड़ता था वह बड़ा अपराधी

समझा जाता था, क्योंकि वह वर्तमान समाज ही का नहीं वरन् [illegible]
व्यवस्था को बनाने वाले और उसका आदर पूर्वक अनुकरण [illegible]
वाले समस्त पूर्वजों का अपमान समझा जाता था।

गत शताब्दी के अन्त तक इन सब रीतिरिवाजों का हमारे [illegible]
पर पूर्णरूपेण प्रभाव पड़ता रहा और शायद जीवन में सुख शान्ति
और सामंजस्य की मात्रा अब से कहीं अधिक रही। पर प्रथम महायुद्ध
के पश्चात् से और पाश्चात्य शिक्षा, विधान, संस्थाओं और आन्दो-
लनों के प्रभाव से नई सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिस्थि-
तियां उत्पन्न हो गईं और उन्होंने इन सारी रीतिरिवाजों की [illegible]
काटनी शुरू करदी। साथ ही एक प्रगतिशील और वैज्ञानिक युग में [illegible]
सब रूढ़ियां परम्परायें और रीति रिवाज ठहर भी नहीं सकते हैं।
उन्हें समय और आवश्यकता के अनुकूल बदलना भी अत्यन्ता-
वश्यक है।

उदाहरण के लिये उपज का चौथाई भाग लगान के रूप में लेने
का रिवाज बहुत ही प्राचीन है। उसी प्रकार ब्याज भी २५ प्रति
सैकड़ा सालाना या सवाई लेने का भी बहुत ही पुराना रिवाज चला
आ रहा था। इन रिवाजों के अनुसार किसान या ऋण लेने वाले [illegible]
जमींदार और महाजन से कोई झगड़ा नहीं करना पड़ता था और न
उन लोगों को ही उन्हें बढ़ाने का कोई अधिकार था यही हमारे ग्राम
संगठन का सामाजिक न्याय था। यदि कोई भी इसके विरुद्ध करता था
वह ग्राम पंचायत के दण्ड का या समाज के दण्ड का भागी होता
था। पर जब से ज़मींदार और महाजन को विदेशी सरकार ने
प्रोत्साहन दिया और उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी हो गई के जनता
को लूटने लगे और मनमाना अत्याचार करने लगे। उनके अधिकार
भी विदेशी मालिकों को खुश करने के कारण बढ़ गये।

साथ ही विदेशी मिल की बनी वस्तुओं के गांवों में बिकने से, हमारी कृषि और दस्तकारी की अवनति हो जाने से, और जनसंख्या बढ़ जाने से आर्थिक जीवन में एक क्रान्ति मच गई और परिस्थितियां इतने जोरों से बदलने लगीं कि समाज असहाय और निर्बल हो गया, सारी व्यवस्था पलट गई। प्रत्येक क्षेत्र में व्यक्तिगत घातक स्वतन्त्रता आगई, जिसने उपयोगी रीति रिवाजों और परम्पराओं को छिन्न-भिन्न कर दिया।

अब हम देख रहे हैं कि संख्या की वृद्धि और भूमि की मांग की वृद्धि के कारण ग़रीब किसानों में भी परस्पर स्पर्धा बहुत बढ़ गई। उधर ज़मींदारों को अधिकार भी था जिसे चाहें उसे ज़मीन दें जिसे चाहें उसे न दें। परिणाम स्वरूप लगान, बटाई दर, और नज़राना तथा अन्य शोषण की विधियां बढ़ती गईं और पुरानी रूढ़ियां टूटने लगीं इस प्रकार जब अत्याचार और अन्याय बढ़ने लगे तब समाज के कुछ नेताओं ने इधर ध्यान दिया और सरकार को प्रभावित किया। तब कुछ क़ानून इन ज्यादतियों को रोकने के लिये बनाए गये।

अब आधुनिक युग की प्रजातन्त्र और समाजवाद की पुकार यह है कि जमींदारी का उन्मूलन और महाजनों पर रोक थाम की जाय, तथा किसान को भूमि में पूर्ण अधिकार दिये जांय तभी वह सुखी हो सकता है।

इस प्रकार हमारा सामाजिक और आर्थिक जीवन रीति-रिवाजों, स्पर्धा, और क़ानून तीनों से प्रभावित है। पर अब पुराने रीति रिवाज स्पर्धा और क़ानून के दबाव से शीघ्र ही नष्ट होंगे और एक नई सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था का जन्म होगा।

प्रश्न

(१) आप बटाई प्रथा से क्या समझते हैं ? इसको पूर्ण रूप से समझाइये।

(२) बटाई प्रथा के भिन्न २ रूपों का सविस्तार वर्णन कीजिये।

(३) बटाई प्रथा से जमींदार को क्या हानियां और लाभ है ?

(४) बटाई प्रथा से किसानों को क्या २ हानियां और लाभ है ?

(५) हमारे रीतिरिवाजों का हमारे आर्थिक जीवन पर क्या प्रभाव है ? उनके भविष्य के विषय में आपका क्या विचार है ?

पन्द्रहवाँ अध्याय

भूमि-ग्राहक प्रणाली

(System of Land Tenure)

यह ऊपर बताया जा चुका है कि किसान खेती के लिये भूमि ज़मींदार से लेता है और उसको लगान देता है या बटाई पर लेकर भूमि की उत्पत्ति का एक निश्चित भाग उसे देता है।

अब इस अध्याय में हम इस विषय का सविस्तार अध्ययन करेंगे कि भूमि को ग्रहण और प्रयोग करने की प्रणाली क्या है।

भूमि का स्वामित्व-प्राचीन काल से ही प्रत्येक देश में भूमि राजा की सम्पत्ति समझी गई है इसीलिये राजा को भूपति या भूप कहा गया है।

आज भी प्रत्येक राष्ट्र में भूमि सारे राष्ट्र या देश की सम्पत्ति मानी जाती है। अतएव सरकार राष्ट्र की सबसे बड़ी प्रतिनिधि और प्रमुख तथा सर्वश्रेष्ठ संस्था होने के कारण राष्ट्र या देश की समस्त भूमि की स्वामिनी है या 'मालिके आला' है। भूमि पर उसे सम्पूर्ण अधिकार है।

अब खेती के लिये तथा अन्य कामों के लिये सरकार ही भूमि को भिन्न २ शर्तों पर दे सकती है। लगभग सभी देशों में सबसे अधिक प्रयोग भूमि का खेती के लिये होता है। अतः अब यह देखना है कि सरकार भूमि का प्रयोग किस प्रकार करती है।

सरकार और जैसे प्रत्येक देश में वैसे ही इस समय भारत में देश की सारी भूमि को प्रान्तों या प्रदेशों या रियासतों में बांट दिया गया है जिसमे भूमि शासन और प्रयोग में विशेष सुविधा होती है।

प्रान्तीय सरकार भूमि का प्रयोग दो प्रकार से करती है।

(१) कुछ आवश्यक कार्य्यों के लिये थोड़ी भूमि तो वह अपने निजी अधिकार में रखती है जैसे नज़ूल की भूमि, क़ालिज स्कूलों, फ़ौजों, स्टेशनों, रेलों, पहाड़ों, जंगलों, नदियों, झीलों, खानों, नहरों, सड़कों, आदि की भूमि।

(२) शेष भूमि वह खेती के प्रयोग में लाती है।

यह ज़मींदार-प्रथा उत्तर भारत में सभी प्रान्तों में और रियासतों में प्रचलित है।

इस प्रकार हमारे प्रान्त या प्रदेश में भूमि से सम्बन्ध रखने वाले कुल तीन पक्ष हैं :—(१) सरकार, (२) ज़मींदार, और (३) किसान

इन तीनों पक्षों के सम्बन्ध, शर्तें और नियम सरकार की एक विशेष व्यवस्था द्वारा स्थिर किये जाते हैं, जिसे 'बन्दोबस्त' कहा जाता है।

बन्दोबस्त के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं :—

(१) भूमि की नाप जोख करना और क़िस्मों में बांटना,

(२) पंचवर्षीय उत्पत्ति के आधार पर प्रत्येक प्रकार की भूमि पर प्रत्येक प्रकार की उपज का वार्षिक औसत मालूम करना।

(३) भिन्न २ प्रदेशों में परिस्थितियों के अनुकूल प्रति एकड़ या प्रति बीघा भूमि की खेती के लगान का औसत लगाना और फिर उसके आधार पर उचित लगान निश्चित करना।

(४) लगान के आधार पर सरकार को मिलने वाली मालगुज़ारी की रक़म निश्चित करना।

(५) यह निश्चिय करना कि मालगुज़ारी अदा करने का उत्तरदायित्व किसका है।

(६) ज़मींदारों और ताल्लुक़दारों तथा काश्तकारों की क़िस्में और अधिकार निश्चित करना।

बन्दोबस्त के भेद :—

बन्दोबस्त दो प्रकार का होता है।

(१) स्थायी बन्दोबस्त (Permanent Settlement)
(२) अस्थायी बन्दोबस्त (Temporary Settlement)

(१) स्थायी बन्दोबस्त

स्थायी बन्दोबस्त १७९५ ई० में लार्ड कार्नवालिस ने सबसे पहले बंगाल में जारी किया। उसके बाद यह प्रथा बिहार, उड़ीसा, आसाम, अजमेर-मारवाड़ा, मद्रास के कुछ भाग में और बनारस डिवीज़न में भी फैल गई। इस प्रथा के अनुसार ज़मींदार ज़मीन का मालिक माना जाता है और उसकी मालगुज़ारी सदैव के लिये निश्चित कर दी जाती है, जिसे वह सरकारी नियमों का पालन करता

हुआ सरकार को प्रतिवर्ष अदा करता रहता है। उसे अधिकार रहता है कि जिस किसान को जब चाहे ज़मीन दे सकता है और जितना चाहे उससे लगान ले सकता है। इसमें न लगान निश्चित होता है, न किसानों की ज़मीन सुरक्षित है और न उनके कोई अधिकार ही ज़मीन में होते हैं।

स्थायी बन्दोबस्त करने के दो मुख्य कारण जान पड़ते हैं :—

(१) सन १७६५ के पूर्व बंगाल में खेती की दशा बहुत खराब थी और ईस्टइण्डिया कम्पनी की आय अनिश्चित थी। अतः कम्पनी की आय को निश्चित करना उस समय बहुत आवश्यक था क्योंकि कम्पनी को युद्ध करने और अपना शासन स्थायी और सुरक्षित रखने के लिये रुपिये की बहुत आवश्यकता बनी रहती थी। मालगुज़ारी निश्चित कर देने से आय निश्चित हो गई।

(२) आय को निश्चित ही नहीं वरन् बढ़ाना भी उन्हीं कारणों से ज़रूरी था और उसे वसूल भी करना था। अतएव कम्पनी की सरकार ने ज़मींदारों को स्थायी रूप से ज़मीन का स्वामी या मालिक क़रार दे दिया और उन्हें ज़मीन में पूरे अधिकार दे दिया जिसमें में विशेष रुचि रख सकें और उसकी उन्नति कर सकें और लगान को वसूल करके सरकार को मालगुज़ारी ठीक समय पर अदा कर सकें।

(३) उस समय कम्पनी सरकार को अपने राज्य विस्तार तथा राज्य की नीव सुदृढ़ करने के लिये कुछ उच्च जाति के श्रेष्ठ और सबल सहायकों की भी आवश्यकता थी। इस स्थायी बन्दोबस्त से ज़मींदारों का एक ऐसा सशक्त दल सरकार को मिल गया जिसने बृटिश सरकार के शासन को भारत में स्थायी बनाने में कोई कसर न उठा रक्खी।

परन्तु सरकार का माली उद्देश्य तो सफल न हुआ पर अन्तिम अर्थात् राजनैतिक उद्देश्य बहुत कुछ सफल हुआ, जहां तक माली या

आर्थिक उन्नति का सवाल है इस स्थायी बन्दोबस्त का खेती और किसानों पर बहुत ही बुरा असर पड़ा, क्योंकि ज़मींदारों ने खेती की उन्नति में तो कोई विशेष भाग न लिया पर उन्होंने किसानों को लगान और नज़राना बढ़ाकर खूब चूसा और उन्होंने भारतवर्ष में सबसे ग़रीब और ऋणी बना दिया और रुपिया उनसे लेकर शहरों में जाकर खूब ज़ोरों से भोग विलास करना आरम्भ कर दिया। लगभग सभी प्रान्तों में ज़मींदारों का यही हाल रहा और उसके परिणाम स्वरूप खेती, गांव और जनता की दशा दिनो दिन खराब ही होती गई।

(२) अस्थायी बन्दोबस्त

देश के लगभग और सब भागों में बन्दोबस्त अस्थायी है अर्थात् वह २५, ३० वर्षों के बाद फिर से किया जाता है। परिवर्तित सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों की जानकारी के अनुकूल उपज, लगान, मालगुज़ारी में भी परिवर्तन किया जाता है तथा ज़मींदारों व किसानों के अधिकारों में भी परिवर्तन किया जाता है। प्रत्येक बन्दोबस्त में प्रायः लगान व मालगुज़ारी कुछ बढ़ ही जाते हैं।

इस बन्दोबस्त के अन्तर्गत खेती और किसानों दोनों की दशा कुछ अच्छी ही कही जा सकती हैं और सरकार की आय भी बढ़ती रही है। पर ज़मींदारों की लापरवाही आकर्मण्यता तथा विलासिता के कारण कुछ सन्तोषप्रद फल न हुआ। यही कारण है कि अब सब विद्वानों और अर्थशास्त्रियों के विचार में ज़मींदारी का उन्मूलन ही एक मात्र उपाय है। बिना इसके खेती, किसान और गांव की उन्नति असम्भव है।

हमने ऊपर बताया है कि सरकार ज़मीन की सर्वश्रेष्ठ मालिक है और भूमि से सम्बन्ध रखने वाले तीन पक्ष हैं अर्थात् सरकार, ज़मींदार

और किसान। अब हम यह देखेंगे कि हमारी भूमि-ग्राहक प्रणाली के मुख्य लक्षण और भेद क्या हैं।

यहां भूमि दो सिद्धान्तों पर सरकार से ग्रहण की गई है।

(१) रैय्यतवारी प्रथा—इसमें सरकार का खेती करने वाले किसान के साथ सीधा सम्बन्ध है। किसान सरकार से सीधे भूमि लेता है और उसे निश्चित लगान देता है।

(२) ज़मींदारी प्रथा—इसमें सरकार किसान से कोई सीधा समझौता नहीं करती और न कोई सीधा सम्बन्ध रखती है वरन ज़मींदार से समझौता कर लेती है और उससे मालगुज़ारी वसूल करती है जिनके अनुसार ज़मींदार और किसानों का सम्बन्ध स्थिर रहता है। यह ज़मींदारी प्रथा दो भागों में बांटी जा सकती है।

(क) व्यक्तिगत ज़मींदारी प्रथा (Single Zamindari System)

इस प्रथा में सरकार एक व्यक्ति से समझौता कर लेती है और उसको अपनी जमीन की मालगुज़ारी देनी होती है। उसके अपनी ज़मीन में पूरे अधिकार रहते हैं अर्थात् वह जमीन को बेच सकता है, गिरवी रख सकता है और दान कर सकता है। साथ ही उसके मरने के बाद उसके क़ानूनी उत्तराधिकारी को वही सब अधिकार स्वभावतः प्राप्त होंगे।

अवध के ताल्लुक़दार सब इसी वर्ग में आते हैं।

पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, मध्य प्रदेश आदि में यह प्रथा प्रचलित है।

(ख) सम्मिलित या सामूहिक ज़मींदारी प्रथा या महलवारी प्रथा (Joint Zamindari System)

इस प्रथा के अनुसार एक गाँव या कई गाँवों के मालिक सामूहिक

रूप से सरकार से समझौता कर लेते हैं और अपने अपने भूमि भाग की मालगुजारी देते हैं। पर मालगुजारी सब हिस्सेदारों से जमा करने और सरकार को अदा करने का भार या उत्तरदायित्व एक व्यक्ति पर होता है, जो लम्बरदार कहलाता है और जिसे सब हिस्सेदार मिलकर अपने में से चुनते हैं। वह पूरे महाल का मुखिया या लम्बरदार होता है।

हमारे प्रान्त में यह सामूहिक ज़मीदारी दो प्रकार की है:—

(१) पट्टीदारी प्रथा—यह प्रथा प्रान्त के पूर्वी भाग में पाई जाती है। इसमें हिस्सेदारों को पट्टीदार कहा जाता है। और उनके हिस्से रुपिये के अंशों में प्रकट होते हैं, जैसे एक पट्टीदार का हिस्सा चार आना, दूसरे का दो आना, तीसरे का एक आना और इसी प्रकार और सब पट्टीदारों के हिस्से होते हैं।

(२) भाईचारा प्रथा—यह प्रथा प्रान्त के पश्चिमी भाग में जारी है। इसमें भी एक महाल के कई सम्मिलित जमींदार होते हैं पर उनके हिस्से भूमि के क्षेत्र से नापे जाते हैं और उसके अनुकूल उनकी मालगुजारी निश्चित होती है। वहाँ भी एक लम्बरदार या मुखिया कुल मालगुज़ारी जमा करके सरकार को देता है।

उत्तर प्रदेश के किसान

किसानों को खेती के लिये भूमि जमींदारों से मिलती है, जिसका वे निश्चित लगान देते हैं, पर सब किसानों के अधिकार एक से नहीं होते, भिन्न भिन्न होते हैं। अतः इन अधिकारों की दृष्टि से हम इस प्रान्त के किसानों को निम्न भांति ६ भागों में बांट सकते हैं, जो निम्नलिखित हैं :—

स्थायी बन्दोबस्त वाले भाग में दो प्रकार के किसान हैं :—

(१) स्थायी खातेदार काश्तकार व

(२) स्थायी दर लगान वाले काश्तकार।

इन लोगों के लगान की दर निश्चित है और स्थायी बन्दोबस्त सन् १७६३ ई० से निश्चित ही चली आ रही है। इनके खेत के क्षेत्रफल के घटने बढ़ने पर ही लगान की दर घटाई बढ़ाई जा सकती हैं अन्यथा नहीं। जब तक यह लगान देते रहेंगे ये बेदखल नहीं किये जा सकते। लोग अपने खेतों को बेच सकते हैं, गिरवी रख सकते हैं और उनपर मकान भी बनवा सकते हैं। यद्यपि ये लोग काश्तकार कहे जाते हैं पर वास्तव में इनके भूमि में पूर्ण अधिकार हैं। ये काश्तकार बनारस कमिश्नरी में पाए जाते हैं।

अस्थायी बन्दोबस्त वाले भाग में चार प्रकार के काश्तकार पाए जाते हैं :—

(१) **दखीलकार काश्तकार**—इनका अधिकार भूमि में पुश्तैनी होता है किन्तु इन्हें, बिना ज़मींदार की आज्ञा के, खेत बेचने का अधिकार नहीं है। इनका लगान भी १० वर्ष में केवल एक बार उनकी सम्मति से या किसी कोर्ट की डिग्री से कुछ शर्तों पर बढ़ाया जा सकता है।

यह अपनी भूमि पांच साल के लिये रहन कर सकते हैं पर क़ानून के विरुद्ध लगान पर भूमि देने से बेदखल किये जा सकते हैं।

(२ **पुराने ज़मींदार किसान**—(साक़ुल मिलकियत काश्तकार—यह वह किसान है जो पहले ज़मींदार थे पर ज़मींदारी बिक जाने पर उन्हें अपनी सीर की और ख़ुद काश्त की भूमि में खेती करने का अधिकार मिल गया है। इनका लगान साधारण दखीलकार की दर से २५% कम होता है। इनका अधिकार भूमि में पुश्तैनी होता है पर यह खेत बेच नहीं सकते।

(३) **पुश्तैनी मौरूसी काश्तकार**—यह नए काश्तकार हैं।

(६) माफ़ीदार।

(७) बागदार।

(८) अवध के विशेष शर्तों वाले काश्तकार।

(९) रियायती लगान वाले काश्तकार।

(१०) ऐसे किसान जिन्हें नये क़ानून के अनुसार सीरदार के रूप में खाली भूमि दी जाय या जो सीरदार के अधिकार प्राप्त कर लें।

निम्नलिखित भूमि पर सीरदार के अधिकार नहीं प्राप्त हो सकते पशुचर भूमि; जिस भूमि पर पानी भरा हो और जो सिंघाड़ा या अन्य उपज पैदा करने के काम आती है। नदी तल की अस्थिर भूमि; ऐसी भूमि जिसे सरकार वन लगवाने के लिये सुरक्षित कर दे।

सीरदार के अधिकार

(१) सीरदार अपनी भूमि को इच्छानुसार खेती के काम में ला सकेगा।

(२) सीरदार की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी को वही अधिकार प्राप्त होंगे परन्तु सीरदार को अपने खाते को बेचने, दान देने या वसीयत द्वारा किसी को देने का अधिकार नहीं है।

(३) सीरदार अपने खाते को दूसरे से बदल सकता है, किन्तु उसे लगान पर नहीं उठा सकता केवल उन अवस्थाओं में जो भूमिधर के अन्तर्गत दी गई हैं वह खेत लगान पर उठा सकता है।

(४) सीरदार नियमित लगान सीधा सरकारी कोष में जमा करेगा।

यदि सीरदार की भूमि कृषि के कार्य में न लाई जायगी या क़ानून के विरुद्ध उसका उपयोग होगा तो सीरदार के स्वत्वाधिकार समाप्त हो जांयगे। यदि सीरदार नये क़ानून के लागू होने की तिथि से पहले

लगान की १० गुनी धनराशि सरकारी कोष में निर्धारित तिथि के अन्दर जमा कर देंगे तो उन्हें भूमिधर के अधिकार प्राप्त हो जांयगे।

आसामी के अधिकार—निम्नलिखित किसानों को मिल सकेंगे :—

(१) मध्यवर्ती के बाग़ का ग़ैर दाखिलदार-काश्तकार।

(२) बाग़ भूमि के शिकमी काश्तकार।

(३) सीरदारी अधिकार प्राप्त करने वाले किसानों के बन्धकी।

(४) भरण-पोषण के लिये प्राप्त सीर या खुद काश्त के जोतने वाले।

(५) पशुधर भूमि अथवा तालाब अथवा नदी तक की अस्थाई भूमि का गैर दखीलकार काश्तकार या पहरेदार।

(६) इस कानून के अनुसार भूमिधर या सीरदार का पहरेदार अथवा गांव सभा से प्राप्त भूमि के अस्थायी काश्तकार।

(७) वन लगाने के लिये सरकार द्वारा सुरक्षित भूमि के अस्थायी काश्तकार।

आसामी के अधिकार

(१) अपनी भूमि को खेती या उससे सम्बन्ध रखने वाले किसी कार्य के लिये प्रयोग करने का अधिकार होगा।

(२) उसके मरने के बाद उसके उत्तराधिकारी को सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त होंगे।

(३) उसे अपनी भूमि बेचने या दूसरे को देने का अधिकार न होगा।

बिना सरकार की आज्ञा के किसी को भूमि देने पर या क़ानून के विरुद्ध भूमि का प्रयोग करने पर या क्षेत्रपति (सरकार) को भूमि की आवश्यकता होने पर आसामी के अधिकार समाप्त हो जांयगे।

अधिवासी

नीचे दिये हुये किसानों को अधिवासी के अधिकार प्राप्त हो सकेंगे।

१—सीर के काश्तकार, २—बाग़ भूमि से भिन्न अन्य भूमि के शिकमी काश्तकार।

अधिवासी को वह सभी अधिकार प्राप्त रहेंगे जो इस क़ानून के लागू होने के पूर्व प्राप्त थे और उसका लगान, यदि पहले से निश्चित न होगा, तो मौरूसी दरों से लगाये गये लगान के १३३$\frac{1}{3}$ के बराबर होगा इस क़ानून के लागू होने के १ वर्ष बाद यदि अधिवासी पहले के मौरूसी दरों से लगाये गये लगान की १५ गुनी धन राशि सरकारी कोष में जमा कर दे तो उसे भूमिधर अधिकार मिल सकेंगे।

क्षेत्रपति किन्हीं अवस्थाओं में उसे वेदख़ल भी कर सकता है।

ज़मींदारों का किसानों के प्रति व्यवहार

यह बताया जा चुका है कि हमारे प्रान्त में तथा अन्य प्रान्तों में ज़मीदारी प्रथा चल रही हैं। ज़मींदारों से यह आशा की जाती थी कि वे किसानों की सहायता करेंगे और खेती की उन्नति तथा गांवों की प्रगति में योग देंगे। पर यह दुख की बात है कि वह आशा सर्वथा निराशा में पलट गई और अब यह कहा जाता है कि ज़मींदार किसानों का और ग्रामीण समाज का सबसे बड़ा शोषक और बैरी है जिसके कारण यह हैं :—

१) ज़मींदार का मुख्य कार्य खेती के लिये जमीन देना और लगान वसूल करके मालगुज़ारी सरकार को देना है। इस विषय में उसने अपने लाभ का ही अधिक ख्याल रक्खा है और इसलिये उसने सरकार की निश्चित की हुई दर से कहीं अधिक लगान वसूल करना अपना एकमात्र कर्तव्य समझ लिया है। कई गांवों में किसानों के

पूछने पर यह मालूम हुआ है कि सरकारी कागज़ात में जितना लगान क़ानून होना चाहिये उतना ही है पर वह उसका दुगना, तिगुना और चौगुना तक वसूल कर रहा है और इस काम में बड़ी सख्ती से और निर्दयता से काम लिया जा रहा है। मगर अब किसानों का दृष्टिकोण बदल गया है और नित्यप्रति किसान जमींदार झगड़ों की सूचना पत्र पत्रिकाओं में आती रहती है। इसलिये किसानों में संगठन होने और बल आ जाने से यह अत्याचार कुछ कम हो रहा है।

लगान की वृद्धि के मामले में जन संख्या और जमीन की मांग बढ़ जाने से किसान स्वयम अधिक लगान देने को राजी हो जाते हैं क्योंकि उनमें पारस्परिक स्पर्धा बहुत बढ़ गई है। और दूसरा कोई उद्यम या कार्य भी नहीं है जिसे वे खेती छोड़कर कर सकें। फिर भी ज़मींदार को सरकारी लगान से अधिक लेना अन्याय ही कहा जायगा। इसके अतिरिक्त बेदखली या जमीन छीन लेना भी बड़ा भारी अत्याचार है।

(२) नजराना और भेंट

जमीन किसी काश्तकार से ज़मीदार केवल अधिक लगान के लालच से ही नहीं छीनता वरन उसका उद्देश्य नज़राना द्वारा अपनी आय को बढ़ाने का रहता है।

एक किसान यदि १००) रुपया नज़राना जमीन लेने के लिये देने को तैयार है और दूसरा १५०) रुपया देने को तैयार है और अधिक लगान भी देने को तैयार या उतना ही लगान देना चाहता है तो भी ज़मीदार दूसरे को जमीन दे देगा और पहले से निकाल लेगा यानी उसे बेदखल कर देगा।

साथ ही इसके जमीन के छीने जाने के भय से किसान सब प्रकार से उसकी ख़ातिर करता रहता है, अपने खेत में पैदा हुई वस्तुओं को

कभी-कभी उसे उपहार रूप से देता है और शादी व्याह तथा त्योहारों के अवसरों पर भी उसे रुपिये पैसे और वस्तुओं की पूजा चढ़ाता रहता है और इस प्रकार खुश रहने से वह जमीन उस किसान से नहीं छीनता।

(३) इसके अतिरिक्त वह बेगार भी असामियों से बहुत लेता हैं जैसे अपने खेतों का काम करवाना, जिसकी मज़दूरी कम देना या न देना। इधर उधर जाने पर रक्षा के लिये या सामान ढोने के लिये ले जाना या घर का दैनिक काम करवाना इत्यादि।

(४) ज़मीदार ही नहीं उसके कारिन्दे भी किसानों को बेहद तंग करते रहते हैं। वे ज़मीदार के मुँह लगे होते हैं और उसकी ज़मीदारी का सारा काम वही करते हैं। अतएव विचारे किसान उनकी भी खुशामद में लगे रहते हैं और भरसक उनकी भी सेवा और पूजा करते रहते हैं। वास्तव में ज़मींदार वही होते हैं क्योंकि वे ही ज्यादातर गाँव में रहते हैं। क्योंकि जमींदार तो शहरों में भोग विलास करना जानता है। ज़मींदारी के काम में या गाँव की उन्नति में वह कोई विशेष भाग नहीं लेता न उसे अवसर ही मिलता है। मारे डर के किसान कारिन्दों की शिकायत भी जमीदार से नहीं कर सकते। यदि वे ऐसा करें तो उनका रहना ही कठिन हो जाय। फिर ज़मींदार भी अपने कारिन्दों के विरुद्ध कुछ नहीं सुनता।

जमींदार के कर्त्तव्य

जमीदारों के अत्याचार और गाँव से अनुपस्थिति जमींदारों के सबसे बड़े दोष समझे जाते हैं। अपनी जमीदारी की उन्नति और जनता या प्रजा के सुख के लिये उन्हें अपने उत्तरदायित्व को ठीक-ठीक समझना चाहिये और अपने कर्त्तव्यों का भलीभाँति पालन करना चाहिये, नहीं तो जमींदारी प्रथा का अन्त सब कहीं किसी न

किसी समय हो जाना अवश्यंभावी है। जैसे कि आसार दिखाई पड़ रहे हैं।

ज़मींदारों के निम्नलिखित मुख्य कर्त्तव्य हैं।

(१) गाँव में निवास

उन्हें अपनी ज़मीदारी के किसी केन्द्रीय स्थान पर स्थायीरूप से रहना चाहिये। जिसमें वे गाँव और किसानों की दशा का और उनकी समस्याओं का अध्ययन कर सकें। उनपर विचार कर सकें और उन्हें उनके और अपने कल्याण के लिये सुगमता से हल कर सकें। किसानों की उन्नति पर ही उनकी भी उन्नति और सुख निर्भर है। वहां रहकर वह अपने कारिन्दों की हरकतों को भी देख सकता है और बहुत कुछ रोक सकता है। साथ ही वह शहर में अपने द्वारा होने वाले अपव्यय को भी बचा सकता हैं और उस धन से किसानों को लाभ पहुँचा सकता है।

(२) खेती की उन्नति

खेती की अवनति के मुख्य कारण लगान की ज्यादती, पूँजी की कमी और बुद्धि का प्रभाव है। जमींदार को चाहिये कि वह लगान ज्यादा न बढ़ावे। किसानों को वेदखली जल्दी-ज़ल्दी न करे और खेती विज्ञान का अध्ययन करे और किसानों को उचित परामर्श दे। साथ ही पूँजी सस्ती देकर उनकी खेती की कठिनाइयों को दूर करें तो कोई कारण नहीं कि खेती में उन्नति न हो। जमींदार चाहे तो अपनी जमींदारी में चकवन्दी भी आसानी से करा सकता है। पर उसकी इसमें कोई रुचि नहीं क्योंकि चकवन्दी के न होने के कारण किसानों में परस्पर विरोध, लड़ाई और मुकदमेंबाजी होती रहती है और इस फूट से वह लाभ उठाता रहता है। और शहर के अपने सम्बन्धी और मित्र वकीलों को भी लाभ पहुँचाता रहता है।

(३) किसानों में सुधार

यह किसानों के जीवन में भी बहुत कुछ सुधार कर सकता है। उनमें शिक्षा और सफाई का प्रचार करना, बचपन की शादी को रोकना, परदा और छूत छात के विचारों को दूर करना, विधवाओं का विवाह करवाना तथा दहेज़ की प्रथा को कम करवाना या रोकना कुछ ऐसी बातें हैं जो ग्रामीण समाज की प्रगति के लिये बहुत ज़रूरी हैं और उन सब रूढ़ियों और रिवाजों को दूर करना बहुत कुछ उसके हाथ में है क्योंकि उसका प्रभाव उनके ऊपर सबसे अधिक पड़ सकता है। अतः यह सब उसे अवश्य करना चाहिये। यही उनका सच्चा और स्वाभाविक नेता और सुधारक है।

(४) इन सब के अतिरिक्त ग्रामों को स्वस्थ और सुन्दर बनाना, उद्योग और व्यापार की उन्नति में योग देना सहकारी आन्दोलन से लाभ पहुँचाना भी बहुत कुछ उसी के हाथ में है। और यह सब कार्य भी उसे करना और करवाना चाहिये।

पर बहुत भाग्य की बात यह है जैसाकि ऊपर भी कई बार कहा जा चुका है। कि वह यह कुछ नहीं करना चाहता। बैठे-बैठे मुफ्त में किसानों पर अत्याचार करके आमदनी बढ़ाना और आनन्द से मौज करना चाहता है इसी सब का परिणाम है कि अब शीघ्र ही इस जमींदारी प्रथा का उन्मूलन होने वाला है। अब जमींदारी अन्तिम सांसे ही ले रही है। यह विधिना का विधान है अब इसे कोई भी बचा नहीं सकता।

जमींदारी-उन्मूलन

हमारे देश में राष्ट्रीय कांग्रेस का यह दृढ़ विचार है और अन्य राजनैतिक दल के लोग भी इस विचार से सहमत हैं कि बिना जमींदारी प्रथा के अन्त या उन्मूलन के जनता की और हमारे गाँवों की दशा सुधर नहीं सकती।

जब से शासन की बागडोर कांग्रेस के हाथ में आई वह बराबर किसानों की दशा को सुधारने की बात सोच रही है। सन् १६३६ में उसने काश्तकारी क़ानून में बहुत कुछ परिवर्तन किया, जिससे किसानों को बहुत कुछ अधिकार मिले, पर उनसे ज़मींदारों द्वारा होने वाले अत्याचार और शोषण में कोई विशेष कमी नहीं हुई। अतः कांग्रेस सरकार ने हमारे प्रान्त में जमींदारी-प्रथा के उन्मूलन का पूर्ण निश्चय कर लिया है। ज़मींदारी उन्मूलन बिल प्रान्तीय धारा सभा के सामने है और आशा की जाती है कि शीघ्र ही वह पास हो जायगा और कानून बन जायगा।

अभी हाल में ही उत्तर प्रदेश की सरकार ने यह घोषित किया है कि १५ अगस्त सन् १६५० तक जमींदारों का उन्मूलन हो जायगा और भूमि ग्राहक प्रणाली में एक बड़ा भारी परिवर्तन हो जायगा। अब प्रत्येक किसान को भूमिधर बनाया जायगा जिससे उसे अपनी भूमि में पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाँयगे। इस समय की दर से २० साल का लगान देकर किसान भूमिधर बन सकता है और फिर उसका लगान भी आधा हो जायगा।

सरकार जमींदारों को मुआविज़ा देकर ही उनकी जमींदारी का उन्मूलन करेगी। जिसके लिये लगभग १७० करोड़ रुपिये की जरूरत है। इस काम के लिये हमारी प्रान्तीय सरकार ने एक 'जमींदारी उन्मूलन कोष'—(Zamindari Abolition Fund) स्थापित किया है। जिसमें भूमिधरों के दिये हुए रुपिये से लगभग २० करोड़ रुपिया अभी तक जमा हो चुका है और शीघ्र ही वह बढ़ जायगा। इस कोष का उद्घाटन २ अक्टूबर १६४६ गाँधी जयंती के अवसर पर हुआ था।

इस कोष से कई लाभ होंगे :–

(१) जमींदारों को मुआविज़ा दिया जा सके

(३) किसानों में सुधार

वह किसानों के जीवन में भी बहुत कुछ सुधार कर सकता है। उनमें शिक्षा और सफाई का प्रचार करना, बचपन की शादी को रोकना, परदा और छूत छात के विचारों को दूर करना, विधवाओं का विवाह करवाना तथा दहेज़ की प्रथा को कम करवाना या रोकना कुछ ऐसी बातें हैं जो ग्रामीण समाज की प्रगति के लिये बहुत ज़रूरी हैं और उन सब रूढ़ियों और रिवाजों को दूर करना बहुत कुछ उसके हाथ में है क्योंकि उसका प्रभाव उनके ऊपर सबसे अधिक पड़ सकता है। अतः यह सब उसे अवश्य करना चाहिये। यही उनका सच्चा और स्वाभाविक नेता और सुधारक है।

(४) इन सब के अतिरिक्त ग्रामों को स्वस्थ और सुन्दर बनाना, उद्योग और व्यापार की उन्नति में योग देना सहकारी आन्दोलन से लाभ पहुँचाना भी बहुत कुछ उसी के हाथ में है। और यह सब कार्य भी उसे करना और करवाना चाहिये।

पर बहुत भाग्य की बात यह है जैसाकि ऊपर भी कई बार कहा जा चुका है। कि वह यह कुछ नहीं करना चाहता। बैठे-बैठे मुफ्त में किसानों पर अत्याचार करके आमदनी बढ़ाना और आनन्द से मौज करना चाहता है इसी सब का परिणाम है कि अब शीघ्र ही इस जमींदारी प्रथा का उन्मूलन होने वाला है। अब जमींदारी अन्तिम सांसे ही ले रही है। यह विधिना का विधान है अब इसे कोई भी बचा नहीं सकता।

जमींदारी-उन्मूलन

हमारे देश में राष्ट्रीय कांग्रेस का यह दृढ़ विचार है और अन्य राजनैतिक दल के लोग भी इस विचार से सहमत हैं कि बिना जमींदारी प्रथा के अन्त या उन्मूलन के जनता की और हमारे गाँवों की दशा सुधर नहीं सकती।

जब से शासन की बागडोर कांग्रेस के हाथ में आई वह बराबर किसानों की दशा को सुधारने की बात सोच रही है। सन् १९३९ में उसने काश्तकारी क़ानून में बहुत कुछ परिवर्तन किया, जिससे किसानों को बहुत कुछ अधिकार मिले, पर उनसे ज़मींदारों द्वारा होने वाले अत्याचार और शोषण में कोई विशेष कमी नहीं हुई। अतः कांग्रेस सरकार ने हमारे प्रान्त में जमींदारी-प्रथा के उन्मूलन का पूर्ण निश्चय कर लिया है। ज़मींदारी उन्मूलन बिल प्रान्तीय धारा सभा के सामने है और आशा की जाती है कि शीघ्र ही वह पास हो जायगा और क़ानून बन जायगा।

अभी हाल में ही उत्तर प्रदेश की सरकार ने यह घोषित किया है कि १५ अगस्त सन् १९५० तक जमींदारों का उन्मूलन हो जायगा और भूमि ग्राहक प्रणाली में एक बड़ा भारी परिवर्तन हो जायगा। अब प्रत्येक किसान को भूमिधर बनाया जायगा जिससे उसे अपनी भूमि में पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाँयगे। इस समय की दर से ३० साल का लगान देकर किसान भूमिधर बन सकता है और फिर उसका लगान भी आधा हो जायगा।

सरकार जमींदारों को मुआविज़ा देकर ही उनकी जमींदारी का उन्मूलन करेगी। जिसके लिये लगभग १७० करोड़ रुपिये की जरूरत है। इस काम के लिये हमारी प्रान्तीय सरकार ने एक 'जमींदारी उन्मूलन कोष'—(Zamindari Abolition Fund) स्थापित किया है। जिसमें भूमिधरों के दिये हुए रुपिये से लगभग २० करोड़ रुपिया अभी तक जमा हो चुका है और शीघ्र ही वह बढ़ जायगा। इस कोष का उद्घाटन २ अक्टूबर १९४९ गाँधी जयंती के अवसर पर हुआ था।

इस कोष से कई लाभ होंगे :—

(१) जमींदारों को मुआविज़ा दिया जा सकेगा।

(२) किसान भूमिधर अधिकार प्राप्त कर लेगा और उसका लगान आधा रह जायगा।

(३) आजकल द्रव्य प्रसार (Inflation) मूल्यों के बढ़ने का एक मुख्य कारण है। अतएव किसानों की बचत का रुपिया इस कोष में आ जाने से 'द्रव्य प्रसार' में कमी होगी। मूल्य घटेंगे और नये उद्योग धंधे खोले जा सकेंगे।

प्रश्न

(१) बन्दोबस्त का क्या अर्थ है और उसके क्या उद्देश्य हैं!

(२) उत्तर प्रदेश में भूमिग्रहण प्रथाएं कौन सी हैं? उनका वर्णन करो।

(३) क्या जमींदार किसान का शोषण करता है? यदि हां तो कैसे? समझाओ!

(४) जमींदारों के मुख्य कर्त्तव्य क्या २ हैं? क्या वे उन्हें पूरा कर रहे हैं?

(५) जमींदारी उन्मूलन पर एक लेख लिखो।

(६) जमींदारी उन्मूलन कोष के क्या उद्देश्य हैं? उसका निर्माण कैसे किया जा रहा है?

(७) पुराने कानून के हिसाब से उत्तर प्रदेश में कितने प्रकार के किसान थे? उनके अधिकार क्या थे?

(८) नए कानून के हिसाब से कितने प्रकार के काश्तकार हैं! भूमिधर और सीरदार के अधिकारों की विवेचना कीजिए?

(९) आसामी और अधिवासी में क्या अन्तर है? उनके क्या अधिकार हैं?

सोलहवाँ अध्याय

औद्योगिक श्रम

(Industrial labour)

हमारा देश एक कृषि प्रधान देश है, फिर भी यहाँ के घरेलू धन्धे लगभग १०० वर्ष पूर्व तक बड़ी सफलता से चलते रहे और उनके द्वारा उत्पन्न की हुई वस्तुओं की सारे संसार में और विशेष कर योरुप में बड़ी कदर रही, पर वृटिश साम्राज्य के स्थापित हो जाने के पश्चात् वृहत कारखानों से इनका एकाएक मुकाबला हो गया और उनका पतन आरम्भ हो गया। साथ ही भारतवर्ष में भी राजनैतिक और आर्थिक उन्नति के साथ-साथ बड़े-बड़े कारखाने खोले गये जिनमें हज़ारों और लाखों मजदूरों की आवश्यकता हुई। आज हमारे देश में बम्बई, कलकत्ता, अहमदाबाद, देहली, आगरा, जमशेद-पुर, कानपुर, नागपुर आदि बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्र बन गये हैं।

यहाँ कपड़े के कारखानों में सबसे अधिक संख्या में मजदूर काम करते हैं।

इन औद्योगिक केन्द्रों में जो मज़दूर काम करते हैं उनका जीवन बड़ा ही दयनीय अस्वाभाविक और दुखी है, क्योंकि :—

(१) उनको आमदनी या मजदूरी वहां के खर्च को देखते हुए बहुत ही कम है।

(२) उनके रहने के लिये अच्छे घर और स्वच्छ स्थान नहीं हैं पर किराया अधिक है।

(३) उनका स्वास्थ्य बहुत खराब है।

(४) उनका रहन सहन बहुत नीचा है।

(५) उनका चरित्र भी भ्रष्ट हो गया है।

सच पूछिये तो वे इन नारकीय स्थानों में रहना पसन्द नहीं करते पर कृषि व्यवसाय और ग्रामीण उद्योग धन्धों के पतन के कारण उन्हें मजबूरन शहरों में जाकर मिलों में मजदूरी करनी पड़ती है और वहां के दूषित वातावरण में रहना पड़ता है।

(१) मजदूर बस्तियाँ (Slums)

इन औद्योगिक नगरों में जिन स्थानों पर मिल मजदूर रहते हैं उन्हें 'बस्ती' या 'चाल' कहते हैं। प्रायः यह श्रम-निवास अधिकतर नगरों के बहुत ही गन्दे भागों में होते हैं जहां पानी कीचड़, मच्छर बहुत होते हैं। यह बस्तियाँ छोटे-छोटे मिट्टी के कच्चे घर और मोंपड़े ही होते हैं। यह घर प्रायः एक १०, १२-फुट लम्बा चौड़ा और इतना ही ऊँचा कमरा या कोठरी होती है। जिसमें वायु और प्रकाश का भी यथेष्ट प्रवेश नहीं हो पाता। उनमें सीलन और अँधेरा भी बहुत रहता है। इन कोठरियों के आगे बांस के टट्टर और टाट के परदे लगाकर कुछ परदा कर लिया जाता है। इसी एक छोटे कमरे में प्रायः दो और तीन परिवार या १०, १२ मजदूर किसी प्रकार जीवन बिताते हैं। इन बस्तियों में पानी और शौच के लिये भी ठीक प्रबन्ध नहीं होता, कीचड़ से भरी हुई बदबूदार गन्दी नालियां भी सब ओर बहती रहती हैं। बच्चे व स्त्रियाँ उन्हीं नालियों पर या घरों के आस पास मल मूत्र त्यागते रहते हैं विशेष कर रात्रि के समय जब घर से दूर जाना असम्भव होता है। साथ ही कपड़े धोने, नहाने और चौका बरतन से भी कीचड़ हो जाती है और एक प्रकार की सड़ायँद या दुर्गंधि उड़ा करती है जो वातावरण को दूषित बना देती है और बीमारियाँ पैदा करती है।

म्यूनीसिपैलिटी की ओर से जो बम्पुलिस (शौचस्थान) बनाये

जाते हैं वह बहुत ही कम होते हैं और उनकी सफ़ाई भी ठीक नहीं होती।

एक छोटी कोठरी में कई परिवारों या व्यक्तियों का सोना, खाना बनाना और सामान रखना भी अत्यन्त हानिकारक होता है, उन्हीं में मिट्टी के तेल के लम्प भी जलते रहते हैं जिनसे दूषित धुँवां भरता रहता है। उन्हीं में जन्म, मृत्यु और बीमारों का भी प्रबन्ध रहता है, जिससे उनमें रहने वाले श्रमिकों का जीवन और भी दुखी रहता है और बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कूड़ा करकट भी घरों के आस पास काफ़ी जमा रहता है।

इन बस्तियों में म्यूनीसिपैलिटी को निम्नलिखित सुधार करने चाहिये :—

१—शौच स्थान बनाये जांय और वह दिन में दो बार फ़िनायल से साफ़ किये जावें। उनके आस पास चूना डलवाने से दुर्गन्ध कम उड़ेगी और कीटाणुओं का भी अन्त हो जायगा। मलमूत्र को बन्द गाड़ियों में ले जाना चाहिये।

२—पीने का पानी भी इन बस्तियों में काफ़ी नहीं मिलता और झगड़े भी होते हैं। क्योंकि प्रायः २०० व्यक्तियों के लिये एक ही नल होता है। नल ज्यादा होने चाहिये। उनसे चारों ओर पानी बहता रहता है और कीचड़ भी बहुत होती है। अतः नलों के चारों ओर पक्के हौज़ बनवाने चाहिये। और पक्की नालियां भी पानी निकालने के लिये अवश्य होनी चाहिये।

३—बस्तियों में सड़कें और किनारे किनारे नालियां और हौज़ भी होने चाहिये। इनके अभाव से ही पानी भरता है। सीलन होती है और मच्छर पैदा होते हैं।

४—कूड़ा डालने का बस्तियों में कोई नियत स्थान नहीं होता

अतः सब कहीं कूड़ा जमा रहता है। वास्तव में कूड़े घर जगह-जगह पर होना चाहिये और उनकी सफ़ाई ठीक से होनी चाहिये।

नये हवादार और प्रकाश वाले स्वच्छ पर सस्ते मकानों की भी इन केन्द्रों में बड़ी आवश्यकता है। कुछ प्रान्तीय सरकारों ने मिल मालिकों की सहायता से अच्छे स्वस्थ पक्के मकान मजदूरों के लिये बनवायें हैं।

बम्बई सरकार ने इस दिशा में अच्छा काम किया है। इसके अतिरिक्त बकिंघम और कर्नाटक मिल्स मद्रास, बृटिश इण्डिया कारपोरेशन व लाल इमली ऊनी मिल्स कानपुर, एम्पायर मिल्स नागपुर, टाटा आइरन वर्क्स जमशेदपुर, तथा दयाल बाग़ माडल इन्डस्ट्रीज़ आगरा आदि ने मज़दूरों के लिये बहुत से अच्छे और सस्ते घर बनवाए हैं। पर अधिकांश मजदूर अभी बहुत ही गन्दी बस्तियों और चालों में रहते हैं। बहुत से मजदूरों को तो घर नसीब ही नहीं होते वे सड़कों, पार्कों, दुकानों के सामने पड़कर सोते हैं और वहीं ईंटें रखकर भोजन भी किसी प्रकार बनालेते हैं। जाड़ों और बरसात में इनकी कठिनाइयों का सहज ही में अनुमान किया जा सकता है।

यह मजदूर घरों की समस्या एक विकट समस्या है और सभ्यता के लिये कलङ्क है। इसको हल करने में सरकार, मिल मालिक, म्यूनीसिपैलिटीज़, इम्प्रूवमेंटट्रस्ट, जनता और मजदूर सब को सहयोग देना चाहिये।

(२) श्रमिकों की भलाई

(Labour Welfare)

ऊपर बताया जा चुका है कि औद्योगिक केन्द्रों के मजदूरों की दशा कैसी शोचनीय है। उनकी आय कम है, रहन सहन बहुत नीचा है, वातावरण बहुत दूषित है। अतः उनका शारीरिक, मानसिक और नैतिक पतन सब प्रकार से हो रहा है। और इसलिये मजदूरों की

समस्या एक प्रमुख सामाजिक समस्या है, जिसका हल करना, समस्त समाज के हित में, परमावश्यक है।

यह भी ऊपर कहा जा चुका है कि कुछ सज्जन मिल मालिकों ने इस विषय में उदारता दिखाई है और मज़दूरों की भलाई के लिये उन्होंने कुछ काम किये हैं पर मज़दूरों की संख्या और समस्या की विशालता को देखते हुए वह कुछ नहीं है।

केन्द्रीय सरकार के कार्य

भारत की केन्द्रीय सरकार ने मज़दूरों की भलाई के लिये निम्न-लिखित कानून पास किये हैं :—

पहले पहल इस विषय का क़ानून १८८१ में पास किया गया; दूसरा १८९१ में, तीसरा १९११ से, चौथा १९२२ में; और फिर अभी हाल ही में १९४५ में एक नया फैक्टरी ऐक्ट पास किया गया।

इन क़ानूनों द्वारा निम्नलिखित सुविधाओं का प्रबन्ध मजदूरों के लिये किया गया है :—

(१) खतरनाक मशीनों से मजदूरों की रक्षा के लिये मशीनों के चारों ओर तार या पाढ़ लगाई गई है।

(२) मजदूर क्षति पूर्ति क़ानून (workmen's Compensation Act) के अनुसार काम करते समय चोट लगजाने या मृत्यु हो जाने पर मजदूर अथवा उसके आश्रितों की क्षति-पूर्ति करना अर्थात् मिल मालिकों का कुछ रुपया देना अनिवार्य हो गया है।

(३) काम करने के घंटे निश्चित कर दिये गए हैं। सप्ताह में ५४ घंटों से अधिक कार्य नहीं लिया जा सकता। नित्य प्रति दोपहर में भोजन के लिये कम से कम आध घंटे की छुट्टी जरूरी है और सप्ताह में एक दिन की छुट्टी आवश्यक है।

(४) एक सामाजिक बीमे का भी प्रबन्ध किया गया है। ३०) रुपया मासिक से अधिक वेतन पाने वाले मजदूरों को इसमें सम्मिलित

होना आवश्यक है। बीमे का कोष मिल मालिक और मजदूर दोनों की आर्थिक सहायता से बनता है। बीमार और कमजोर हो जाने पर इस कोष में से लगभग दो मास तक पूरी मज़दूरी मज़दूरों को दी जा सकती है। मृत्यु हो जाने पर मज़दूर के आश्रितों को एक निश्चित समय तक कुछ आर्थिक सहायता दी जा सकती है।

स्त्रियों को प्रसवकाल में छुट्टी दी जायगी और बीमा कोष में से कुछ धन की सहायता भी आवश्यकतानुसार की जा सकती है।

यह सामाजिक बीमे की योजना बहुत ही लाभदायक है। पर इसे सब कारखानों में चलाने पर जोर देना चाहिये।

(५) प्रसवकाल के पूर्व और पश्चात् एक निश्चित समय तक पूरी तनख्वाह पर स्त्रियों को १ से १½ मास तक छुट्टी मिल सकती है। मिलों में बच्चों की निगरानी के लिये बालक गृह भी खोले गये हैं।

(६) नौकरी दिलाने वाले केन्द्र खोले गये हैं, जो मज़दूरों को बिना फीस लिये नौकरी दिलाते हैं। पहले यह काम जमादार और ठेकेदार लोग करते थे और मज़दूरों से खूब रुपिया ऐंठते थे।

(७) न्यूनतम वेतन (minimum wages) का कानून बन गया है और भिन्न-भिन्न कारखानों में कार्य और परिस्थिति के हिसाब से कम से कम वेतन या मजदूरी निश्चित कर दी जायगी, जिससे कम किसी को नहीं दिया जा सकता।

(८) मिल मालिकों और मजदूरों के बीच झगड़े तै करने के लिये समझौता बोर्ड (Arbitration Boards) बनाये गये हैं। और न्याय करने वाले अफ़सर (Conciliation Officers) भी नियत किये गये हैं।

(९) वेतन समय पर मिलना चाहिये और जुर्माना ३=) प्रति सैकड़ा वेतन से अधिक नहीं हो सकता। जुर्माना भी बड़ी त्रुटियों पर हो सकता है।

(१०) मजदूरों के लिये स्वस्थ घरों की योजना बनाई जा रही है और ऐसे घर बनाने के लिये मिल मालिकों से सहायता ली जा रही है और उन्हें उत्साहित किया जा रहा है।

(११) एक निश्चित् आयु के नीचे के बच्चों से कारखानों में काम लेना क़ानून के विरुद्ध है।

(१२) १९३७ में एक क़र्ज़ा कानून भी पास किया गया है। जिसके अनुसार १००) रु० मासिक से कम वेतन पाने वाले का वेतन क़र्ज़े को अदा करने में जब्त नहीं किया जा सकती।

प्रान्तीय सरकार का कार्य

बम्बई सरकार के श्रम-मन्त्री श्री गुलजारीलाल नन्दा जी ने अपनी सरकार से १ लाख २० हजार रुपिये की रक़म ली और कुछ बड़े बड़े पूँजीपतियों से दान लेकर मजदूरों के लिये बहुत से मकान बनवाये।

उत्तर प्रदेश सरकार ने भी अभी १९४५–४६ में १ लाख ५७ हज़ार ६ सौ रुपिया श्रमिकों की भलाई के लिये व्यय किया था।

इसी प्रकार अन्य प्रान्तों में भी इस काम के लिये वहाँ की सरकारों ने बहुत रुपिया खर्च किया है और मजदूरों के लिये बहुत सी सुविधायें प्रस्तुत की हैं।

मजदूर भलाई केन्द्र

प्रान्तीय सरकारों ने मजदूर भलाई केन्द्र (Labour Welfare Centres) भी स्थापित किये हैं। यह केन्द्र तीन श्रेणी A, B, C में विभाजित कर दिये गये हैं।

A श्रेणी के केन्द्रों में आमोद प्रमोद के लिये रेडियो, भजन, नाटक नौटंकी आदि का प्रबन्ध किया गया है। साथ ही उनपर कई

प्रकार के खेलों जैसे फुटबाल, वाली वाल, कबड्डी आदि का भी प्रबन्ध है। अस्पताल, वाचनालय और पुस्तकालय भी खोले गये हैं। व्याख्यानों और मैजिक लैन्टर्न शो का भी आयोजन होता है।

B श्रेणी के केन्द्रों में यह सब काम बहुत ऊँचे पैमाने पर नहीं होते। कुछ खेलों की ओर विशेष ध्यान दिया गया है तथा रेडियो का भी प्रबन्ध है। एक छोटा मोटा अस्पताल भी दवादारू के लिये रहता है।

C श्रेणी के केन्द्रों में यही काम कुछ साधारण ढङ्ग से होता है। उत्तर प्रदेश में १९४३ में ऐसे केन्द्र २४ थे। अब उनकी संख्या कुछ और बढ़ गई है। यह केन्द्र कानपुर, आगरा, बरेली, फीरोजाबाद, हाथरस, सहारनपुर. अलीगढ़, मिर्जापुर, लखनऊ आदि स्थानों में पाये जाते हैं। कानपुर में चार A केन्द्र, ५ B केन्द्र और ७ C केन्द्र हैं। १९४४ से सरकार ने हमारे प्रान्त में मजदूर भलाई विभाग (Labour Welfare Department) स्थायी कर दिया है और अब वही इस कार्य को भली प्रकार कर रहा है।

मिल मालिकों द्वारा किये गये कार्य

(१) सस्ते किराये के अच्छे हवादार और प्रकाश वाले मकान बनवाये गये हैं। बिजली और पानी के नलों का भी प्रबन्ध है। साफ शौच स्थान भी अलग-अलग हैं।

(२) मजदूरों की स्वास्थ्य रक्षा के लिये मिलमालिकों ने स्त्री और पुरुषों दोनों की चिकित्सा करने के लिये अस्पताल भी खोले हैं।

(३) मजदूरों के बच्चों की शिक्षा के लिये स्कूल खोले गये हैं। कहीं-कहीं प्रौढ़ शिक्षा का भी रात्री पाठशालाओं में प्रबन्ध है।

(४) मजदूरों और उनके बच्चों के लिये आमोद प्रमोद के साधन, खेल कूद आदि भी प्रस्तुत किये गये हैं। अखाड़े भी हैं।

(५) पुस्तकालयों और वाचनालयों का भी प्रबन्ध है।

इस प्रकार मजदूरों की भलाई के कार्य केन्द्रीय सरकार, और मिल मालिकों द्वारा किया जा रहा है। पर जो मिलें फैक्टरी ऐक्ट के अन्दर आ जाती हैं उन्हीं के मज़दूरों के लिये यह सब सुविधायें हैं, सब के लिये नहीं। यह सारा कार्य्य बड़े बड़े शहरों में ही हो रहा है। गाँवों के मजदूरों की भलाई का कोई कार्य नहीं किया जा रहा है। न उनके लिये कोई विशेष कानून ही बने हैं।

श्रम संगठन और मज़दूर-संघ

(Trade unionism)

पाश्चात्य देशों में लगभग दो सौ वर्ष पूर्व एक औद्योगिक-क्रांति (Industrial Revolution) हुआ, जिसका मुख्य लक्षण था उद्योग धन्धों का बड़े पैमाने पर अर्थात् मशीन और शक्ति द्वारा संचालित कारखानों का मिल्स और फ़ैक्टरीज़ के रूप में सङ्गठित होना, इन मिलों में बहुत सी पूँजी लगाई गई और पूँजीपतियों ने पहले पहले उन्हें खोला और उनके आकार के हिसाब से उनमें मज़दूर भी बहुत से लगाए गए।

श्रम के नाशमान होने और श्रमिकों को ग़रीबी और असहायता तथा पारस्परिक स्पर्धा के कारण पूँजीपतियों ने उनका शोषण (exploitation) तभी से आरम्भ कर दिया। इसके फलस्वरूप उनको बहुत ही कम मज़दूरी मिलने लगी, काम भी दिन में १६ व १८ घंटों तक करना पड़ा, और उनकी सामाजिक व आर्थिक अवस्था बहुत खराब हो गई, रहन सहन का दर्जा भी बहुत नीचा हो गया और कार्य क्षमता भी बहुत कम हो गई। गन्दी बस्तियों में रहने के कारण उनका स्वास्थ्य भी सत्यानाश हो गया। स्त्रियों और बच्चों को भी बहुत हानि पहुँची।

मज़दूरों की इस अवस्था का वर्णन करते हुये डा० राधाकमल मुकर्जी (Dr. Radha Kamal Mukerji, Professor Head of the Department of Economics and Sociology, Lucknow University) ने लिखा है :—

"In these industrial centers manhood was being destroyed, womanhood was being dishonoured and childhood was being poisoned at the very source." अर्थात् 'इन औद्योगिक केन्द्रों में मनुष्यत्व का सर्वनाश नारीत्व का अपमान हो रहा था और शिशुता को विष दिया जा रहा था।

वास्तव में इन केन्द्रों में इस पूँजीवादी आर्थिक सङ्गठन में दीन, दुखी मज़दूरों का सब प्रकार से पतन ही हो रहा था।

समयान्तर में मध्यम श्रेणी के कुछ विद्वानों का ध्यान इस घोर सामाजिक जन-पतन और भयानक शोषण की ओर गया और उन्होंने इस रोग के निवारण की बात पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करना आरम्भ किया और शीघ्र ही वे इस परिणाम पर पहुँचे कि यदि मज़दूरों को संगठित करके उनमें एक सामूहिक शक्ति उत्पन्न कर दी जाय तो उनका उद्धार हो सकता है।

इसी भावना के साथ और इसी संघ-शक्ति के सिद्धान्त के अनुकूल योरोप के विभिन्न देशों में मज़दूर-आन्दोलन (Labour movement) आरम्भ हुआ और उसके फल स्वरूप मज़दूर-सङ्घों (Trade unions) की स्थापना होने लगी, इसी मज़दूर-सङ्घ स्थापना प्रणाली आन्दोलन को (Trade unionism) कहा जाता है ;

मजदूर सङ्घों के उद्देश्य

(१) मज़दूरों को सङ्गठित करके उनमें सामूहिक शक्ति बढ़ाना ।
(२) उनको कार्य कुशल बनाना ।
(३) उनकी आर्थिक व सामाजिक स्थिति को सुधारना ।

भारतवर्ष में मज़दूर आन्दोलन

भारतवर्ष में मज़दूर आन्दोलन १८७५ ई० में प्रारम्भ हुआ और १८८१ में पहला फ़ैक्टरी ऐक्ट पास हुआ। परन्तु यह ऐक्ट सन्तोषप्रद नहीं था इसलिये बम्बई के एक वृहत मज़दूर सम्मेलन में मज़दूरों ने कई एक मांगे पेश की और उनमें से कुछ को मिल मालिकों ने मान लिया विशेष रूप से साप्ताहिक छुट्टी की माँग। १८९० में सब से पहला मज़दूर सङ्घ—'बम्बई मिल-मज़दूर-सङ्घ' नामक संस्था के रूप में स्थापित हुआ।

१९१० में बम्बई के मज़दूरों की एक नई संस्था—'कामगार हित वर्धक सभा' की स्थापना हुई। इसके साथ २ 'कामगार समाचार नाम का साप्ताहिक पत्र भी निकला' इससे मज़दूरों में नई चेतना फैली।

भारत में रौलट ऐक्ट पास होने और जलियान वाला बाग़ की दुर्घटना तथा महात्मा गाँधी आदि राष्ट्रीय नेताओं की गिरफ़्तारी के कारण मज़दूरों में इस देश में भी एक हलचल मच गई।

उधर रूस के क्रांतिकारी आन्दोलन का भी मज़दूरों पर बहुत प्रभाव पड़ा और वह अपनी स्थिति और शक्ति को ठीक समझने लगें।

१९१८ में मद्रास में पहला मज़दूर सङ्घ खुला और फिर भिन्न २ कारखानों और हस्तकारियों में भी सङ्घ बने। इसी प्रकार बम्बई, कलकत्ता, अहमदाबाद आदि औद्योगिक नगरों में भी सङ्घ बने।

१९२० ई० में महात्मा जी ने अहमदाबाद में भी सूती कपड़ों के कारखाने का प्रसिद्ध श्रमिक-सङ्घ स्थापित किया, जो इस देश में सबसे अधिक सुसंगठित है। इसी वर्ष भारतवर्ष भर के मज़दूरों का 'अखिल-भारतीय ट्रेडयूनियन काँग्रेस' का अधिवेशन स्वर्गीय ला० लाजपतराय के नेतृत्व में हुआ। इसमें काम के घन्टे, मजदूरी, मकानों की सुविधा, चिकित्सा, छुट्टी आदि माँगों पर काफ़ी ज़ोर दिया गया।

ट्रेडयूनियन क़ानून

मज़दूर सङ्घों और मज़दूर आन्दोलन की तीव्र प्रगति को देखकर भारत सरकार ने ट्रेड यूनियन ऐक्ट (Trade Union Act) पहले २ पास किया, जिससे मज़दूर सङ्घों और सभाओं को हड़ताल करने का अधिकार मिल गया।

ट्रेडयूनियन कांग्रेस

'अखिल भारतीय ट्रेडयूनियन कांग्रेस' अभी तक राष्ट्रीय कांग्रेस की नीति से पूर्वतः सहमत थी, और अधिकतर कांग्रेस नेता ही इसका संचालन करते थे। सन् १९२९ में जब पं० जवाहरलाल जी की अध्यक्षता में नागपुर अधिवेशन हुआ उस समय वाम पक्ष वाले (Leftists) अ० भ० टे० कां० से अलग हो गये और उन्होंने श्री एन० एम० जोशी की अध्यक्षता में एक ट्रेडयूनियन फ़ेडेरेशन (Trade Union Federation) खोल ली।

सन् १९३० में अ० भ० टे० कां० का अधिवेशन श्री सुभाषचन्द्र बोस की अध्यक्षता में हुआ तो साम्यवादी (Communists) भी उससे अलग हुए और उन्होंने लाल ट्रेड यूनियन काँग्रेस (Red Trade Union Congress) खोली, इस प्रकार सं० १९३० तक हमारे देश में तीन अखिल भारतीय मज़दूर सङ्घों की सृष्टि हो गई।

(१) अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन काँग्रेस जो काँग्रेस की नीति से पूर्ण सहमत थी।

(२) अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन फ़ेडरेशन जो काँग्रेस के विरुद्ध था या वाम पक्षी था।

(३) अखिल भारतीय लालट्रेड यूनियन काँग्रेस जो साम्यवादी था।

१९३६ में काँग्रेस ने प्रान्तीय सरकारों की बागडोर अपने हाथ में ली और उन्होंने ट्रेड यूनियन काँग्रेस की उचित माँगों को मान लिया और मज़दूरों के वेतन बढ़े प्रान्तीय सरकारों ने मज़दूरों की दशा का अच्छी तरह अध्ययन करने के लिए श्रम कमीशन भी नियुक्त किये।

साथ ही सारे मजदूर संघों को मिलाने के भी प्रयत्न काँग्रेस सरकार ने किये, और शीघ्र ही साम्यवादियों ने अपनी त्रुटि स्वीकार की। लाल ट्रेड यूनियन काँग्रेस बन्द कर दी गई, और वह अ० भ० काँग्रेस में मिल गई। १९३८ में ट्रेड यूनियन फ़ेडरेशन भी इसी काँग्रेस में मिल गई। इस प्रकार द्वितीय महायुद्ध के पूर्व ही अखिल भारतीय ट्रेड-यूनियन काँग्रेस समस्त भारत के मज़दूरों की पूर्णरूप से प्रतिनिधि हो गई।

१९३९ में दूसरा महायुद्ध आरम्भ हुआ। काँग्रेस भारत के इस युद्ध में सम्मिलित होने के विरुद्ध था। और भारतीय सरकार को सहायता देने से उसने साफ़ इनकार कर दिया, इसी वर्ष श्री एम० एन० राय ने एक प्रथम लेबर फ़ेडरेशन खोला और उसने भारतीय सरकार को युद्ध में सहायता दी।

सन् १९४२ में महात्मा गाँधी के नेतृत्व में एक बृहत जन-क्रान्ति हुई और उसके फल स्वरूप गाँधी जी सब बड़े काँग्रेस और समाज वादी नेता जेल में चले गए। साम्यवादियों का अधिकार अखिल-

भारतीय-ट्रेडयूनियन कांग्रेस पर पर हो गया और युद्ध में रूस को अमरीका और इङ्गलैंड का साथ देने के कारण अ० भा० ट्रे० कांग्रेस भी सरकार की युद्ध में सहायक हो गई।

युद्ध के पश्चात् महात्मा गांधी के मतानुसार कांग्रेस नेता मज़दूर आन्दोलन में फिर जोरों से सम्मिलित हो गये और १९४६ में सरदार वल्लभ भाई पटेल और बम्बई प्रान्त के श्रम मंत्री श्री गुलजारी लाल नन्हा के नेतृत्व में मजदूर सेवक सङ्घ की स्थापना हुई। कांग्रेस सरकार ने फिर अपना शासन स्थापित कर लिया मज़दूरों की मांगें बढ़ी और खूब हड़तालें हुईं। जितनी मजदूर हड़ताल इस वर्ष में (१९४६) में हुई उतनी कभी नहीं हुई थी।

१९४७ में मजदूर सेवक संघ के वार्षिक-अधिवेशन के समय देहली में राष्ट्रीय ट्रेड युनियन कांग्रेस (National Trade Union Congress) की स्थापना हो गई। जो कांग्रेस की नीति से सहमत हैं।

अब इस समय हमारे देश में चार प्रकार के मजदूर संघ हैं:—

(१) कांग्रेस या राष्ट्रीय मत वाली ट्रेड यूनियन कांग्रेस।

(२) समाजवादी ट्रेड यूनियन कांग्रेस (श्री जयप्रकाश नारायण की अध्यक्षता में)

(३) साम्यवादी ट्रेड यूनियन कांग्रेस

(४) लेबर फ़ेडरेशन (श्री एम० एन० राय की अध्यक्षता में)

मज़दूर आन्दोलन की खराबियाँ

(१) मज़दूर आन्दोलन का संगठन ठीक नहीं है, क्योंकि राजनैतिक पार्टियों ने उस पर अपना अधिकार जमा लिया है, अतएव वे मज़दूरों के सामाजिक व आर्थिक हितों की दृष्टि कोण से नहीं वरन राजनैतिक दृष्टि कोण से ही इसका संचालन करती हैं। यदि कोई

पार्टी जैसे साम्यवादी (Communists) कांग्रेस के विरोधी हैं तो वे हड़तालें अवश्य करावेंगे चाहे उनसे लाभ हो या न हो, या उनकी आवश्यकता हो या न हो।

(२) मज़दूरों के नेता स्वयम मज़दूर नहीं है। वह कुछ पढ़े लिखे लोग हैं जो किसी न किसी राजनैतिक पार्टी से सहानुभूति रखते हैं और इसलिये वे मजदूरों के हितों को न ठीक समझते हैं और न उनकी रक्षा ही कर सकते हैं।

इसलिये आवश्यकता है कि मजदूर आन्दोलन राजनीति से अलग रहे और केवल मजदूरों की सामाजिक व आर्थिक समस्याओं पर ही ध्यान दे तभी मजदूरों का कल्याण हो सकता है।

प्रश्न

(१) हमारे औद्योगिक मज़दूर कैसे स्थानों में रहते हैं ? उनमें क्या खराबियां हैं और उनसे क्या हानियां हैं ?

(२) मज़दूरों की भलाई के लिये सरकार और मिल मालिकों ने क्या किया है . सूक्ष्म रूप से वर्णन कीजिये।

(३) भारतीय मज़दूर संघ पर एक नोट लिखिये।

सत्रहवां अध्याय

ग्रामीण समस्याएँ

(Village Problems)

अर्थशास्त्र के मुख्य सिद्धान्तों को बताने के बाद अब हम गांवों की विशेष आर्थिक और सामाजिक समस्याओं की ओर ध्यान देंगे।

यह कहा जा चुका है कि भारत एक खेती का देश है और लगभग ७५ प्रति सैकड़ा लोग खेती से ही अपना निर्वाह करते हैं। यह सब लोग तो गांवों में अपने खेतों के निकट रहते ही हैं, पर उनके अतिरिक्त कम से कम १५ प्रति सैकड़ा लोग और भी गांवों में रहते हैं, जो कुछ अन्य उद्योग-धन्धों और व्यवसायों में लगे हुए हैं, जैसे महाजन, बनिया, सौदागर, नाई, धोबी, तेली, बढ़ई, लोहार, कुम्हार, चमार आदि। इस प्रकार गांवों में हमारी जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग, लगलग ९० प्रतिशत् निवास करता है। शहर भी हमारे देश में बहुत हैं और बहुत बड़े २ हैं जैसे कलकत्ता, बम्बई, लाहौर, कानपुर, लखनऊ आदि, पर उनमें बहुत थोड़े ही आदमी अर्थात् १० प्रतिशत लोग रहते हैं।

इस दृष्टि से हमारा देश भारत गांवों में ही मुख्यतः निवास करता है। अतः उसकी उन्नति से ही देश की उन्नति और उसकी अवनति से ही देश की अवनति कही जायगी। इसलिये हम कह सकते हैं कि ग्रामीण भारत या गांवों में ही रहनेवालों की आर्थिक और सामाजिक तथा राजनैतिक समस्याएँ ही इस देश की प्रमुख समस्याएँ हैं, जिनके ठीक २ हल होने पर ही देश का भविष्य निर्भर है।

प्राचीन काल के इतिहास से पता चलता है कि हमारे गांवों की दशा बहुत अच्छी थी और गांवों के रहने वाले शिक्षित, स्वस्थ धर्मात्मा और सम्पन्न थे। राजनैतिक उथल पुथल होते रहने पर भी ग्राम निवासी बहुत ही सुखी और शान्तिमय जीवन व्यतीत कर रहे थे।

मुसलमानों के मध्य कालीन राज्य में भी कोई विकट ग्रामीण समस्याएँ उपस्थित नहीं हुई थीं। पर इधर दो सौ वर्ष के भीतर २ अर्थात् बृटिश शासन काल में बहुत सी आधुनिक समस्याएँ जन्मीं और अब इतनी जटिल बन गई हैं कि उनका सुलझाना कोई आसान

काम नहीं, फिर भी स्वराज्य प्राप्त हो जाने से और अपनी राष्ट्रीय सरकार स्थापित हो जाने से आशा की जाती है कि अब इन समस्याओं पर विशेष ध्यान दिया जायगा और गांवों का पुनरुत्थान और देश का कल्याण शीघ्र ही होगा।

यह महान दुर्भाग्य की बात है कि हमारे गांवों के किसान शताब्दियों से खेती करते आ रहे हैं और सारे देश के लिये ही क्या बहुत से विदेशों के लिये भी भोजन की सामग्री पैदा करते रहे हैं, फिर भी वे संसार भर में सबसे निर्धन और ऋणी हैं। उनका जीवनस्तर बहुत ही नीचा है। विदेशी लोग उन्हें देखकर हँसते हैं और उनकी तुलना पशुओं से करते हैं और वे करें क्यों न, जबकि हमारे ७५ प्रतिशत् किसानों को भर पेट भोजन नहीं मिलता, उनके पास कपड़े नहीं हैं जो हैं वे भी बहुत मैले, पुराने और फटे हुए, उनके घर भी टूटे फूटे छोटे और मिट्टी के हैं, जिनमें वे अपने पशुओं के साथ ही किसी प्रकार जीवन बिता रहे हैं, साथ ही न उनमें शिक्षा है न सफ़ाई। बहुत ही दीन दुखी और रोगी हैं। जो कुछ वे खेती में उत्पन्न करते हैं उसका बहुत सा भाग महाजन और ज़मींदार ले लेते हैं, और वे फिर वैसे के वैसे एक असहाय अवस्था में पड़े रह जाते हैं और अपने भाग्य को कोसते रहते हैं।

शिक्षा के अभाव के कारण वे न कुछ सोच सकते हैं न समझ सकते हैं। नए उपाय नई योजनाएं उन्हें सब बुरी लगती हैं चाहे फिर वह जितने भी लाभ की बातें क्यों न हों। पुरानी लकीर के फकीर बने रहना ही वे अच्छा और ठीक समझते हैं। उदाहरण के लिये सारी बीमारियों और शारीरिक कष्टों का कारण वे प्रेत बाधा ही समझते हैं और इसलिये दवा इलाज न करके झाड़ फूंक में ही लगे रहते हैं। चाहे भी जितना इस विषय में उन्हें समझाया जाय वे अपने उस अन्ध विश्वास को न छोड़ेंगे।

इसी प्रकार स्वच्छता और सफ़ाई की भी उन्हें कोई विशेष चिन्ता नहीं है। गांवों में घर के पास ही सारा कूड़ा करकट जमा रहता है, काला गन्दा पानी घरों के भीतर ही सड़ता रहता है। घरों के पास ही थोड़ी दूर पर लोग पेशाब पाख़ाना करते रहते हैं। गन्दे तालावों के बंधे हुए पानी में ही वे शौच, स्नान आदि करते हैं और कहीं कहीं पीने के लिये भी उसे प्रयोग में लाते हैं। यही कारण है कि वे अनेकों घातक रोगों के शिकार बने रहते हैं और दुर्बल और कमज़ोर होते जाते हैं।

अतएव हमारे गांवों की वास्तव में बहुत सी समस्याएँ हैं, जिनका सुलझाना शीघ्र ही परमाश्वयक है यदि हमें अपने देश को पतन से बचाना है और उसके लिये संसार के सभ्य देशों में एक उच्च और सम्मान का स्थान प्राप्त करना है और देश के निवासियों को भी यह अवसर देना है कि वे अपनी शारीरिक मानसिक और अध्यात्मिक उन्नति अबोध रूप से कर सकें।

हम अपनी ग्रामीण समस्याओं को दो समूहों में बांट सकते हैं :—

१—आर्थिक समस्यायें।
२—अन्य सामाजिक समस्यायें।

(१) हमारे गाँवों की आर्थिक समस्यायें :—

१—खेती की उन्नति।
२—दस्तकारी या कला कौशल की उन्नति।
३—पशुओं की समस्या।
४—ऋण समस्या।
५—मुक़दमे बाज़ी।

(२) हमारे गाँवों की अन्य सामाजिक समस्यायें:—

६—ग्रामीण शिक्षा की समस्या।

७—मनोरंजन की समस्या।

८—स्वच्छता और स्वास्थ्य।

९—हमारी भोजन समस्या।

१०—ग्राम सुधार।

यदि उपर्युक्त समस्याओं को हम सुलझा सकें तो इसमें सन्देह नहीं कि हमारे किसान दुनियां के सब से अधिक सभ्य और संस्कृत समझे जांयगे और हमारे गांव भी अमरीका और इङ्गलैण्ड के गांवों के समान सुन्दर, स्वच्छ और सम्पन्न हो जांयगे और भारत देश फिर इस योग्य बन जायगा कि दिव्यलोकों के देवतागण भी यहाँ अवतरित होने के लिये लालायित हो उठेंगे। यद्यपि यह अत्यन्त हर्ष और सन्तोष की बात है कि कांग्रेस सरकार इन सारी समस्याओं का शीघ्रातिशीघ्र हल करना चाहती है और ऐसी क्रियात्मक योजनायें भी बना रही और रुपिया भी खर्च कर रही है। पर सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि स्वयम जनता में प्रगति और उन्नति की भावना दृढ़ हो और वह अपनी उन्नति के लिये प्रतिज्ञा करके अथक परिश्रम करें और सरकार के कार्यों में हृदय से योग दें।

इतने बड़े देश की गुरुतर समस्यायें केवल सरकार के भगीरथ परिश्रम से ही हल होना असम्भव है जब तक जनता स्वयम् भी इसके लिये इच्छुक और तैयार न हो।

अब हम इन समस्याओं पर एक-एक करके विचार करेंगे।

अठारवाँ अध्याय

हमारी खेती की समस्या

खेती हमारा राष्ट्रीय व्यवसाय कहा जाता है। क्योंकि लगभग ७५ प्रतिशत् लोग उसमें लगे हुए है और वे गाँवों में रहते है। वास्तव में खेती की उत्पत्ति पर सारा देश भोजन की सामग्री के लिये निर्भर है। अतः खेती की शोचनीय दशा और हीनावस्था हमारी चिन्ता और दुख का कारण है। यह लज्जा की बात है कि जिस देश में ७ लाख गाँवों में ३० करोड़ आदमी खेती करते हों वह अपना पेट भरने के लिये दूसरे देशों की दया पर निर्भर हो जैसा हम इस समय देख रहे हैं। पिछले वर्ष हमने लगभग १५० करोड़ रुपिये का अनाज विदेश से मोल लिया है तब हम जीवित रह सकें हैं। इस गिरी हुई दशा का एक मुख्य प्रमाण यह भी है कि हमारी खेती की पैदावार प्रति एकड़ बहुत ही कम है। अन्य देशों की प्रति एकड़ पैदावार का यह तिहाई, चौथाई और पांचवा हिस्सा है।

हमारी खेती की अवनति के मुख्य कारण :—

१—प्राकृतिक कारण।
२—भूमि सम्बन्धी कारण।
३—श्रम सम्बन्धी कारण।
४—पूँजी सम्बन्धी कारण।
५—संगठन सम्बन्धी कारण।
६—खेती के पुराने तरीके।

प्राकृतिक कारण

खेती पानी पर निर्भर है। बिना सिंचाई के खेती नहीं हो सकती, हम अधिकतर पानी की प्राकृतिक देन या वर्षा पर ही इसके लिये निर्भर हैं। पर हमारे देश की वर्षा में दो बड़ी खराबियां हैं।

एक तो यह कि वर्षा साल भर में केवल तीन महीने अर्थात् असाढ़ सावन और भादों में होती है। बाकी साल भर वर्षा नहीं होती। जाड़े में कभी-कभी कुछ नाम मात्र को ही वर्षा होती है।

दूसरी बात यह है कि देश के उत्तरीय पूर्वीय भाग में ही वर्षा अधिक होती है। पश्चिमीय और दक्षिणीय भाग में बहुत ही कम होती है।

इन दोनों बातों का खेती पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। जलवायु और भूमि के अनुकूल साल के जिस भाग और देश के जिस भाग में सब से अधिक वर्षा होती है उसमें बहुत ही साधारण खरीफ़ की फसल होती हैं। जिसमें धान, ज्वार, मक्का ऐसी वस्तुयें पैदा होती हैं जिनकी भोजन की दृष्टि से पौष्टिक उपयोगिता कम हैं और आर्थिक दृष्टि से उनका मूल्य भी बहुत कम है। कभी-कभी इतनी अधिक वर्षा हो जाती है कि नदियों में बहुत ही हानिकारक बाढ़े आ जाती है और खेती नष्ट हो जाती है और कभी-सूखा या अकाल पड़ जाता है।

जो हमारी बहुत उपयोगी और रुपिया देने वाली फसल है अर्थात् रबी की फ़सल जिसमें गेहूं, चना, मटर इत्यादि पैदा होता है उसको पानी नहीं मिलता। थोड़ी बहुत सिंचाई इस फ़सल में तालाबों से और शेष कुओं से होती है। अब नहरें भी बनाई गई हैं जिनसे सिंचाई में कुछ सुविधा हो गई है पर अब भी देश में सिंचाई के साधनों की बहुत कमी महसूस हो रही है।

पंजाब प्रान्त में दक्षिणी भाग में तो नहरों का एक जाल सा है बिछा दिया गया है, जिससे वहां खेती में आश्चर्यजनक उन्नति हुई है हमारे प्रान्त में भी गंगा, जमुना और घाघरा से कई एक नहरें निकाली गई हैं; पर सिंचाई की सुविधा के साथ ही उनसे भूमि को भी बहुत हानि हुई है। नहर का पानी भी उतना उपजाऊ नहीं समझा जाता जितना कुओं का।

हमारे प्रान्त में वास्तव में कुएँ ही सिंचाई के मुख्य साधन हैं पर अधिकतर यह कुएँ कच्चे हैं जो बरसात में खराब हो जाते हैं और इस प्रकार उन्हें हर साल मरम्मत करना पड़ता है। फिर किसान के खेत इतने छिटके हुए हैं कि हर खेत में कुआं खोदना उसके लिये असम्भव है। दूसरे यह कि अच्छे पक्के कुएँ बनाने के लिये उसके पास न तो धन है और न साहस क्योंकि उसका खेत स्थायी रूप से उसके पास नहीं रहता। इन कुओं से पानी कम मिलता है और श्रम तथा व्यय अधिक होता है। इसलिये अब कहीं-कहीं रहट वाले पक्के कुएँ बनाये गये हैं जिनसे पानी काफी कम खर्च से मिल जाता है। पर यह भी गरीब किसान नहीं कर सकता।

सरकार ने अब ट्यूब वेल्स (Tube wells) बनाने की योजना निकाली है, बिजली से मशीन चलाकर बहुत काफ़ी पानी निकाला जा सकता है। इन कुओं की संख्या धीरे-धीरे बढ़ाई जा रही है।

कुएँ अधिकतर उत्तर भारत में ही काम में लाये जाते हैं, जहां ज़मीन मुलायम हैं। तालाब भी प्रयुक्त होते हैं, जिनमें वर्षा का पानी जमा हो जाता है। रबी की बहुत कुछ सिंचाई इन्हीं तालाबों से होती है। सिंचाई के लिये तालाब विशेषतया दक्षिण भारत में प्रयुक्त होते हैं क्योंकि वहां कुएँ और नहरें नहीं बनाई जा सकती। वहां की ज़मीन बहुत कड़ी और पथरीली है।

वर्षा के अलावा बाढ़, ओले, पाले, टिड्डी आदि से भी खेती को बहुत हानि पहुँचती है। पर उसका कोई उपाय समझ में नहीं आता। हां बाद के लिये यह बताया जाता है कि हिमालय के जंगलों के कट जाने से बाढ़ों का आना अब बहुत बढ़ गया है। अतः यदि जंगल वहां फिर से लगाए जावें तो बहुत कुछ लाभ हो सकता है। केन्द्रीय सरकार इस विषय पर विचार कर रही है और शीघ्र ही कुछ सफलता होगी। कुछ जंगली जानवर भी खेती को बहुत नुकसान पहुँचाते हैं। जैसे फैजाबाद जिले में सरयू नदी के किनारे जो खेती होती थी उसको नीलगायों के झुण्ड के झुण्ड बहुत ही हानि पहुँचाते थे। मगर अब वह बिल्कुल नहीं आते। सरकार ने कुछ स्थानीय लोगों की सहायता से उन्हें पकड़वा लिया गया और भगा दिया गया है। इसका एक उपाय यही है कि किसान लोग अपने खेतों के चारों ओर पाड़ और काँटेदार झाड़ी लगावें और उन्हें सुरक्षित रक्खें।

पशुओं से बढ़कर कीड़े भी फसलों को बहुत नुकसान पहुँचाते हैं। एक बार लगजाने से वे फिर आसानी से पौदों को नहीं छोड़ते। पानी की अधिकता या कमी या खाद की खराबी से साधारणतया कीड़े लग जाते हैं। बीजों के खराब होने से भी कीड़े बहुत लगते हैं। अतः किसानों को सावधानी से बीज, खाद और पानी देना चाहिये। कृषि विभाग ने कुछ तरीके इन कीड़ों को नाश करने को निकाले हैं उनसे सलाह लेते रहना चाहिये।

खेती की अवनति के भूमि सम्बन्धी कारण

खेती की उन्नति में भूमि सबसे महत्वपूर्ण साधन है। परन्तु इस समय कुछ ऐसे दोष हमारी भूमि में पैदा हो गए हैं जिनके कारण खेती की पैदावार बहुत गिर गई है और खेती में लाभ के स्थान में हानि हो रही है। यह दोष निम्नलिखित हैं :—

(१) भूमि की उर्वरा शक्ति में कमी ।

(२) भूमि का छोटे २ खेतों में बटा होना और उनका छिटका होना ।

(३) स्थायी सुधारों (Permanent improvements) का प्रभाव ।

(४) लगान-प्रथा के दोष ।

भूमि की शक्ति में कमी

भूमि की उर्वरा शक्ति में वास्तव में बहुत कमी आ गई है। इस विषय पर पिछले एक अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। यहां पर इतना ही कहना काफ़ी है कि हमारे किसानों को गोबर की खाद को जैसे भी हो सके बचाना चाहिये और जमा करके कम्पोस्ट बनाने के तरीक़े जानना चाहिये और खेतों की शक्ति को बढ़ाना चाहिये साथ ही सहकारी समितियों द्वारा रासायनिक खाद (Chemical fertilisers) का भी प्रबन्ध करना चाहिए। भारत सरकार ने एक बहुत बड़ा कारखाना इस खाद को बनाने के लिये खोला है। इसलिए अब वह सस्ते दामों से भी मिल सकेगी। भूमि को परती छोड़ने और हेर फेर कर खेती करने से भी भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ेगी।

भूमि का छोटे २ खेतों में बटा होना और उनका छिटका होना।

इस बात पर भी पहले काफ़ी ज़ोर दिया जा चुका है कि जब तक हमारे खेतो की चक बन्दी न होगी, खेती की उन्नति होना असम्भव है। विद्वानों के मतानुसार इस कारण से कम से कम २५ प्रतिशत खेती की हानि हो रही है। अतः यह भूमि में बहुत ही आवश्यक

सुधार हैं। यद्यपि "सहकारी चक बन्दी समितियाँ" (Co-oprative consolidation societies) हमारे देश में बहुत दिनों से कार्य कर रही हैं पर सिवाय पंजाब के और कहीं किसी प्रान्त में भी अभी तक कोई विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई है। उसके लिये हमारे प्रान्त में तथा अन्य प्रान्तों में कुछ क़ानूनी सुधारों की शीघ्र आवश्यकता है, जो कि अब अवश्य किये जाने चाहिये अन्यथा चक बन्दी के काम में सफलता असम्भव है।

स्थायी सुधारों की कमी

स्थायी सुधारों में खेतों के चारों ओर पाड़ या वाड़े बनाना, पक्के कुएँ बनाना, पक्की नालियाँ बनाना, पशुओं के रहने के स्थान बनाना तथा औज़ार, बीज, खाद, ग़ल्ला भूसा आदि रखने के लिये गोदाम बनाना आदि बातें आती है।

पाश्चात्य देशों में जहाँ भूमि बड़ों चकों में बटी है। जहाँ किसान के भूमि में स्थायी अधिकार है और जहाँ बड़े पैमाने पर और वैज्ञानिक ढंग से खेती होती है यह सब स्थायी सुधार भी सम्भव हैं और खेती लाभदायक है। पर हमारे देश में अभी वे सब बातें नहीं है और जब तक यह सब परिवर्तन नहीं होते स्थायी सुधारों की बात किसान सोच ही नहीं सकता। उदाहरण के लिए यदि वह कुएँ बनाना चाहें तो कितने बनावे, कैसे बनावे और क्यों बनावे। खेतों के बटे होने के कारण बहुत से कुओं की आवश्यकता है। अतः जब तक चक बन्दी न हो एक अच्छे कुएँ का बनाना असम्भव है। एक चक हो जाने पर और भूमि का मालिक हो जाने पर ही वह ऐसा कर सकता है। उसको बराबर यह डर रहता है कि कहीं उसका खेत उससे न छीन लिया जावे। यहीं बात और सब स्थायी सुधारों के लिये ठीक है।

लगान प्रथा के दोष

इस पर भी हम काफी विचार कर चुके हैं। किसान के लाभ बहुत कुछ भाग लगान में चला जाता है लगान बहुत बढ़ गया है जों किसान के लिये देना असम्भव हो गया है। अतः इसका उ एक ओर तो ज़मीदारी उन्मूलन द्वारा और दूसरी ओर किसानों भूमिधारी अधिकारों के द्वारा किया जा रहा है। आशा है कि साल के भीतर ही लगान आधा हो जाने से और ज़मीदारों की निरन्त माँगों और अत्याचारों के दूर हो जाने से खेती में अवश्य ला होगा।

खेती की अवनति के श्रम-सम्बन्धी कारण :—

खेती की शोचनीय अवस्था का एक मुख्य कारण किसानों शारीरिक और मानसिक दुर्बलता और आधुनिक वैज्ञानिक सम्बन्धी ज्ञान की कमी है।

खेती के साधनों में भूमि के पश्चात् श्रम या मानवीय परिश्रम महत्ता है। वास्तव में किसान की शक्ति और बुद्धि पर ही खेती सफलता बहुत कुछ निर्भर है।

किसानों की शक्ति हीनता का कारण एक तो उनके जीवन स्त की न्यूनता है और दूसरा स्वच्छता और सफ़ाई की कमी है जिसके कारण मलेरिया, हैजा आदि घातक बीमारियां फैली हुई हैं। जीवन-स्तर को ऊँचा करना तो सभी सम्भव हो जब उनकी आय बढ़े और शिक्षा होगी। स्वच्छता और सफ़ाई भी शिक्षा और पैसे प ही बहुत कुछ निर्भर है।

अतएव हम देखते हैं कि हमारा किसान हीन जीवन-स्तर, अनिपुणता, कम आय और अज्ञानता के एक चिन्ताजनक कुचक्र (vicious circle) में फँसा हुआ है और उसकी समझ में नहीं

आता कि वह क्या करे। अतएव इन सब समस्याओं पर साथ २ ही आक्रमण करना होगा और अब किया भी जा रहा है। साधारण शिक्षा, खेती की सुविधाएँ, इलाज का प्रबन्ध और गाँवों की सफाई की ओर सरकार विशेषरूप से ध्यान दे रही है। सामाजिक शिक्षा की ओर इस समय विशेष ध्यान दिया जा रहा है जिसके द्वारा प्रौढ़ों का भी मानसिक विकास होगा और वे स्वयम भी अपनी कठिन जीवन समस्याओं की ओर ध्यान देंगे और सरकारी योजनाओं में सहर्ष योग देंगे।

स्कूलों, रेडियों, सूचना विभाग की लारियों और नुमायशों द्वारा ज्ञान का प्रसार काफी किया जा रहा है और जैसे २ गांवों में किसान स्वयम इन बातों में दिलचस्पी लेते जायँगे कार्य में और भी सफलता बढ़ती जायगी।

किसान के जीवन में निपुणता बढ़ाने और चरित्र गठन के लिये हमें नैतिक और सच्ची धार्मिक शिक्षा की भी आवश्यकता है। क्योंकि भारतीय किसान मूलतः एक आध्यात्मिक और धार्मिक व्यक्ति है। यह बात हमें अपनी योजनाओं में सदैव स्मरण रखनी चाहिये।

खेती की अवनति के पूँजी सम्बन्धी कारण

श्रम के बाद प्रत्येक व्यवसाय में पूँजी की ज़रूरत होती है। किसान को भी पूँजी की कुछ न कुछ ज़रूरत रहती है। हमारे किसान के पास सैकड़ों गुना पूँजी है। यह एक बहुत बड़ा कारण हमारी खेती की दुर्गति का है।

उन्हें जो पूँजी मिलती भी है वह कठिनाई से और बहुत मँहगे दामों पर अर्थात् बहुत ही ऊँची ब्याज की दर पर। इसीलिए वे सदैव महाजन के ऋणी बने रहते हैं। इस दोष को दूर करने का एक मात्र उपाय सहकारी ऋण समितियों का अधिक प्रचार और उनका ठीक संचालन है। साथ ही ऐसी भी सहकारी समितियां खोली जा

सकती हैं जो उन्हें हल व अन्य औजार, खाद और बीज आदि उधार और कम ब्याज पर देने का प्रबन्ध कर सकती हैं।

महाजनों के अत्याचार और बेईमानी से किसानों को छुटकारा दिलाना ही होगा। एक बार भी महाजन से कर्जा ले लेने पर वह एक जीवन में क्या कई जीवनों में भी उनसे उऋण नहीं हो सकता। हमारे देश के बहुत से किसान परिवार पीढ़ियों से पैत्रिक ऋण चुकाने का प्रयत्न कर रहे हैं पर उनका पीछा उससे किसी प्रकार नहीं छूटता।

जब तक इस जटिल समस्य अर्थात् ग्रामीण-ऋण समस्या को पूर्णतया सुलझा न लिया जायगा कृषि और किसान की उन्नति होना असम्भव ही है।

संगठन और साहस सम्बन्धी कारण

जहां तक साहस का सम्बन्ध है हमारे किसान बहुत साहसी हैं। क्योंकि हानि पर हानि होते रहने पर भी वे खेती नहीं छोड़ते और उसी में जोंक की तरह चिपटे हुये हैं। पर उन्हें खेती के सहायक धंधों को करने का साहस करना आवश्यक है और बेकार समय का सद्-उपयोग करना आवश्यक है। छोटी दस्तकारियों को बढ़ाने का सरकार की ओर से आयोजन हो रहा है।

संगठन के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि अपने माल की बिक्री का प्रबन्ध उन्हें अच्छी बाजार में अवश्य करना है। इस विषय पर भी पहले प्रकाश डाला जा चुका है।

इस प्रकार इन सारी खेती की बातों पर आधुनिक ढंग से विचार किया जावे और इन आवश्यक प्रश्नों को हल किया जावे तो शीघ्र ही खेती की उन्नत होगी, हमारा देश सम्पन्न होगा, गाँवों और किसानों की दशा बहुत कुछ सुधर जावेगी।

खेती के करने के ढङ्ग

हमारे देश में खेती बहुत ही पुराने तरीके पर की जा रही है। उसमें आधुनिक ज़रूरतों के अनुसार परिवर्तन अवश्य होने चाहिये। खाद देने, जोतने, बोने और सींचने आदि के तरीकों में किसानों को शीघ्र नवीनता और वैज्ञानिकता होनी चाहिये। कृषि विभाग को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिये।

अभी १६ जुलाई को शोलापुर में अखिल भारतीय करघा संघ के सामने भाषण करते हुए हमारे नए केन्द्रीय दस्तकारी सचिव श्री हरी कृष्ण मेहताब ने कहा है कि करघा उद्योग हमारा सबसे बड़ा घरेलू धन्धा है उसकी उन्नति दो बातों पर निर्भर है :—

(१) करघे से उत्पन्न किये हुए कपड़े को एक ढंग का बनाना होगा, व्यक्तिगत रुचि को दृष्टि में रखते हुए भिन्न २ प्रकार का एकसा कपड़ा बनाना बहुत ज़रूरी है और भारतवर्ष में ऐसा होता रहा है। दूसरे शब्दों में इस कपड़े के (Standardisation) एक सा बनने की आवश्यकता है।

(२) मिल के बुने हुए सूत के स्थान में हाथ के बुने हुए सूत का प्रयोग में लाना।

इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी कहा कि हमें हाथ का बना कपड़ा इतना पैदा करना चाहिये कि हम मिल के बने कपड़े को बाहर भेज सकें। इस दस्तकारी में कच्चे माल अर्थात् सूत की इस समय बहुत कमी है और इसे पूरा करने के लिये हाथ से सूत कातने के लिये ग्रामवासियों को उत्साहित किया जाना चाहिये।

सन् १६२४ में पूज्य गांधी जी ने भी यही मत स्थिर किया था कि हमें कपड़े की आन्तरिक मांग की पूर्ति चरखे और करघे की दस्तकारियों से करना चाहिये और मिल का कपड़ा बाहर भेजा जाना चाहिये।

इसी प्रकार और सब घरेलू दस्तकारियों में भी कच्चे माल के उत्पादन पर जोर दिया जाय और सरकार की ओर से उसके उत्पादकों को हर प्रकार की सहायता दी जाय। जैसे रुई, जूट, गन्ना इत्यादि की उत्पत्ति और दस्तकारों में उनके वितरण के लिये सहकारी समितियाँ खोलकर सरकार इस काम को अपने हाथ और निगरानी में ले सकती है। साथ ही औज़ारों और रुपया उधार देने के लिये भी समितियाँ बनाई जावें। सरकार की ओर से निपुण परामर्शदाताओं का भी ग्रामों में रहने और घूमने का यथोचित प्रबन्ध होना चाहिये।

अन्त में इतना कह देना भी आवश्यक है कि जब तक हम हाथ की बनी वस्तुओं से प्रेम न करेंगे और उनके पीछे लगे हुए जनश्रम की महत्ता को न समझेंगे तब तक घरेलू उद्योग धन्धों की उन्नति होना असम्भव है। यह दुख की बात है कि हमारा राष्ट्र इतनी जल्दी राष्ट्रपिता के अमोघ मन्त्र और सन्देश को भूल गया और उसने उन स्वदेशी वस्त्रों तथा अन्य वस्तुओं का प्रयोग करना छोड़ दिया, जिनको हमारे गाँववाले अपने त्याग और परिश्रम से उत्पन्न करते हैं, और जिनपर उनकी जीविका और रहन-सहन निर्भर है।

प्रश्न

(१) 'हमारी खेती में काफ़ी उन्नति की जा सकती है' इस विचार से आप सहमत हैं ? यदि हां तो क्यों ?

(२) भारतीय कृषि क्यों और देशों की कृषि से पिछड़ी है ?

(३) स्थायी सुधारों से क्या अर्थ है ? हमारी खेती में यह सुधार क्यों नहीं होते ?

(४) हमारी लगान प्रथा में क्या दोष हैं ? खेती को उससे क्या हानि हो रही है ? इसका उपाय क्या है ?

(५) हमारे कृषि संगठन में क्या दोष हैं ? सविस्तार लिखिये।

(६) पानी की कमी हमारे देश में क्यों है ? सिंचाई के साधन कैसे बढ़ाए जा सकते हैं ?

उन्नीसवाँ अध्याय

ग्रामीण दस्तकारी की उन्नति

पिछले एक अध्याय से हमने ग्रामों के घरेलू उद्योग धंधों पर कुछ विचार किया था और ग्रामीण आर्थिक जीवन में उनकी आवश्यकता भी बताई थी।

अब इस अध्याय में हम ग्रामीण दस्तकारियों की उन्नति के विषय में कुछ विस्तृत दृष्टिकोण से विचार करना चाहते हैं। क्योंकि इससे हमारे देश की आर्थिक उन्नति का अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध है और गाँव वालों की आय और सम्पत्ति की वृद्धि में उसका एक विशेष स्थान है।

स्वराज्य प्राप्ति के बाद ही से देश की अधोगति और आर्थिक दुर्दशा पर हमारी कांग्रेस सरकार तथा राष्ट्र के प्रमुख नेतागण दत्तचित्त होकर विचार कर रहे हैं, जिसके फलस्वरूप बहुत सी 'आर्थिक योजनायें' हमारे सामने आती रही हैं।

विचार विनिमय करते करते अब हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि देश में एक 'आर्थिक सन्तुलन' (Balance of Economy) की आवश्यकता है, जिसका अर्थ यह बताया जाता है कि एक ओर खेती और दस्तकारी में सन्तुलन रहे और दूसरी ओर बड़ी दस्तकारियों और छोटी घरेलू दस्तकारियों में भी सन्तुलन रहे। यहाँ पर हम इस सन्तुलन को केवल इतना समझा देना काफी समझते हैं कि एक ओर तो हमारे गांवों में खेती और दस्तकारी दोनों की साथ-साथ उन्नति का मार्ग निकाला जाय अर्थात् देश के अधिकतर लोग केवल खेती पर

ही निर्भर न रहकर दस्तकारी से अधिक से अधिक जीविकोपार्जन करें, जिसमें खेती भी लाभदायक हो सके और दस्तकारी भी बढ़ सके, दूसरी ओर बड़े-बड़े कारखाने सारी वस्तुओं को न बनावें कुछ दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति का काम ग्रामीण दस्तकारी और गांवों के लिये छोड़ दें।

एक बहुत बड़ा कारण हमारे घरेलू उद्योग धंधो के नष्ट या मृत प्राय हो जाने का यही है कि वे देश या विदेश दोनों की बड़ी-बड़ी पूँजीवादी उत्पादक संस्थाओं के साथ किसी प्रकार भी स्पर्धा नहीं कर सकते, कम से कम इस अवस्था में जिसमें वे इस समय हैं। तो एक मार्ग इन दस्तकारियों की उन्नति का यह है कि सरकार ऐसी योजना बनावे जिसमें यह दानव और बौने का मल्ल युद्ध और विरोध स्थायी रूप से समाप्त हो जाय, अर्थात् मिल-दस्तकारियों और ग्रामीण घरेलू दस्तकारियों में कोई भी ईर्ष्या द्वेष या स्पर्धा के लिये हमारे राष्ट्रीय आर्थिक जीवन में स्थान न रह जाय।

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि उचित अध्ययन के पश्चात् सरकार एक ऐसी सूची दस्तकारियों की तैयार करे जो छोटे पैमाने पर गांवों में अबाध रूप से उन्नति कर सकें और दूसरी सूची ऐसी बनावे जिनका बड़े पैमाने पर उचित स्थानों पर संगठन और संचालन किया जा सके। इन में से कुछ पर सरकार का अधिकार रहे और कुछ व्यक्तियों और समूहों द्वारा संगठित की जाय। इन घरेलू दस्तकारियों का एक मार्ग हमको जापान और मध्य-योरप ने भी दिखाया है। जहां छोटे उद्योग धंधे इस प्रकार से संगठित किये गये हैं कि वे काफी सम्पत्ति उत्पन्न करते हैं और बड़ी उत्पादक संस्थाओं से स्पर्धा भी करते हैं और सफल भी हैं।

उपर्युक्त दोनों स्थानों में जल विद्युत शक्ति का गांवों में भी प्रसार कर दिया गया है और प्रत्येक ग्रामीण परिवार इस शक्ति का प्रयोग

उत्पादन के लिये कर सकता है और कर रहा है। शक्ति के प्रसार के साथ-साथ इस योजना में इतना और करना पड़ा हैं कि ग्रामीण दस्तकारों के लिये ऐसे औजार और छोटी मशीने बनाई गई हैं, जो घर के भीतर छोटे स्थानों में विद्युति शक्ति का प्रयोग कर सकती हैं। इसमें सहकारी आन्दोलन ने भी पूँजी देकर दस्तकारों की बड़ी सहायता की है। हमारी सरकार की भी कुछ समय के भीतर इस योजना का अनुकरण करना चाहिये।

इस योजना में एक सबसे बड़ा लाभ वह है कि धंधों का विकेन्द्रीकरण (Decentralization) स्वतः हो जाता है और वह सारी समस्यायें जो इस समय उद्योगी नगरों के सामने हैं अपने आप सुगमता से हल हो जाती हैं। उदाहरण के लिये घनी आबादी, अस्वस्थ और अनैतिक और कृत्रिम जीवन, जिसके केन्द्र हमारे शहर बन रहे हैं, अपने आप बहुत कुछ दूर हो जावेंगे और गाँव के लोग अपने गाँव के प्राकृतिक वातावरण में स्वतन्त्र रहकर अपने आत्म सम्मान, स्वास्थ्य, और चरित्र की भली भाँति रक्षा कर सकेंगे और गाँवों को सुन्दर और स्वस्थ बनाने की चेष्टा करेंगे तथा कृषि में भी सहायता करेंगे जहां श्रम की कमी के कारण मज़दूरी बढ़ रही है और खेती करना कठिन हो रहा है।

इस योजना के साथ-साथ शिक्षा का प्रचार और बिक्री का संगठन भी आधुनिक ढङ्ग से करना आवश्यक होगा। नहीं तो गांव का दस्तकार न तो कार्य कुशल बन सकेगा और न अपने माल को बेच सकेगा इसके लिये सहकारी माल बेचने वाली संस्थायें तथा सूचना देने वाली संस्थायें भी काफी बनानी होंगी। यह कार्य भी सरकार को ही करना होगा।

इसके अतिरिक्त दूसरे देशों में भी हमारी दस्तकारी की चीज़ों का प्रचार करना होगा और वहां अपने माल की मांग बढ़ाना होगा। अभी

हाल ही में हमारे अमरीका के पूर्व अम्बासेडर, श्री राव ने भी इस बात पर ज़ोर दिया था कि अमरीका में हमारे हाथ के बने हुए कपड़ों की मांग है। इसलिये उनके प्रचार का प्रबन्ध और अन्तर्राष्ट्रीय बिक्री की संस्था शीघ्र संगठित होनी चाहिये जो इस कार्य को अपने हाथ में ले। इस व्यापार से हमारी डालर कमाने की शक्ति बढ़ जायगी और हमारी दस्तकारियों को एक बहुत ही अच्छा बाज़ार मिल जायगा।

इन सब बातों के साथ विदेशी दस्तकारियों की अनुचित स्पर्धा से हमें उनकी रक्षा भी करनी होगी! जिसके लिये कुछ व्यापारी समझौते करते होंगे और कुछ करों (Taxes) को भी विदेशी माल पर लगाना अनिवार्य होगा।

एक बात इन दस्तकारियों की उन्नति के लिये और भी आवश्यक है और वह है कच्चे माल का यथेष्ट प्रबन्ध। कोई भी दस्तकारी बिना कच्चे माल की पूर्ति (Supply) के चलाई नहीं जा सकती। उदाहरण के लिये आज रुई और जूट की हमारे देश में बहुत कमी हो गई है; इसके लिये इन वस्तुओं के उत्पादन को प्रोत्साहन देना होगा। यही कारण है कि श्री के० एम० मुन्शी हमारे नये भोजन मंत्री ने भोजन की सामग्री के साथ-साथ कपास और जूट के उत्पादन को भी देश के लिये अत्यन्तावश्यक बतलाया है और सरकार इसके लिये भी योजना रच रही है।

प्रश्न

(१) दस्तकारी की उन्नति के लिये सरकारी भोजन का सारांश क्या है ?

(२ घरेलू दस्तकारियों की उन्नति की दिशाएं निर्धारित कीजिये। किस प्रकार उनकी उन्नति हो सकती है।

(३) कच्चे माल का दस्तकारी की उन्नति में क्या स्थान है ? कपड़े की दस्तकारी में कच्चे माल की समस्या कैसे हल की जा सकती है ?

बीसवां अध्याय

पशुओं की समस्या

संसार के प्रायः सभी देशों में अभी तक खेती पशुओं की सहायता से की जाती रही है। यद्यपि चीन में अब भी हल चलाने या खेत जोतने का कार्य स्त्रियों से लिया जा रहा है।

आधुनिक सभ्य संसार अब पशुओं के स्थान में मशीनों का प्रयोग खेती के काम में कर रहा है। पर हमारे देश में अभी शताब्दियों तक खेती में पशुओं की आवश्यकता रहेगी। पशुओं का प्रयोग संसार में घी दूध मक्खन आदि के लिये तो शायद सदैव ही रहेगा। कदाचित इन्हीं दो मुख्य आर्थिक प्रयोगों के कारण भारतवासियों ने गाय की इतनी महत्ता बढ़ा दी है और उसको मनुष्य जाति की माता का उच्च स्थान प्रदान किया है।

गाय और बैल दोनों मिलकर हमारे भोजन की मुख्य सामग्री उत्पन्न करते हैं और बैल तो और भी बहुत कार्य करते हैं। अतः यह पशु हमारे आर्थिक जीवन में एक मुख्य स्थान रखते हैं।

अब इन पशुओं के संबन्ध में जो प्रश्न हमारे देश के सम्मुख हैं वे निम्नलिखित हैं :—

(१) पशुओं की संख्या और स्वास्थ्य।
(२) उनकी नसल या जाति की उन्नति।
(३) उनके चारे और चरागाहों का सवाल।
(४) उनका पालन पोषण और बीमारियों से रक्षा,

१—पशुओं की संख्या और स्वास्थ्य

खेती की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि हमारे बैल हृष्ट पुष्ट और मज़बूत हों पर यह देश का दुर्भाग्य है कि वे बहुत ही दुर्बल
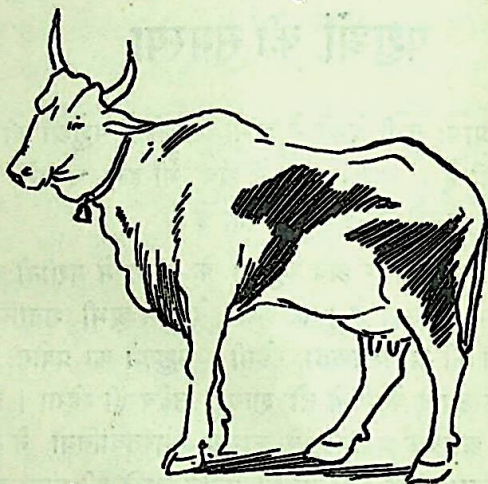
चित्र १६—गाय
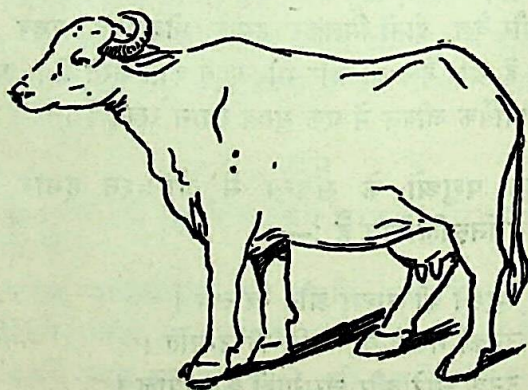
चित्र १७—भैंस

और कमज़ोर हैं। खेत जोतने, पानी खींचने, गाड़ी चलाने का काम वे बहुत धीरे धीरे करते हैं। यदि बैल अच्छी नसल का होता है और उसे पेट भर खाने को मिलता है तो वह बहुत तेजी से काम करता है। पर हमारे बैलों की हालत बहुत खराब है। वे साधारणतया नए अच्छे हलों से जोताई भी करने में असमर्थ है। जो खेत वे जोतते हैं उनमें ६ इञ्च से ज़्यादा गहरी खोदाई नहीं होती, परिणाम स्वरूप खेती में पैदावार बहुत कम होती है। ऐसी ही हीन दशा गायों की भी है इसलिये वे दूध कम देती हैं और उनके बच्चे भी कमज़ोर होते हैं।

पर यह बात याद रखना चाहिये कि यद्यपि हमारे पशु बहुत ही दुर्बल और कमज़ोर हैं फिर भी संख्या में बहुत हैं। और यह भी नहीं भूलना चाहिये कि अभी स्वराज्य के पूर्व तक उनका वध भी यवनों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये काफ़ी संख्या में होता रहा है। हालैंड में पशुओं की 'संख्या सभ्य देशों में सबसे अधिक है। प्रति १०० एकड़ भूमि में ३८ गाय बैल पाए जाते हैं पर भारत में प्रति १०० एकड़ भूमि में ६८ गाय बैल हैं। यह भी एक कारण है कि हमारे गाय बैल इतने कमज़ोर हैं। क्योंकि यदि थोड़े होते तो उतनी ज़मीन पर वे अच्छी तरह से भोजन पा सकते और अधिक स्वस्थ होते। और इसलिये अधिक संख्या पशुओं की होते हुये भी हमें उनकी एक प्रकार से कमी ही महसूस होती है।

इस समय खेती बढ़ाई जा रही है और बहुत से पशु पाकिस्तान में हैं अतएव पशुओं का बाज़ार बहुत महंगा हो गया है। साधारण बैलों की जोड़ी का दाम ५००) रु० से कम नहीं है और २ सेर दूध रोज़ देने वाली गाय का दाम १००) रु० से कम नहीं हैं। अतः अब भारत में पशुओं की वास्तव में कमी है और नसल बहुत खराब है।
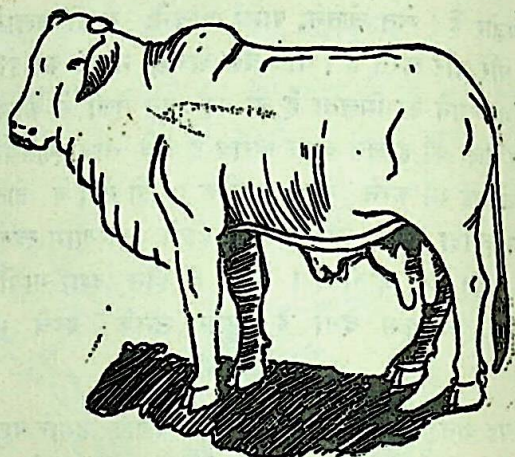
चित्र १८—विलायती गाय
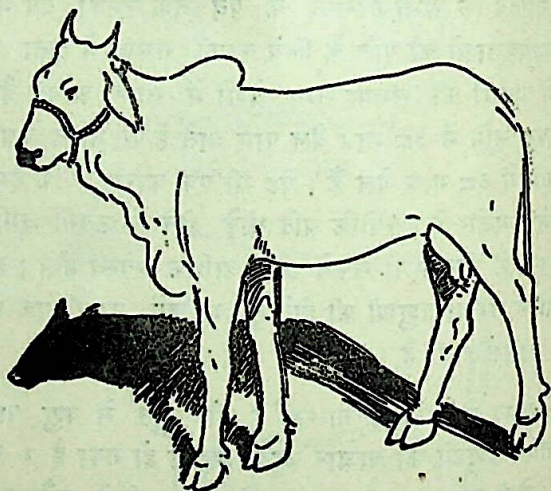
चित्र १९—गाय

अतएव मुख्य प्रश्न उनकी संख्या बढ़ाने और उन्हें हृष्ट पुष्ट रखने का है और नसल की उन्नति करना है।

२—पशुओं की नसल और जाति का प्रश्न

इस प्रकार सबसे पहला सवाल तो यह है कि हम उनकी नसल या जाति में उन्नति करें, क्योंकि उसकी शक्ति और स्फूर्ति बहुत कुछ उसकी नसल पर ही निर्भर होती है।

इसका अर्थ यह है कि अच्छी नसल के गाय बैल पैदा करने के लिये अच्छी नसल के सांड़ होना ज़रूरी है। अन्य देशों में इस बात पर काफ़ी ध्यान दिया गया हैं पर हमारे देश में इस ओर न तो जनता का ही ध्यान न गया है और न सरकार की ओर से ही कुछ विशेष कार्य हुआ है। नसल को अच्छी बनाने के लिये हमें दो काम करने होंगे। एक ओर तो जो बुड्ढे और कमज़ोर साड़ हमारे देश में हैं उन्हें गायों से दूर रखना होगा और दूसरी ओर नए क़िस्म के मज़बूत जवान सांड़ विदेशों से मंगाना होगा। कमज़ोर और बुड्ढे सांड़ों को हम मार तो नहीं सकते क्योंकि हिन्दू धर्म इसकी आज्ञा नहीं देता नपुसंक अवश्य बनाया जा सकता हैं।

केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारों ने इस दिशा में कुछ काम किया भी है। कृषि विभाग और सरकारी फार्मों पर एक मध्यवर्ती नसल विलायती और देशी सांड़ों के बीच की पैदा करने का प्रयत्न किया जा रहा है, जिसके लिये विलायत से अच्छी नसल जैसे शाई बल और एयर शायर नसल के साँड़ मंगाए गए हैं और उत्तम तैयार की जा रही है।

कहीं २ सहकारी कैटेल ब्रीडिंग सोसाइटीज (Co-operative Cattle Breeding Societies) भी खुली हैं जो इस नसल की उन्नति का कार्य कर रही हैं पर अभी बहुत कम काम हुआ है।

डिस्ट्रिक्ट बोर्ड इस दिशा में कुछ अच्छा कार्य कर रहें हैं, यह बोर्ड अच्छे सांड़ बाहर से मंगा कर गांवों की सेवा कर सकते हैं और

कुछ कर भी रहे हैं। गोशालाओं में भी अच्छे सांड रक्खे जा सकते हैं। हां उन्हें आर्थिक सहायता की आवश्यकता होगी। जनता को भी इसमें कुछ दिलचस्पी होनी चाहिये और गोशालाओं की सहायता
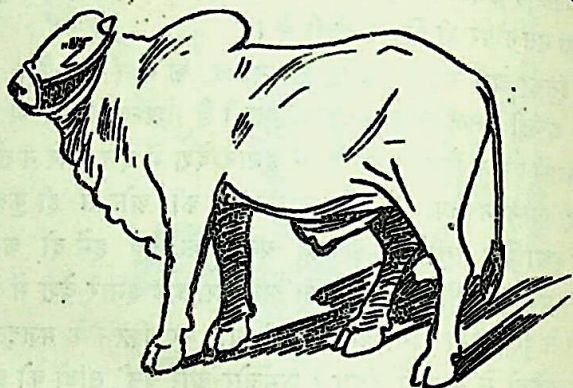
चित्र २०—साँड़
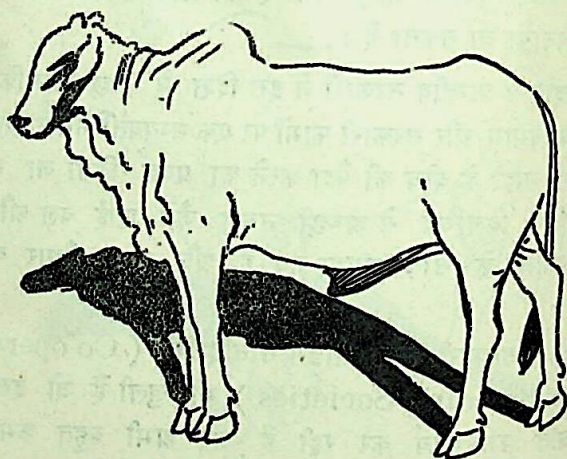
चित्र २१—तन्दुरुस्त बैल

करनी चाहिये। इस विषय की शिक्षा का प्रचार और नसल की उन्नति का महत्व भी लोगों को और कृषि कालिजों और स्कूलों के

विद्यार्थियों को समझाना चाहिये। अब प्रत्येक गांव पंचायत को एक अच्छा सांड अपने गांव के लिये रखना चाहिये।
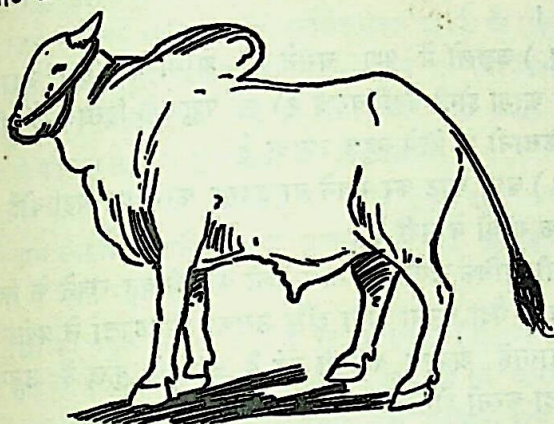
चित्र २२—बैल

३—पशुओं के लिये चारे का प्रश्न

नसल अच्छी होने पर भी पशुओं को यदि पौष्टिक भोजन न मिला तो कुछ दिनों में नसल फिर खराब हो जायगी।

हमारे देश में चारे की बहुत कमी है। जिसके मुख्य कारण यह हैं :—

(१) जनसंख्या बढ़जाने और खाद्य पदार्थ की माँग बढ़ जाने से किसान को वही फ़सलें पैदा करनी होती हैं जिनसे वह रुपिया कमा सके। चारे की फ़सलों को पैदा करने के लिये न उसके पास भूमि ही है और न समय।

(२) अब जंगलों की कमी हो गई है। उन्हें साफ करके खेती के लिये ज़मीन निकाली गई है। अतएव चरागाहें भी कम हो गई हैं, पशुओं को घास चरने को नहीं मिलती और न वे आज़ादी से घूम

फिर ही सकते हैं। ५, ६ महीने तो घास की बहुत कमी हो जाती है खास कर मार्च से जून के महीने तक जब घास गर्मी से सूख जाती हैं।

(३) जङ्गलों में पशु चराने की आज्ञा नहीं है। जहां फ़ार्मों में आज्ञा होगी वहाँ चराई १) फ़ी पशु के हिसाब से ली जाती है, जो किसानों के लिये बहुत ज्यादा है।

(४) घास काट कर रखने या इक्ट्ठा करने का यहां कोई प्रबन्ध अभी तक गाँवों में नहीं है।

इतनी अधिक संख्या में गाय बैलों को जीवित रखने के लिये हमें अधिक चारा पैदा करना होगा और उसका मितव्यता से प्रयोग करना होगा, चरागाहें अवश्य कम हो गई हैं पर जो कुछ हैं उनमें घास अधिक पैदा करनी होगी।

किसान लोग भी कुछ चारे की फ़सलें या घासें बिना खेती को हानि पहुँचाए हुए भी पैदा कर सकते हैं जैसे सनई कोवार आदि घासें जिनकी खाद से ज़मीन की शक्ति बढ़ाई जा सकती है और चारे के काम भी आ सकती हैं।

उत्पन्न किये हुये चारे का भी ठीक प्रबन्ध करना चाहिये। हाथ से करबी काटने के बजाय यदि मशीन से काटी जाय तो बहुत अच्छा हो। घास काट कर या भूसे को रखने के ढङ्ग में भी उन्नति हो सकती है। उसे गड्ढों में बन्द रक्खा जा सकता है। इन गढों को (Silos) कहते हैं और इनमें जो चारा तैयार होता है उसे साइलेंज़ (Silage) कहते हैं। इसे जानवर बड़ी रुचि से खाते हैं। बड़े २ फ़ार्मों पर ऐसे साइलोज़ बनाए गए और वहां चारा जमा करके 'साइलेज़' बनाया जाता है।

४—पशुओं के रोग, चिकित्सा और पालन पोषण

ऊपर कहा जा चुका है कि हमारे पशु चारे की कमी और खराब

रहन सहन के कारण बहुत कमज़ोर हैं, संख्या में बहुत होते हुए भी कम ही हैं। इसीलिये वे रोगों का शिकार भी जल्दी होते हैं। उन्हें हृष्ट पुष्ट रखने के लिये और उनकी कार्यक्षमता बढ़ाने के लिये उन्हें रोगों से मुक्त करना और समय पर उनको ठीक कर चिकित्सा करना आवश्यक है। किसान लोग मनुष्यों की बीमारी के समान पशुओं की बीमारी का कारण भी भूत प्रेतों को ही समझते हैं। अतएव ठीक चिकित्सा न करके उनकी ओझाई या झाड़ फूक ही करवाते रहते हैं। परिणाम स्वरूप बीमारियां उन्हें आसानी से नहीं छोड़ती और वे बहुसंख्या में मरते रहते हैं।

पशुओं को बहुत से रोग होते हैं पर गला घोंट (Rusderpest) उनका सब से भयंकर रोग है। यह बीमारी छूत की सी बीमारी है जो गांवों में बड़ी तेज़ी से फैलाती है। इसमें पशु खाना और जुगाली करना छोड़ देते हैं, बहुत सुस्त पड़ जाते हैं और तीन, चार दिन तक उन्हें तेज़ बुखार रहता है। सैकड़ों पशु इसके एक आक्रमण में मर जाते हैं। बीमार पशुओं को सबसे अलग कर देना लाभदायक होता है पर यह हमारे गांयों में सम्भव नहीं इसलिये बीमारी फैलने के समय सारे पशुओं के टीका लगवाना बहुत आवश्यक है। अन्य बीमारियां जैसे पेचिश, चेचक, दर्द का, मु ह पक जाना, पेट फूलना, भी पशुओं को पीड़ित करती रहती हैं, जिनकी समय पर उचित चिकित्सा होनी चाहिये।

हमारे गांवों में पशु रोगों की चिकित्सा का कोई प्रबन्ध नहीं है। इसलिये भी गांव वाले झाड़ फूँक की ही शरण लेते हैं। पशु-चिकित्सालय बड़े-बड़े शहरों में या कुछ छोटे-छोटे क़स्बों में हैं। अतः बीमारी की हालत में पशुओं को कोसों दूर ले जाना असम्भव ही सा है। वास्तव में आवश्यकता यह है कि १०, ५ मील के भीतर एक पशु चिकित्सालय अवश्य स्थापित किया जावे। इसके अतिरिक्त चल-

चिकित्सालय भी लाभदायक हो सकेंगे। जो गाँवों में किस नों
पशु रोगों के सम्बन्ध में उपदेश और परामर्श भी दे सकते हैं।

इस सम्बन्ध में कुछ ज़रूरी बातों का प्रचार भी गांवों में आव-
श्यक है जैसे।

(१) पशुओं को गन्दा पानी न पीने दिया जाय। उनके पानी
पीने के तालाब गांवों में विशेष रूप से स्वच्छ रक्खे जांय।

(२) जहां तक हो सके महामारी के समय रोगी पशुओं का औरों
से प्रथक ही रक्खा जाय।

(३) पशुओं को साफ़ भोजन सफ़ाई के साथ दिया जाय।

(४) उनके निवास स्थान भी खूब साफ रक्खे जांय।

(५) झाड़ फूँक के स्थान में रोगी पशु को औषधि देने का
शीघ्र प्रबन्ध किया जाय।

पशुओं के पालन-पोषण का भी एक गंभीर प्रश्न है पर यह भारत-
वर्ष के लिये कोई नई बात नहीं है, क्योंकि यहां गाय को माता के तुल्य
समझा जाता है और वैसे ही बैलों का भी आदर होता है। गोशाला
की संस्था यहां एक बहुत पुरानी संस्था है, पर उनका प्रबन्ध बहुत
खराब है। जो धन चन्दे से इकट्ठा किया जाता है वह अधिकतर प्रब-
न्धकों के ही खर्च में आता है। गाय बैलों को भोजन वहां बहुत कम
मिलता है। दुख की बात है कि गोशालाओं से भी चोरी से बहुत नां
गायें और बैल कसाइयों के हाथ बेच दिये जाते हैं, जिसका पैसा
प्रबन्धकों की जेब में जाता है, और साल भर के बाद रजिस्टरों में उनको
मृत संख्या में दिखा दिया जाता है।

अब प्रान्तीय सरकार ने इस ओर ध्यान दिया है और इन गोशा-
लाओं की गणना और अध्ययन किया जा रहा है और उनके प्रबन्ध
को ठीक करने के लिये सरकार की ओर से एक कमेटी भी बनाई गई

है। आशा है शीघ्र ही कुछ गोशाले सरकार स्वयम अपने हाथ में ले लेगी। और अन्य के प्रबन्ध पर कड़ी दृष्टि रक्खेगी तथा उन्हें आर्थिक सहायता भी देगी। प्रत्येक गोशाले को रजिस्टर्ड करवाना कानून ज़रूरी होना चाहिये। उनका निरीक्षण भी साल में कई बार होना चाहिये। और उनकी रिपोर्ट भी प्रकाशित होती रहनी चाहिये।

गो सेवा संघ

सन् १९४१ में वर्धा में पूज्य गाँधी जी की अध्यक्षता में एक 'भारतीय गो सेवा संघ' की स्थापना हुई थी, जिसका मुख्य उद्देश्य गोवंश की सब प्रकार से सेवा करना है। इस संघ के सदस्यों के लिये यह प्रतिज्ञा अनिवार्य है कि वे जीवन पर्यन्त गाय का दूध, घी, मक्खन, मठा, दही इत्यादि ही सेवन करेंगे।

इस संघ के मुख्य कार्य निम्न प्रकार के हैं :—

(१) गोवंश की उन्नति के लिये प्रचार का काम करना।

(२) वैज्ञानिक ढङ्ग से गाय बैल की नस्ल की उन्नति करना।

(३) वैज्ञानिक ढङ्ग पर गोशालाओं का संगठन करना। और देश के भिन्न स्थानों पर उन्हें स्थापित करना।

(४) दुग्धशाला-प्रबन्ध तथा नस्ल सुधार की वैज्ञानिक शिक्षा का प्रसार करना।

(५) शुद्ध गो दुग्ध तथा उससे बने पदार्थों का उचित मूल्य पर बेचना और प्रचार करना।

(६) मृत पशुओं की खाल, हड्डी, सींग आदि का उचित उपयोग आर्थिक दृष्टि से करना।

(७) गो बध को रोकने के लिये प्रयत्न करना।

(

प्रान्तीय सरकार का पशु पालन विभाग

वैज्ञानिक ढङ्ग से पशुपालन कार्य करने के लिये हमारे प्रान्त की सरकार ने एक पशु पालन विभाग Animal Husbandry Depts.) की स्थापना की है। वह एक मंत्री के हाथ में है। जिसके नीचे कई संचालक व अफ़सर हैं।

इस कार्य के लिये सारे प्रान्त को छः मण्डलों (Circle) में बांट दिया गया है :—

(१) इलाहाबाद; (२) लखनऊ; (३) मेरठ; (४) बरेली; (५) आज़म गढ़; (६) फ़ैज़ाबाद ;

स्वराज्य प्राप्ति के बाद से इस विभाग ने निम्न दिशाओं में सराहनीय कार्य्य किया है :—

१—पशुओं की नस्ल में सुधार; २—दुग्ध शालाओं व गोशालाओं का सुधार; ३—पशुओं के रोगों का निवारण; ४—पशुओं के भोजन के विषय में खोज; ५—पशुओं की प्रदर्शिनियों और मेलों का सगठन; ६—पशु पालन-शिक्षा का प्रसार।

प्रश्न

(१) हमारी आर्थिक उन्नति मे पशुओं का क्या स्थान है?
(२) हमारे गाय बैलों की दशा क्यों शोचनीय है ?
(३) पशुओं के रोगों स किसान को क्या हानि होती है? उनसे रक्षा के उपाय बताइये।
(४) गाय बैल की नस्ल का सुधार कैसे हो सकता है ?

इक्कीसवाँ अध्याय

ग्रामों की ऋण-समस्या

इस अध्याय में हम एक और महत्वपूर्ण समस्या पर विचार करेंगे। वह है किसानों की ऋण समस्या हमारे किसान अत्यन्त ऋण-ग्रस्त हैं। ऋण का बोझ उनके ऊपर पीढ़ी दर पीढ़ी लदा चला आ रहा है। वे किसी प्रकार उससे मुक्त नहीं हो पाते। इसके कारण न तो वे अपनी खेती ही संभाल पाते हैं और न जीवन-स्तर को ही ऊँचा उठा सकते हैं। एक तो पुराना ऋण चला आ रहा है दूसरे ब्याज की दर बहुत ऊँची है। अतः किसानों का गला महाजनों के पञ्जों में बुरी तरह फँसा है जब तक हम उनसे किसानों का पीछा नहीं छुड़ाते किसी प्रकार की उन्नति की आशा बेकार है।

केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी के अनुमान के अनुसार सारे भारतवर्ष का ऋण लगभग १००० करोड़ रुपिया है। संयुक्त प्रान्तीय बैंकिंग कमेटी के हिसाब से उत्तर प्रदेश का कुल ऋण लगभग १२५ करोड़ रुपिये के है।

इतने ज्यादा ग्रामीण ऋण के मुख्य कारण यह है :—

(१) पैतृक ऋण

सबसे बड़ा कारण इस क़र्जे का बाप-दादों का लिया हुआ ऋण है। भारतीय किसान यह अपना नैतिक कर्त्तव्य समझता है कि उसे अपने पूर्वजों के ऋण को चुकाना चाहिये। वह क़ानून की बात नहीं जानता कि उसे उतना ऋण ही अदा करना चाहिये जितने की जायदाद उसे पूर्वजों से मिली है और अगर कोई जायदाद नहीं मिली है

तो उसे कोई कर्ज़ा बापदादों का अदा नहीं करना चाहिये। और इस बात को जानना भी है तो ऐसा करने के लिये उसकी आत्मा गवाही नहीं देती। पैतृक ऋण को अपना ऋण समझना यहां का प्राचीन रिवाज है जिसे वह आसानी से तोड़ नहीं सकता।

(२) भूमि पर बढ़ती जनसंख्या का भार

आबादी के बढ़ जाने से उतनी ही भूमि में उसे गुज़र बसर करना असम्भव सा हो गया है। फ़िर न तो कोई और व्यवसाय उनके लिये है और न वे घर से दूर ही जाना चाहते हैं ऐसी दशा में ग़रीबी बढ़ती जा रही है और कर्ज़ा लेना अनुत्पादक कार्य के लिये भी अनिवार्य हो गया है।

(३) अनार्थिक कृषि व्यवसाय

(Uneconomic agriculture)

यह बताया जा चुका है कि हमारी खेती लाभदायक नहीं है क्योंकि किसान के पास ज़मीन बहुत थोड़ी है और छोटे २ खेतों में बटी है और तरीके भी बहुत पुराने हैं। अतएव खेती से आय काफ़ी न होने के कारण उसे अपने भरण पोषण के लिये कर्ज़ा लेना पड़ता है।

(४) किसान की कमजोरी और अकुशलता

खेती से लाभ न होने के कारण और रहन सहन बुरा होने के कारण वह कमजोर अशक्त भी हो गया है। अतः वह बीमार भी प्रायः रहता है और खेती का काम भी ठीक २ नहीं कर पाता, अर्थात् उसकी कुशलता पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा है और उसकी आय कम हो गई है और वह कर्ज़ लेकर ही काम चलाता है।

(५) बाढ़, अकाल और बीमारियाँ

लगभग प्रत्येक वर्ष नदियों में विकराल बाढ़ आ जाती हैं जिससे खेती की हानि पहुँचती है। मकान व जानवर भी बह जाते है। कभी २ वर्षा न होने से या कम होने से अकाल पड़ जाता है। बीमारियाँ भी इन्हीं कारणों से तमाम फैलती हैं जैसे मलेरिया और हैजा इत्यादि।

ऐसी अवस्था में सिवा ऋण लेने के अपनी जान बचाने का और कोई उपाय उसके पास नहीं है।

(६) अपव्यय या फिजूल खर्ची

किसान चाहे जितना भी गरीब क्यों न हो पर विवाह मुंडन, जन्म मृत्यु आदि अवसरों पर उसे विरादरी और जाति तथा गाँव के रिवाज के अनुसार खर्च करना ही पड़ेगा। न करने से जाति अपमान होगा और पञ्चायत भी पड़ेगी। अतः क़र्ज़ा लेना आवश्यक है।

(७) मुक़दमे बाज़ी

गाँव के लोग मुक़दमें वाज़ी भी बहुत करते हैं। ज़रा २ सी बात में लड़ाई-झगड़ा मार पीट करने को तैयार हैं। मुकदमे चलते हैं और उनमें शहरों में जाकर कचहरियों में काफी रकम खर्च करना पड़ती है। इसके लिये भी कर्ज़े की ज़रूरत रहती है।

(८) लगान और मालगुजारी की रीति

कुछ विद्वानों का कहना है और ठीक भी है कि लगान और मालगुज़ारी इतनी सख्ती से वसूल किये जाते हैं और लगान इतना ज्यादा है कि किसान क़र्ज़ लेकर ही उन्हें चुका पाता है।

(९) ग्राम की ऋण व्यवस्था

गांवों में ऋण की दर तो बहुत ऊँची है ही साथ ही लेन-देन की व्यवस्था भी बहुत दोष पूर्ण है। महाजन किसान को धोखा भी खूब देता है और बेईमानी से अपने काग़ज़ात में जो चाहता है लिख देता है। कभी २ खाली प्रोनोट पर अंगूठा लगवा लेता है और उसमें ऋण का मूलधन और ब्याज की दर अपने आप भर लेता है ऋण लेने वाले को कुछ पता नहीं रहता। वसूल करने के समय जो कुछ महाजन चाहता है करता है और जो कुछ वह कहता है उसे बिचारा अनपढ़ और आफत का मारा किसान मजबूरन मान लेता है और अपने भाग्य को दोष देता हुआ चुप रहता है।

(१०) स्थिति परिवर्तन

वृटिश सामराज्य के स्थापित होने के बाद विदेशी व्यापार में वृद्धि हुई और खेती की उत्पत्ति का मूल्य बढ़ गया और उसके साथ २ भूमि का भूमि मूल्य बढ़ा। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् स्थिति में भी और घोर परिवर्तन हुआ। मूल्य लगान आदि सब बढ़ गये। दूसरे शब्दों में किसान की ऋण लेने की शक्ति भी बढ़ गई। अतः उसने खूब दिल खोल कर क़र्ज़ लेना आरम्भ किया और महाजन ने भूमि की जमानत पर कर्ज़ा देना भी स्वीकार किया। साथ ही अधिक व्यापारिक कृषि के संगठन के लिये उसे कर्ज़े की ज़्यादा ज़रूरत भी थी और उसने सब उत्पादक और अनुत्पादक कामों के लिये कर्ज़ा लिया, जो पीढ़ी दर पीढ़ी अभी तक चला आ रहा है।

ऋण समस्या का निवारण

ऊपर लिखे हुए कारणों से ही हमारे देश में ग्रामीण-ऋण इतना अधिक हो गया है। अब यह देखना है कि इस समस्या को कैसे सुलझाया जा सकता है।

इस समस्या को सुलझाने में निम्नलिखित बातों पर विचार करना है :—

(१) पैतृक ऋण को अदा करने का ढंग।
(२) नवीन ऋण की व्यवस्था।
(३) किसानों में मितव्ययिता का प्रचार।

तो प्रथम कार्य तो यह है कि किसानों को उनके पैतृक ऋण से मुक्त करने का प्रयत्न किया जाय। जब तक किसान का यह बोझ हलका न होगा तब तक उसकी दशा सुधर नहीं सकती और न वह अपनी खेती को सुधारने में ही कोई दिलचस्पी ले सकता है।

इसके पश्चात् नवीन ऋण की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भी ऐसी संस्थाओं की आवश्वकता होगी जो उसे नीची ब्याज की दर पर रुपिया उधार दें सकें और उसे फिर महाजन के पास क़र्ज़े के लिये न जाना पड़े।

साथ ही हमें किसान को यह भी सिखाना होगा कि वह ज़रा किफ़ायत करना सीखे विशेष कर विवाह मुँडन आदि संस्कारों के अवसर पर और ज़रा २ सी बातों में झगड़ा न करे और मुकदमा बाज़ी भी कम करे। साधारण और नैतिक शिक्षा के प्रचार से किसानों के क़र्ज़े में अवश्य कमी होगी और इस समय की फ़िज़ूल खर्ची या अपव्यय को वे वेवकूफी समझने लगेंगे और शान्ति पूर्वक रहना सीखेंगे तथा अपने काम की ओर अधिक ध्यान देंगे। वेकार समय को लाभ-दायक बनाएंगे और अपना रहन सहन भी अच्छा और ऊँचा कर सकेंगे।

ऋण-समस्या को सुलझाने के प्रश्न

इस ऋण समस्या को सुलझाने के बहुत से प्रयत्न समय-समय पर किये गए हैं जिनका विवरण नीचे दिया जाता है :—

गत शताब्दी के चौथे भाग में दक्षिण भारत के किसानों ने कई स्थानों पर बलवे किये। जिनकी जांच पड़ताल से यह पता चला कि इनका मुख्य कारण किसानों के क़र्ज़े पर सूद दर-सूद (ब्याज पर ब्याज) जो महाजन लोग ले रहे थे, था, इसका परिणाम यह हुआ कि एक ऐसा क़ानून पास किया गया जिसके अनुसार जज लोगों को यह अधिकार दिया गया कि क़र्ज़ों के मुक़द्दमों में वे अच्छी तरह से छान-बीन करें और ब्याज की दर को आवश्यकतानुसार घटा दें। और इसी प्रकार के कुछ और कानून भी क़र्ज़दारों की रक्षा के लिये पास हुए।

सरकार ने भी किसानों को खेती के काम के लिये क़र्ज़ा देना आरम्भ किया। भूमि-उन्नति-कानून (Land Improvement Act) के अनुसार किसान सरकार से उत्पादक कार्यों और खेतों पर स्थायी सुधारों के लिये रुपिया उधार ले सकता था।

यह कर्ज़ा लम्बे समय के लिये अर्थात् १०, १५ साल के लिए होता था और ब्याज की दर भी कम होती थी।

एक दूसरे कृषि-ऋण-कानून (Agricultural Loans Act) के अनुसार किसान सरकार से थोड़े समय के लिये, साधारण तया साल भर के लिये सस्ते ब्याज की दर पर कर्ज़ा ले सकता है।

इस ऋण को 'तकावी ऋण' कहा जाता है :—

इस प्रकार के तकावी ऋण कुछ बहुत सफल नहीं हुए, क्योंकि उनका बहुत सा हिस्सा कचहरियों में रिश्वत देने में ही निकल जाता है और उनकी वसूल यावी भी कड़ाई से होती है।

ऋण समस्या के साथ-साथ एक समस्या जो और भी भयंकर थी उत्पन्न हो गई वह थी ज़मीन गिरवीं रखकर अधिक कर्ज़ा लेने की। जब कर्ज़ा अदा नहीं होता था तो महाजन जमीन को स्वयम ले लेता था या उसे और लोगों के हाथ बेच देता था। इस प्रकार बहुत सी

जमीन किसानों के हाथों से निकल कर दूसरों के हाथों में पहुँच गई।

इस समस्या को सुलझाने के लिये भी कुछ कानून बनाए गए जिसमें किसान जमीन से वंचित न होने पाए। पंजाब में एक नया कानून (Punjab Land Alienation Act) पंजाब लैंड अलाइनेशन कानून बनाया गया, जिसके द्वारा भूमि का किसानों से गैर किसानों के पास जाना बन्द किया गया।

इसके पश्चात् पाश्चात्य देशों में विशेष कर जर्मनी इटली आदि देशों में सहकारी आन्दोलन का सरकार ने अध्ययन करवाया और एक नया कानून १६०४ में पास किया गया, जिसके द्वारा सहकारी आन्दोलन पहले-पहले भारत में चलाया गया और सहकारी समितियां (Co-oprative Societies) भारत में खोली गई।

इस देश में प्रथम सहकारी ऋण आन्दोलन ही गांवों में चलाया गया। जिसके अनुसार सहकारी ऋण समीतियां से (Co-oprative Credit Societies) किसानों को नीची ब्याज की दर पर रुपिया उधार दिया जाने लगा। किन्तु यह आन्दोलन भी ऋण समस्या को अभी तक ठीक-ठीक हल नहीं कर पायी है। यद्यपि उससे कुछ न कुछ लाभ गांव वालों को अवश्य हुआ है।

इस आन्दोलन के विषय में हम आगे चलकर पूर्णतया विचार करेंगे।

पुराने ऋणों को अदा करने के सम्बन्ध में अभी एक प्रकार से कुछ नहीं किया गया है। इस काम के लिये दो मुख्य काम सरकार ने किये। एक तो ऋण-समझौता-बोर्ड (Debt Conciliation Board) बनाए गये और दूसरे भूमि-बंधक-बैंक (Land Mortgage Banks) खोले गये।

ऋण-समझौता-बोर्ड किसान और महाजन दोनों से मिलकर ऋण और ब्याज कम कराने का प्रयत्न करता है और 'भूमि बंधक बैंक' किसान या जमींदार को जमीन गिरवीं रखकर रुपिया उधार देता है। जिससे वह अपना पुराना ऋण चुका देता है या अपनी गिरवीं रक्खी हुई भूमि को महाजन से छुड़ा लेता है और फिर धीरे-धीरे रुपिया अदा करता रहता है। इससे ब्याज की दर कम होती है। यह प्रणाली अच्छी है पर हमारे देश में ऐसे बैंक अभी तक बहुत ही कम हैं। केन्द्रीय बैंक कमेटी ने भी एक ऐसी ही योजना बनाई थी और इसके द्वारा इस पैतृक ऋण-परिशोध की सिफारिश की थी। पर खेद है कि सरकार ने इस पर ध्यान न दिया।

प्रश्न

(१) ग्रामीण ऋण किस प्रकार ग्रामीण उन्नति में बाधक है? समझाइये।

(२) ग्रामीण ऋण के विस्तार का भारत में और हमारे प्रान्त में क्या अनुमान किया गया है? इतने अधिक ऋण के क्या कारण हैं?

(३) ग्रामीण ऋण समस्या के मुख्य प्रश्न क्या हैं? उसके सुलझाने के मार्गों और दिशाओं का दिग्दर्शन कीजिये।

(४) ग्रामीण ऋण समस्या को हल करने के लिये क्या क्या प्रयत्न अभी तक किये गए और उनमें क्या सफलता हुई?

(५) पुराने स्थायी ग्रामीण ऋण की समस्या को ठीक ठीक समझाइये। इसे कैसे सुलझाया जा सकता है?

———

बाइसवाँ अध्याय

मुक़दमे बाज़ी

हमारे देश में खासकर देहातों में मुकदमेबाजी की समस्या भी एक बड़ी सामाजिक और आर्थिक समस्या है। गाँव वालों को मुकदमेबाजी का खास शौक है। ज़रा-ज़रा सी बातों पर झगड़ा हो जाता है। मारपीट की नौबत आ जाती है और फिर मुकदमे उठ खड़े होते हैं। किसी ने किसी के खेत से नाली निकाल ली, या किसी में किसी के पेड़ से लकड़ी काटली बस आपस में तनातनी हो गई लाठियां चल गईं और फिर मुकदमे बाज़ी शुरू हो गई।

वकीलों, मुहर्रिरों, क्लर्कों, चपरासियों की चांदी हो गई। वे सब मिलकर विचारे ग़रीब किसान को चारों तरफ़ से लूटने लगते हैं और मुकदमेबाज़ी जारी रखने के लिये प्रोत्साहित करते रहते हैं क्योंकि उनका इसी में लाभ है। किसान अपनी गाढ़े की कमाई इसी में खर्च कर देता हैं और ऊपर से कर्ज़दार भी हो जाता है।

हमारे ग्रामीण जीवन की यह मुकदमें बाजी एक भयंकर रोग है जो इसे नीरस और दुखी बना रही है।

किसान एक तो यों ही ग़रीब है ऊपर से यह मुकदमेबाजी उसका और भी सर्वनाश किये दे रही है।

मुकदमे बाजी के मुख्य दोष और कुपरिणाम :—

(१) यह किसान की थोड़ी आय को स्वाहा कर देती है और उसका जीवन निर्वाह और भी कठिन हो जाता है।

(२) इसमें रुपिये की बराबर आवश्यकता रहती है। क्योंकि वकील से लेकर चपरासी तक सभी उसे लूटने की फ़िकर में रहते हैं। अतः वह दिन पर दिन ऋणी होता जाता है और उसका भार बढ़ता जाता है।

(३) गांव में पारस्परिक द्वेष और वैमनस्य बढ़ जाता है और स्थायी रूप से पार्टी बन्दी हो जाती है और विरोधी दल बन जाते हैं जो गांव के जीवन को और भी ख़राब कर देते हैं। शान्ति और सुख नष्ट हो जाते हैं और सब प्रकार से पतन होने लगता है।

(४) किसानों का बहुत सा मूल्यवान समय इसमें नष्ट हो जाता हैं। जब उन्हें गांव में रह कर अपने खेत में जोताई और बोआई या सिंचाई करना चाहिये उस समय मुक़द्दमे बाज़ी के लिये उन्हें शहरों और कचहरियों की खाक छाननी पड़ती है। इसका खेतों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है और बहुत हानि होती है।

(५) नई पीढ़ी के नवयुवकों और बालक बालिकाओं पर भी इस विषयी वातावरण का बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता है। परिणाम स्वरूप भावी ग्रामीण उन्नति और प्रगति तथा पुनर्निमाण कार्य में भी बहुत बाधा पड़ जायगी।

मुकदमें बाज़ी के मुख्य कारण :—

(१) इस समय गांवों में ही क्या सारे देश में स्वार्थपरायणता और व्यक्तिवाद की एक लहर सी फैली हुई है। गांव भर की तो बात ही दूसरी है अब संयुक्त परिवारों (Joint families) का चलना कठिन हो गया है। भाई २ का ही बैरी हो रहा है। सामूहिक जीवन सहयोग और एकता के विचार व्यक्तिगत स्वार्थ की वृद्धि के कारण शनैः २ नष्ट होते जा रहे हैं। इसीलिये ज़रा २ से स्वार्थ के कारण इतनी मुकदमे बाज़ी बढ़ रही है।

(२) हीन आर्थिक अवस्था और ग़रीबी भी मुक़दमेबाजी का मुख्य कारण है और उसके कारण ही अपनी ज़रा सी हानि भी सहन नहीं कर सकता। दूसरे रोगी की चिन्ता और उसके कारण उत्पन्न हुई पारिवारिक अशान्ति उसके स्वभाव को और भी चिड़ चिड़ा झगड़ालू बनाए दे रहे हैं।

(३) मुक़दमेबाजी का एक और कारण है और वह है शिक्षा और विद्या का प्रभाव है। पढ़ा लिखा और शिक्षित पुरुष साधारण-तया सहनशील होता है और दूसरे के दृष्टि कोण और बात को समझने की उसमें क्षमता भी होती है। बदला लेने का भाव और प्रतिहिंसा का भाव भी शिक्षा न होने के कारण जल्दी जाग्रत हो जाता है और स्थायी हो जाता है।

(४) पहले गांवों में पञ्चायते थीं और गांवों के बहुत से झगड़े वहीं ग्राम पञ्चायत के सामने में हो जाते थे। अब वे ग्राम पञ्चायतें नहीं रहीं। अतः हर एक झगड़े के फ़ैसले के लिये गांव वालों को शहर जाना पड़ता है और कचहरियों की शरण लेनी पड़ती है।

(५) किसानों का घरेलू वातावरण भी बहुत खराब है, जहां स्त्रियों में नित्यप्रति झगड़े होते रहते हैं पिता पुत्र और भाई २ में भी कहा सुनी और मारपीट तथा गाली गलौज होता रहता है। इसलिये घर के बाहर का भी वातावरण दूषित रहता है और दूसरों से झगड़े और भी जल्दी होते हैं।

(६) आजकल राजनैतिक दलबन्दियों और भिन्न विरोधी वादों के कारण भी वैमनस्य जल्दी पैदा हो जाता है और झगड़े उपस्थित हो जाते हैं।

(७) जमींदारी उन्मूलन के विचार ने भी ज़मींदारों और किसान में काफ़ी वैमनस्य और द्वेष तथा खुल्लम खुल्ला विरोध उत्पन्न कर दिया है जिसके कारण भी मुक़दमेबाज़ी देहातों में बढ़ गई है।

मुक़द्मे बाजी को रोकने के उपाय :—

(१) शिक्षा प्रचार सबसे पहला उपाय है। प्रौढ़ शिक्षा या सामाजिक शिक्षा तथा स्त्री शिक्षा और बाल शिक्षा ग्रामीणों को समझदार और शीलवान् बना सकती है और झगड़ा होने पर भी शीघ्र ही उसे आपस में तै कर लेनी की शक्ति उन्हें प्रदान कर सकती है। अतएव शिक्षा का प्रचार अच्छी तरह से और जल्दी होना चाहिये।

(२) ग्रामवासियों की माली हालत (आर्थिक दशा) का सुधार भी बहुत कुछ मुक़द्मेबाज़ी को कम कर देगा। वे ज़रा २ सी चीज के लिये जान न देंगे और न दूसरे के अधिकारों को अन्याय से लेने का प्रयत्न करेंगे।

(३) ग्राम पंचायतों को फिर से गांवों में जीवित करना जरूरी है। छोटे मोटे झगड़े वहीं तै हो जावेंगे। सरकार ने 'गांव हुकूमत' क़ानून द्वारा गाँवों में फिर से पञ्चायतों के पुनरुद्धार का विचार किया है और नई पञ्चायते बन भी गई हैं, पर उनके सफलतापूर्वक कार्य करने में अभी समय लगेगा।

(४) घरेलू वातावरण को भी ठीक करने की जरूरत है। शिक्षा के प्रचार और सभ्यता तथा संस्कृति के विकास के साथ यह दूषित वातावरण भी बदल जायगा।

(५) न्याय करने के ढङ्गो में परिवर्तन होने से भी और न्यायालयों में सुधार होने से इस सामाजिक रोग की भीषणता कुछ कम हो जायगी। मुकदमेबाजी ज़्यादा करने की आवश्यकता लोगों को न रहेगी।

प्रश्न

(१) मुक़द्मेबाज़ी गांवों में इतनी ज्यादा क्यों होती है? इसके कारण सविस्तार लिखिये।

(२) मुक़द्दमेबाज़ी से गांवों की उन्नति में क्या बाधा पड़ रही है ? इसके दोषों का वर्णन कीजिये।

(३) मुक़द्दमेबाज़ी को किन उपायों से कम किया जा सकता है ? लिखिये।

तेइसवां अध्याय

ग्रामीण शिक्षा

शिक्षा का महत्व —

हमारे देश में शिक्षा की बहुत कमी है। कुल देश में १२ प्रति सैकड़ा से अधिक लोग पढ़े लिखे नहीं हैं। उनमें से गांवों में तो ६, ७ प्रतिशत् से अधिक साक्षर नहीं कहे जा सकते। फिर वास्तव में शिक्षित समस्त देश में ३ प्रतिशत् ज़्यादा से ज़्यादा होंगे जबकि योरप के देशों में, रूस, जापान और अमरीका में लगभग ६० प्रतिशत् शिक्षित हैं और कहीं २ तो ६० प्रतिशत् तक पढ़े लिखे लोग हैं। सच बात तो यह है कि सारी उन्नति का कारण सभ्य संसार में शिक्षा ही है। इसीलिये हमारा देश सबसे पिछड़ा हुआ है।

हमारे गांवों में तो अविद्या, अशिक्षा और अज्ञान का साम्राज्य ही जैसे हो गया है। हमारी ग्रामीण अवनति का यही मुख्य कारण है। हमारे भोले भाले अपढ़ किसान इसी कारण जमींदार, महाजन और व्यापारियों द्वारा सदियों से सताए और चूसे ज़ा रहे हैं और वे ईश्वरीय विधान और भाग्य का खेल समझे हुए चुपचाप इस घोर अन्याय और शोषण को सहन करते रहे हैं। यह घोर मूर्खता और अज्ञानता हमारी सामाजिक आर्थिक, धार्मिक तथा राजनैतिक उन्नति में घोर

बाधाएँ उपस्थित कर रही है। हमारे किसानों और मजदूरों में इतनी शक्ति ही नहीं है कि वे सत् असत् को समझ सकें या अपनी अवस्था को ठीक २ समझ कर उसे सुधारने की बात सोच सकें।

कोई भी नई बात चाहें वह उनकी कितनी ही भलाई की हो उनको रुचिकर नहीं होती, वह उसे हमेशा शङ्का और अविश्वास की ही दृष्टि से देखेंगे।

अविद्या और अशिक्षा के ही कारण उनकी खेती नहीं बढ़ती ऋण बढ़ता चला जा रहा है, फ़िज़ूल खर्ची भी बहुत होती है, बीमारियाँ भी बढ़ती जा रही हैं और भी नाना प्रकार के कष्ट और दुःख व्यक्तिगत् तथा सामूहिक रूप से इसी कारण बढ़ रहें हैं। फिर भी उनकी इच्छा शिक्षा या विद्या प्राप्त करने की नहीं होती। सुविधाएं होने पर भी न वे स्वयम् उनसे लाभ उठाने की चेष्टा करते हैं और न अपने बच्चों को ही लाभ उठाने देते हैं। अतः जब तक शिक्षा का प्रचार गांवों में नहीं होता और किसानों में इसके लिये रुचि नहीं पैदा होती तब तक इस देश का किसी प्रकार का सुधार नहीं हो सकता, वास्तव में स्थायी रूप से शिक्षा की समस्या ही हमारी प्रथम राष्ट्रीय समस्या है। भोजन की समस्या तो इस समय प्रथम हो गई।

शिक्षा का अभाव या कमी

जनसंख्या और गांवों की संख्या देखते हुए शिक्षा तो हमारे यहां कुछ भी नहीं है। कम से कम दो तिहाई गांव हमारे देश में ऐसे हैं जहां कोई प्रारम्भिक पाठशाला भी नहीं है।

हमारे प्रान्त में अभी कम से कम २० हजार गांवों में कोई पाठशाला किसी प्रकार की नहींहै। १०० वर्ग मील पीछे एक मिडिल स्कूल पड़ता है। सारे देश में केवल १०० ऐसी म्युनीसिपैलीटी शहरों में हैं जहां शिक्षा अनिवार्य या लाजमी है। बालिकाओं के लिये गांवों

में तो शिक्षा का एक प्रकार से कोई प्रबन्ध ही नहीं है। प्रौढ़ शिक्षा भी नाम मात्र ही है। हाई स्कूल भी सब क़सबों में नहीं हैं। बड़े २ कुछ शहरों में ही कालिज और विश्वविद्यालय हैं। बाज़ २ प्रान्तों और रियासतों में वह भी बहुत ही कम हैं। इस सब का अर्थ यह है कि शिक्षा के साधनों की हमारे देश में बहुत ही कमी है और इसलिये बड़ी दयनीय और शोचनीय अवस्था है। देश की उन्नति के लिये गांवों में तुरन्त शिक्षा का प्रचार ख़ूब जोरों से होना चाहिये।

ग्रामीण-शिक्षा का पाठ्य-क्रम

जो पाठ्य-क्रम शहरों के स्कूलों में है वही हमारे गांव के स्कूलों में भी जारी कर दिया गया है। यह सर्वथा अनुचित है। ग्राम्य पाठ्य-

चित्र २३
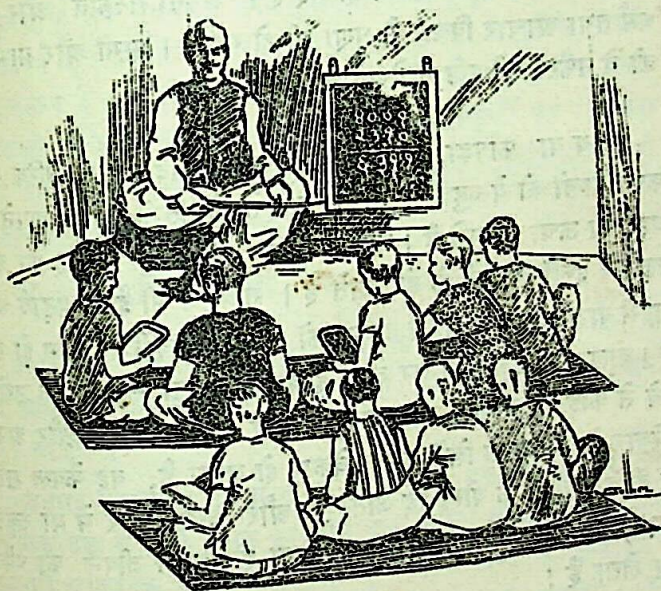
क्रम नगरों के पाठ्यक्रम से बहुत ही भिन्न होना चाहिये। अभी तक

इस विषय पर हमारे देश में विशेष ध्यान नहीं दिया गया, और बहुत लापरवाही की गई है।

शहर के स्कूलों की पढ़ाई का उद्देश्य ही कुछ और था हमारे बृटिश शासकों ने पढ़ाई का उद्देश्य यह रक्खा था कि उनको शासन कार्य में सहायता देने वाले नवीन आचार विचार वाले बाबू लोग मिल जाँय और कुछ पाश्चात्य रङ्ग में रङ्गे हुये अफ़सर लोग मिल जायँ। और इस उद्देश्य में वे भली भांति सफल हुए। इस पढ़ाई का परिणाम आज हम प्रत्यक्ष रूप से देख रहे हैं। हमारे नवयुवक पाश्चात्य सभ्यता को अपना आदर्श बनाकर उसी ढङ्ग पर चल रहे हैं। उन्हें फ़ैशन का भूत सवार हो गया है। विलासिता से प्रेम हो गया है, शारीरिक परिश्रम से अरुचि हो गई है। अपनी संस्कृति और अपने धर्म तथा आचार विचार से घृणा सी हो गई है। ग्रामों और ग्रामीणों को वे नफरत की दृष्टि से देखने लगे हैं।

हाथ या फावड़ा, हल, खुरपी, बसूला आदि से शारीरिक कार्य करने वालों को वे बहुत ही नीची दृष्टि से देखते हैं और अपने को बहुत ही ऊचा समझते हैं। गांव के बालक भी शहर में रह कर और पढ़ कर इन्हीं विचारों के हो जाते हैं। गांवों में भी इसी पढ़ाई और शहरी पाठ्यक्रम तथा शहरी अध्यापकों के कारण वही परिणाम हो रहा है। बालक मिडिल पास कर लेता है वह फिर खेती से, घर के उद्योग धंधे से कोई भी सम्बन्ध नहीं रखना चाहता। वह गांव के और अपने परिवार के जीवन के लिये सर्वथा बेकार हो जाता है, वह केवल शहर की ही बाबू गिरी के योग्य रह जाता है, और किसी दफ्तर में या स्कूल में २०) रु० २५) रु० की नौकरी कर लेना ही अपने जीवन का ध्येय बना लेता है।

यह नवयुवक गांव के जीवन या उसकी उन्नति में कोई भाग न

लेकर उसे छोड़ कर शहरों में दुखी और नारकीय जीवन व्यतीत कर एक बहुत बुरा नमूना गांव वालों के सामने रखते हैं।

अब स्वराज्य प्राप्ति के बाद हमारा दृष्टि कोण बदलना चाहिये। वास्तव में गांवों को अब ऐसे पढ़े लिखे सुशिक्षित और सभ्य तथा सदाचारी लोगों की आवश्यकता है जो ग्रामीण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एक क्रान्ति मचा दें और उसकी सब प्रकार की उन्नति में सहायक हों। जिनके अन्दर गांवों से उनकी सभ्यता से उनकी कृषि और दस्तकारी से प्रेम हो और जो उन्हें शीघ्रातिशीघ्र उन्नत करके आदर्श ग्राम बना सकें। पाश्चात्य देशों में भी 'ग्रामों और भूमि की ओर वापस जाओ (Go Back to Land) वाला आन्दोलन बड़े जोरों से चल रहा है। और विश्वविद्यालयों और कालिजों में शिक्षा प्राप्त करने के बाद नवयुवक और युवतियां गांवों में ही अपना निवास और कार्य्य क्षेत्र निर्धारित कर रहे हैं। यही उनकी आधुनिक उन्नति का मूलमन्त्र है। हमारे देश में भी अब यही होना चाहिये, और उसके लिये सबसे पहले यह आवश्यक है कि हमारे ग्राम स्कूलों का पाठ्यक्रम बदला जाय, जिससे निम्न दिशाओं में परिवर्तन किया जाय और वहीं इन स्कूलों में पढ़ाया जाय :—

(१) कृषि-सम्बन्धी विषय—

हमारे गांव के रहने वालों का मुख्य और पैतृक पेशा खेती है और अधिकतर लड़के बड़े होकर इसी पेशे को अपनाएँगे या अपनाना चाहिये।

अतएव पाठ्यक्रम इन ग्रामीण स्कूलों का एसा हो कि जो उन्हें वैज्ञानिक ढङ्ग से कृषि विषय का ज्ञान करा सके। साथ ही व्यवहारिक ज्ञान भी आवश्यक है। अतः स्कूलों में खेती के कामों को पूर्ण रूप से करने की सुविधा प्रत्येक गांव के स्कूल में दी जानी चाहिये। और

प्रत्येक विद्यार्थी को अनिवार्य रूप से इस विषय की वैज्ञानिक तथा कला सम्बन्धी अर्थात् व्यवहारिक शिक्षा दी जानी चाहिये, जिससे शिक्षा के पश्चात् वह गांव के जीवन में और कृषि की उन्नति में समुचित रूप से भाग ले सके और ग्रामीण संस्थाओं और संस्कृति से उसे प्रेम हो। कृषि विज्ञान और कला पर छोटी २ उपयोगी पुस्तकें जानी चाहिये और वह स्कूलों में पढ़ाई जानी चाहिये।

(२) ग्राम उद्योग धंधे सम्बन्धी शिक्षा

यह कहा जा चुका है कि कृषि की दशा बहुत खराब है और जन संख्या का दबाव ज़मीन पर बढ़ता ही जा रहा है तथा खेती के काम में अवकाश भी किसानों को काफी है। अतएव ग्रामोन्नति के लिये तथा देश की आर्थिक उन्नति के लिये उद्योग धंधों की उन्नति परमावश्यक है और यह जभी सम्भव है जब गाँव के नवयुवक उन धंधों में दिलचस्पी लें और यह तब सम्भव होगा जब प्रत्येक विद्यार्थी किसी उद्योग धंधे की शिक्षा प्राप्त करेगा। अतः स्कूलों के पाठ्यक्रम में इन विषयों का भी विशेष स्थान होना चाहिये। अन्यथा हमारी औद्योगिक उन्नति न हो सकेगी। जिन विद्यार्थियों को उनमें विशेष रुचि होगी या वे उन में विशेष योग्यता प्राप्त करेंगे वे आगे बढ़कर उन विषयों की उच्च शिक्षा प्राप्त कर उन्हें और भी उन्नत करने में सहायक होंगे। बहुत से विद्यार्थी गाँवों में रह कर ही इन धंधों से अपनी रोज़ी अच्छी तरह कमा सकेंगे और स्वाभाविक और सम्मानित जीवन भी व्यतीत कर सकेंगे। गांवों में विद्युति शक्ति आ जाने के पश्चात् शारीरिक परिश्रम भी कम हो जावेगा और उत्पत्ति और आय भी बढ़ सकेंगी।

पूज्य गाँधी जी ने वार्धा-शिक्षा प्रणाली में इस विषय पर बहुत ही जोर दिया है और इसके अनुकूल चलाए जाने वाले बेसिक स्कूलों (Basic Schools) में इस सिद्धान्त पर काम भी किया जा रहा

है और जहां-जहां सामग्री मिल गई है और प्रबन्ध ठीक है, वहां-वहां सफलता भी हो रही है। इस प्रणाली की शिक्षा में किसी उद्योग धंधे को ही शिक्षा का केन्द्र या आधार माना जाता है।

विद्यार्थियों को किसी बेसिक स्कूल में जाकर इस नवीन-शिक्षा के कार्य-क्रम को देखना चाहिये।

(३) सुधार सम्बन्धी विषय

पिछले अध्यायों में बताया जा चुका है कि हमारे ग्रामीण जीवन में बहुत से दोष आ गए हैं और बहुत सी सामाजिक तथा आर्थिक कुरीतियां फैली हुई हैं। अतः गांवों की सर्वाङ्ग उन्नति के लिये उन्हें दूर करना आवश्यक है। उसके लिये दृष्टिकोण को विकसित करना आवश्यक है तथा उन समस्याओं को समझना भी विद्यार्थियों के लिये आवश्यक है। उदाहरण के लिये गांव की गन्दगी की समस्या या विवाह शादी में फ़िजूल खर्ची की समस्या, या बाल-विवाह, विधवा विवाह और दहेज आदि की समस्यायें। इस प्रकार के विषयों या समस्याओं की जानकारी के लिये पाठ्य-क्रम में उन्हें सम्मिलित करना आवश्यक है जिसमें यह विद्यार्थी आगे चलकर ग्रामीण समाज की कुरीतियों को सुधार सकें और ग्रामीण जीवन को सुखी और सम्पन्न बना सकें।

(४) अन्य साधारण विषय

इनमें साहित्य, सामाजिक ज्ञान, विज्ञान, गणित आदि विषय होंगे। इनमें भी पाठ ऐसे हों जो ग्रामीण जीवन से विशेष सम्बन्ध रखते हों। उदाहरण भी इनमें मुख्यतः भारतीय ग्रामीण जीवन से दिये जांय।

(५) किसी न किसी प्रकार की धार्मिक और नैतिक शिक्षा की भी परमावश्यकता है। इस विषय का समावेश अब पूर्ण शिक्षा

के लिये नितान्त आवश्यक है। भारतीय जीवन का आधार है धर्म है।

शिक्षा-संस्थाएँ

हमारे देश की शिक्षा संस्थाएं निम्न प्रकार की हैं :—

१—प्राइमरी स्कूल, २—मिडिल स्कूल, ३—हाई-स्कूल, ४—कालिज, ५—विश्वविद्यालय।

इनमें से पहली दो प्रकार की संस्थायें ही गांवों में हैं। शेष शहरों में हैं। हमने अभी ग्रामीण स्कूलों के पाठ्य-क्रम के विषय में कुछ विषय निर्धारित किये हैं पर इसका यह अर्थ नहीं है कि शहरी स्कूलों में कृषि और उद्योग धंधों की शिक्षा न दी जाय। उनके पाठ्य-क्रम में भी गांव और ग्रामीण जीवन सम्बन्धी आवश्यक विषय अवश्य रहना चाहिये।

यह हर्ष की बात है कि हाई स्कूल में कृषि भी एक वैकल्पिक विषय (Optional subject) बना दिया गया है। जिससे जो विद्यार्थी गांव के स्कूलों से पास करके हाई स्कूलों में आयँगे वे कृषि का विशेष अध्ययन कर सकते हैं और फिर आगे चलकर एफ० ए० और बी० ए० में भी इस विषय का उच्च अध्ययन कर सकते हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ स्कूल कला कौशल सम्बन्धी भी शिक्षा देते हैं और कुछ में मिकैनिकल और इञ्जीनियरिंग शिक्षा भी दी जाती है। इनके अतिरिक्त अध्यापकीय शिक्षा के लिये भी बहुत से नारमल स्कूल और ट्रेनिंग कालिज है।

स्त्री शिक्षा

लड़कों की पढ़ाई के साथ-साथ लड़कियों की शिक्षा का भी प्रबन्ध उचित रूप से होना चाहिये। गांवों में इसका एक प्रकार से कुछ भी प्रबन्ध अभी तक नहीं है।

साथ ही पाठ्य-क्रम भी लड़कियों का लड़कों से भिन्न होना आवश्यक है, क्योंकि स्त्री का कार्य्य क्षेत्र पुरुष के कार्य्य क्षेत्र से तो कुछ भिन्न अवश्य ही है। गार्हस्थ्य शास्त्र, शिशुपालन, सफ़ाई पाकशास्त्र, सिलाई, पारिवारिक अर्थ शास्त्र, नृत्य संगीत आदि कुछ ऐसे विषय हैं जिनका समावेश लड़कियों की शिक्षा में होना आवश्यक है। बिना स्त्री शिक्षा के शिशुओं का पालन पोषण और शिक्षा उचित रीति से नहीं हो सकती। ऐसी शिक्षा हमारे पारिवारिक जीवन को सुखी और शान्तिमय तथा ग्रामीण जीवन को आनन्दमय और उन्नत बना सकेगी। दृष्टिकोण और वातावरण दोनों में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो जायगा।

प्रौढ़ शिक्षा

(Adult Education)

बच्चों की शिक्षा के साथ-साथ बड़ों या प्रौढ़ों की शिक्षा की भी हमारे गांवों में बहुत ही ज़्यादा ज़रूरत है। सच पूछिये तो बिना प्रौढ़ों के दृष्टि कोण को बदले हुए बच्चों की शिक्षा में भी सफलता सम्भव नहीं है। साधारणतया गांव के प्रौढ़ और वृद्ध लोग यह समझते हैं कि एक तो शिक्षा प्राप्त कर लेने पर उनके लड़के घर के व खेती के काम के नहीं रह जांयगे, न पढ़ाई से उन्हें इतना अवकाश मिलेगा कि घर के व खेती के कामों में वह उनका हाथ बटा सकें, दूसरे वे यह भी समझते हैं, जैसाकि वे देख रहे हैं, कि अंग्रेज़ी पढ़कर इन लड़कों का धर्म और आचार विचार सब बिगड़ जायगा। तथा शहरों में बरसों पढ़ने के लिये उन्हें रुपिये की अधिक आवश्यकता होगी, जो एक महा कठिन समस्या हो जायगी। तीसरे वे यह भी सोचते हैं कि पढ़ाई समाप्त होने पर लड़का शहर में कहीं नौकरी कर लेगा और अपनी बहू को लेकर वहीं रहेगा और इस प्रकार उनसे अलग हो जायगा और उनके बुढ़ापे का सहारा जाता रहेगा।

वास्तव में इन तीनों विचारों में बहुत कुछ सत्यता है। ऐसा ही हो रहा है। बिचारे बुड्ढे माँ बाप गाँव, घर और भूमि आदि के मोह को छोड़ नहीं सकते और वहीं गांव में अकेले पड़े रहते हैं और शिक्षित पुत्र अपनी गृहस्थी शहर में जमा लेता है।

बुढ़ापे में खेती की देख भाल और बीमारी और मुसीबत में सेवा और सहायता करने वालों का अभाव उन्हें बहुत खटकता है।

यही मुख्य कारण हैं जिनके कारण गांव के वृद्ध और प्रौढ़ विशेष कर निम्न श्रेणी के लोग बच्चों को स्कूल नहीं भेजना चाहते। इसके साथ ही उच्च जाति ठाकुर ब्राह्मण भी यह नहीं चाहते कि नीची जातियों के लोग शिक्षित हो जांय, क्योंकि उन्हें यह चिन्ता है कि वे उनकी सेवा और टहल न करेंगे और न उनका आदर करेंगे।

प्रौढ़ शिक्षा के प्रचार में हमें इन्हीं विरोधी विचार धाराओं का सामना करना पड़ेगा, और स्वयम प्रौढ़ों को शिक्षित और उदार बनाना होगा। साथ ही शिक्षित गाँव के लड़कों को उन्हीं गांवों में कुछ न कुछ उत्पादक कार्य देकर बसाना होगा और तब गाँव वालों को शिक्षा का सच्चा फल दिखाई पड़ेगा और उनका इसमें विश्वास बढ़ेगा।

प्रौढ़ों की शिक्षा से निम्न लाभ होंगे :—

(१) वे ज्ञान और विद्या की महत्ता को समझेंगे और अपने बच्चों की शिक्षा के लिये स्वयम प्रयत्नशील होंगे।

(२) उनकी कार्य क्षमता बढ़ेगी और कृषि, बाजार, उद्योग धंधे और व्यापार सम्बन्धी ज्ञान बढ़ेगा, जिससे उनका प्रत्यक्ष लाभ होगा।

(३) ग्रामीण समाज की कुरीतियों और रूढ़ियों को दूर करने में सुविधा होगी और अन्ध विश्वास दूर होकर विज्ञान से मानव कल्याण की भावना भी जाग्रत होगी।

(४) विद्या और कला से उनका सम्पर्क बना रहेगा और उनमें उन्नति की संभावना होगी।

(५) एक नवीन नागरिक चेतना और सांस्कृतिक वातावरण का निर्माण होगा जो ग्रामीण जीवन की भावी उन्नति के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

प्रौढ़ शिक्षा के सम्बन्ध में बंगाल और पञ्जाब में कुछ अधिक कार्य हुआ है। अन्य प्रान्तों में बहुत कम। इसकी आवश्यकता और महत्त्व तो अच्छी तरह समझा जाता है पर धन और कार्यकर्ताओं की बहुत कमी है। हमारे प्रान्त में भी शिक्षित लोग विद्यार्थी और अध्यापकगण गांव में जाने, घूमने और काम करने से बहुत डरते हैं, क्योंकि शहरों के सुख और मनोरंजन का वहां नितान्त अभाव है। सरकार ने इस कार्य को अपने हाथ में लिया है और शिक्षा विभाग तथा ग्रामोन्नति विभाग दोनों मिलकर काम कर रहे हैं।

प्रौढ़ शिक्षा का काम रात्रि पाठशालाओं, पुस्तकालयों, वाचनालयों, मैजिक लैन्टर्न, ग्रामीण फ़िल्म और अन्य कला-योजनाओं द्वारा ही हो सकता है और हो भी रहा है। यह सब काम रात्रि के समय ही गांवों में किये जा सकते हैं। क्योंकि दिन में किसान और मज़दूर सब अपने-अपने काम में लगे रहते हैं और रात्रि ही में उन्हें मनोरंजन और शिक्षा के लिये समय मिलता है।

बंगाल में कई एक सरकारी विभागों ने मिलकर डिमांस्ट्रेशन ट्रेन्स (Demonstration Trains) चलाई हैं, जिनमें नुमायश के लिये और बिक्री के लिये चीज़ें भी रहती हैं और साथ ही जनता की साधारण शिक्षा के लिये तथा मनोरंजन के लिये ग्रामीण फ़िल्म, गाने और व्याख्यान भी होते हैं।

हमारे प्रान्त में इसी वर्ष से (१९५० से) इस ग्रामीण प्रौढ़ शिक्षा को एक नवीन रूप दिया गया है, जिसे सामाजिक शिक्षा कहा

जाता है और जिसका रूप और विचार बहुत ही विस्त्रित हो गया है। पर अभी शहरों में ही इसका प्रचार अधिक हुआ है। आगामी वर्षं से हमें आशा है कि उसे गांवों में फैलाने का विशेष प्रयत्न किया जायगा और यदि काम करने वाले काफ़ी मिल गये और उन्होंने दिल चस्पी ली, तो उसमें अवश्य सफलता होगी।

ग्रामीण-शिक्षक

(Village Teacher)

सारी शिक्षा प्रणाली और आयोजन का केन्द्र शिक्षक है। जैसा शिक्षक होता है वैसी ही शिक्षा में सफलता होती है। ग्रामीण शिक्षक शहरों में शिक्षा पाकर शहरों के दोष अपने साथ ग्रामों में भी ले आते हैं। जैसे हाथ पैर के परिश्रम से नफ़रत, गंवारों से दूर रहना, फैशन करना, पान सिगरेट आदि की आदतें इत्यादि।

ग्राम्य जीवन भी उन्हें पसन्द नहीं होता केवल रोज़ी के लिये ही वे वहाँ जाते हैं। ऐसे शिक्षकों से गांवों को लाभ के स्थान में हानि ही होती है। आवश्यकता ऐसे अध्यापकों की है जो ग्रामीण जीवन और ग्रामों से प्रेम करते हों, जिनका जीवन गांव वालों का जैसा सीधा सादा हो, जो चरित्रवान हों, शारीरिक परिश्रम कर सकते हों, खेती के विषय में भी जानकारी रखते हों, जो ग्राम्य जीवन में घुल मिलकर उसके सुधार की चेष्टा करें और ग्रामीण समाज के आदर के पात्र हों।

प्रश्न

(१) गांवों में शिक्षा की क्या आवश्यकता है? उसका महत्व समझाइये।

(२) ग्राम्य स्कूलों के पाठ्यक्रम में आप क्या परिवर्तन चाहते हैं?

(३) स्त्री शिक्षा की क्या महत्ता है? लड़कियों की पढ़ाई में किन विषयों पर आप अधिक जोर देना चाहते हैं और क्यों?

(४) प्राढ़ शिक्षा या सामाजिक शिक्षा पर एक लेख लिखिये।

चौबीसवाँ अध्याय

मनोरंजन के साधन

(Rereations)

मनोरंजन या मन बहलाव की आवश्यकता प्रत्येक स्त्री पुरुष और बच्चे को है। बल्कि प्रत्येक जीवधारी को है पशु और पक्षी भी मनोरंजन करते हैं। वास्तव में जीवन के विकास या मनुष्य की शारीरिक और मानसिक उन्नति के लिये मनोरंजन बहुत ही ज़रूरी चीज़ है। बच्चा तो स्वभावतः ही खेलाड़ी होता है क्योंकि उसके भीतर जीवन चपलता के साथ स्वतः विकसित होता है।

आयु, कार्य और ज़िम्मेदारी के बढ़ने के साथ-साथ शारीरिक और मानसिक परिश्रम बढ़ जाता है, जिससे शक्ति का ह्रास होता है। पर जब मनुष्य स्वतन्त्रता पूर्वक खेल कूद कर, हँस बोलकर या गा बजाकर अपने थके हुए मन और शरीर को सुख देता है तो उसकी खोई हुई शक्ति केवल वापस ही नहीं आजाती वरन बढ़ जाती है।

यदि मनुष्य को मनोरंजन का अवसर और साधन न मिलें तो उसका जीवन बड़ा नीरस, दुखी और रोगी हों जाय। पाश्चात्य देशों में मनोरंजन की महत्ता को लोगों ने खूब समझ लिया है। अतएव वहां स्वस्थ और कलापूर्ण साधनों का शहरों और गाँवों में काफ़ी प्रबन्ध किया गया है। जनता और सरकार दोनों इस काम में भाग ले रहे हैं।

हमारे देश में शहरों में तो अब बहुत कुछ ऐसे साधन एकत्रित हो गये हैं कि जिनसे मनोरंजन हो सकता है, पर गांवों में अभी उनका कोई उचित प्रबन्ध नहीं है। कुछ थोड़े से इने गिने पुराने और निम्न-कोटि के साधन वहाँ हैं जिनसे लोग अपना जी बहलाते हैं, जैसे रात को अलाव के चारों ओर की गपशप, रामायण आदि की कथा, आल्हागान, किन्हीं विशेष अवसरों पर गाँव की वेश्याओं का नाच और स्वांग, लोक गीतों और नृत्यों का आयोजन, नौटंकी गान, नृत्य तथा नाट्य प्रदर्शन गंदे और नीचे दर्जे के होते है, जिनका प्रभाव मन के ऊपर बहुत ही कुत्सित होता है। कला की दृष्टि से भी वे बहुत ही निम्न कोटि के हैं।

वास्तव में, अब हमें अपने देशवासियों को ऊँचा उठाना है। अतः मनोरंजन के साधन उनके लिये ऐसे होने चाहिये जो उन्हें सुखी, सरस और स्वस्थ बना सकें।

वार्तालाप और व्याख्यान

साधारणतया ग्रामीण जीवन का एक विशेष अंग है भोजनोपरान्त किसी व्यक्ति की चौपाल में जमा होना और वार्तालाप करना। इन बैठकों में अधिकतर गांव के नित्य प्रति के झगड़े बखेड़ों या दल बन्दियों या कुछ विशेष व्यक्तियों के सम्बन्ध में ही बातचीत होती रहती हैं। या कोई प्रभावशाली और प्रखर बुद्धिवाला ग्रामीण अपनी प्रशंसात्मक बातें करता रहता है या कोई वृद्ध अपने जीवन के अनुभवों को बताता हैं। यां अधिक से अधिक कोई कहानियां इधर उधर से सुनी हुई सुनाता रहता है। इस समय को जबकि लगभग गांव के सब लोग घरों पर ही होते हैं अत्यन्त उपयोगी बनाया जा सकता है। यदि सरकार की ओर से या किसी अन्य समाज सेवक संघ या संस्था की ओर से कुछ उपयोगी पर रोचक व्याख्यानों या गानों का आयोजन किया जाय। इस प्रकार के प्रोग्राम महीने में एक दो वार तो

अवश्य गाँव वालों को मनोरंजन तथा उपदेश प्रदान कर सकते हैं।
कांग्रेस या समाजवादी दलों के लोग या स्कूलों के अध्यापक और
विद्यार्थी गांवों में कभी-कभी जाकर ऐसे प्रोग्रामों में भाग ले सकते हैं
और देश की कुछ सेवा कर सकते हैं।

अखबार और पुस्तकें

साक्षरता प्रसार तथा शिक्षा प्रचार के साथ-साथ अखबारों को
पढ़कर देश-विदेश के समाचार सुनने में भी ग्रामीण जनता काफी दिल
चस्पी लेगी। नवीन समाचारों में एक यह गुण है कि वे स्वभावतः
अपनी नवीनता के कारण मनुष्य का ध्यान आकर्षित कर लेते हैं।
अच्छी-अच्छी रोचक पुस्तकें भी पढ़ी जा सकती हैं और लोगों को
पूर्णतया न सही तो अंशों में ही सुनाई जा सकती हैं, और उन पर
लाभदायक टिप्पणियां भी की जा सकती हैं। वास्तव में यह शिक्षा के
साधन हैं पर उनसें मनोरजन भी होगा। वास्तव में मनोरंजन ऐसे होने
भी चाहिये जो सुख और ज्ञान दोनों ही दें, और हमारे गांव वालों को
दोनों की ही आवश्यकता है।

संगीत

गांव वालों का सबसे अधिक मनोरंजन संगीत या गाने से होता
है। और गांव वालों का ही क्यों संगीत तो मनुष्य मात्र को मुग्ध कर
लेता है। यहां तक कि पशु पक्षी भी इससे प्रभावित हो जाते हैं।
संगीत जितना ही मधुर और कोमल होता है उतना ही वह मन को
आकर्षित करता हैं। पर उसके विषय का भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न
होता है। शब्द और स्वर में एक दैवी शक्ति विद्यमान हैं जो शनैः श
आत्मा तक को ओत-प्रोत कर देती है। शायद हमारे दर्शन शास्त्रों में
इसीलिये शब्द को ब्रह्म कहा गया है।

गाँवों में प्रायः हम देखते हैं कि ऋतुओं के अनुसार कभी वर्षा में

आल्हा गाया जाता है तो कहीं स्त्रियां झूला झूलती जाती हैं और बड़ी ही मनोहारिणी ध्वनि में सावन और मलार या बारहमासा गाती हैं। इसी प्रकार फागुन में कहीं वसन्त और कहीं होली गाई जाती है। यह सब तो ठीक हैं पर एक बात जो खटकती है वह यह कि इन गानों में अश्लीलता और वासना की छाप प्रायः अधिक रहती है। जिससे गांव का मानसिक और नैतिक पतन ही होता है। उसमे उत्थान की सम्भावता नहीं होती। यही एक चिन्ता की बात है। परस्तु एक बात का ध्यान रखना चाहिये कि यह सब आधुनिकता लिये हुए नवीन ग्रामीण कृतियां हैं। इनके विपरीत यदि हम कुछ प्राचीन ग्रामींण लोक गीतों को सुनें तो हम देखेंगे कि उनमें हमारी सच्ची भारतीय संस्कृति की अमिट छाप मौजूद है, और उनमें सच्चा साहित्य भी है। हां, उनकी काव्य प्रणाली और ध्वनि या गाने का ढंग पुराना है जो हमें अब तक रुचिकर नहीं रहा। इसी कारण से नवीन आधुनिक ंग के गानों की सृष्टि भी हुई; केवल नवीनता के लिये। पर उनमें वह भाव की गहनता और मानव हृदय की सरसता नहीं आ पाई और वे इसी कारण वासनाओं को तो जगा देते हैं पर आत्मा को सुला देते हैं। हमारी राष्ट्रीय ललित कलाओं के सामने यही एक महान समस्या उपस्थित है। चाहे वह कला संगीत और काव्य हो और चाहे नृत्य और नाट्य और चाहे इनका सम्मिश्रण।

ग्रामीण फिल्म

(Rural Films)

आजकल शहरों में सिनेमा मनोरंजन का एक बहुत बड़ा साधन है। गांवों में भी सिनेमा फ़िल्म घूमने वाले सिनेमा द्वारा दिखाए जा सकते हैं। ग्राम सुधार में फिल्मों से बहुत काम लिया जा सकता है। पर यह फ़िल्म साधारण बोलचाल की भाषा में या भिन्न प्रदेशों की स्थानीय भाषाओं (Local dialects) में बनाए जाने चाहिये।

इन फ़िल्मों द्वारा सब आवश्यक विषयों का ज्ञान गांव वालों को कराया जा सकता है। खेती की उन्नति, ऋण की समस्या, सहकारिता के लाभ, बीमारियों से बचाव, शिक्षा प्रचार आदि समस्यायें छोटे-छोटे कथानकों द्वारा आसानी से किसानों को मनोरंजन के साथ समझाई जा सकती हैं। विदेशों में इन फिल्मों से बहुत लाभ उठाया जा रहा है। अतएव यहां भी इस साधन का प्रयोग काफी होना चाहिये ? इन फिल्मों को देखने बड़ी दूर-दूर से गांव वाले हजारों की संख्या में आकर जमा होते हैं, क्योंकि ऐसा मुफ्ती सिनेमा देखने को उन्हें कभी नहीं मिलता।

मैजिकलैन्टर्न या जादू की लालटेन
(Magic Lantern)

मनोरंजन का एक साधन मैजिक लैंटर्न या जादू की लालटेन भी है। इसको भी गांव वाले बड़े चाव से देखते हैं। इसके द्वारा देश विदेश का भूगोलिक ज्ञान बड़ी आसानी से कराया जा सकता है। बड़े-बड़े रोगों के कारण उनसे हानियां और उनसे बचाव के तरीके बताये सा सकते हैं। इस साधन से बहुत कुछ सफलता हो रही है। इसका और अधिक प्रचार गांवों में होना चाहिये।

रेडियो
(Radio)

रेडियो (Radio) आधुनिक विज्ञान की सबसे बड़ी देन और सब से बड़ा चमत्कार है। जिसके विषय में पूज्य महात्मा गाँधी जी का यह विचार था कि इस में एक दैवी शक्ति का आभास सा जान पड़ता है। इसके द्वारा संसार भर के अच्छे-अच्छे गाने, विद्वानों के उपदेश और व्याख्यान, तथा देश और विदेश की खबरें आसानी से सारे संसार में ब्राडकास्ट (Broad cast) की जा सकती हैं या फैलाई जा सकती हैं।

देहली और लखनऊ तथा अलाहाबाद आदि स्थानों से नाटक कहानियां, कवि सम्मेलन, खबरें नित्य प्रति ब्राडकास्ट की जा रही हैं। उनमें गाँव के लोग काफ़ी दिलचस्पी ले रहे हैं।

लखनऊ ब्राडकास्टिङ्ग स्टेशन (Broad casting Station) से एक विशेष देहाती प्रोग्राम भी ब्राडकास्ट किया जाता है जिससे गाँव वालों को मनोरञ्जन के साथ काफ़ी शिक्षा और ज्ञान प्राप्त हो सकता है। पर इसकी सफलता के लिये गांवों में केन्द्रीय स्थानों पर 'रिसीविङ्ग सेट' (Receiving set) का प्रबन्ध करना होगा। सुधार विभाग (Development Department) की ओर से ऐसे कुछ केन्द्र स्थापित भी हुए हैं जहां सांयकाल को आस पास के गांवों से कुछ लोग आकर जमा होते और रेडियो सुनते हैं।

देश की और विदेश की सच्ची खबरें उन्हें मालूम होती हैं। बाज़ार के रेट या दर भी उन्हें मालूम हो सकती हैं और वे व्यापारियों की चालबाजियों से बच सकते हैं।

अतएव ऐसे और भी अधिक ग्रामीण केन्द्र, जिनका हवाला भोजन समस्या वाले अध्याय में दिया गया है, शीघ्र देहातों में खुलने चाहिये। जिसमें अधिक से अधिक संख्या में गांव वाले आकर रेडियो से लाभ उठा सकें।

नाटक समिति

(Dramatic Society)

यदि कुछ पढ़े लिखे लोग या स्कूल के अध्यापक और विद्यार्थी प्रयत्न करें तो गावों में नाटक समितियां भी बनाई जा सकती हैं, जो छोटे छोटे एकांकी नाटक समय २ पर गांव वालों के मनोरञ्जन के लिये खेल सकती हैं और उनके साथ २ अच्छी २ कविताएँ और गाने भी सुनाए जा सकते हैं। अभी गाने और नृत्य जो गांवों में होते

हैं बहुत ही अश्लीलता लिये हुए होते हैं। उनके स्थान में हमें अच्छे २ गाने और नृत्य रखने होंगे, जिसमें हम धीरे २ उनकी रुचि बदल सकें और साथ ही उनके चरित्र को ऊँचा उठा सकें। पर यह काम भी ग्रामीण केन्द्रों से उठाया जा सकता है, जहां पर कुछ शिक्षित लोग स्वतः निवास करने लगेंगे, क्योंकि उन सब को वहां पर किसी न किसी विभाग में कार्य करना ही होगा।

खेल कूद के साधन

खेलों से भी मनुष्य का मनोरञ्जन बहुत कुछ होता है, साथ ही उन से शारीरिक शक्ति और स्फूर्ति बढ़ती है। स्पर्धा, मित्रता और न्याय आदि गुण भी उत्पन्न होते हैं, जिससे चरित्र का गठन भी होता है।

गांवों में खेल कूद का रिवाज बहुत कम है, जिसका एक मात्र कारण खेती का परिश्रम है। दिन भर खेतों में काम करने के बाद न तो खेल के लिये समय ही रह जाता है और न दम और रुचि। बच्चे ही कुछ थोड़ा बहुत खेल कूद कर अपना जी बहलाते हैं और समय काटते हैं। प्रौढ़ों के लिये खेल कूद की कोई समस्या ही नहीं है। अधिक से अधिक बैठक में खेले जानेवाले खेल (Indoor games) जैसे ताश और चौपड़ या नक्की मूठ या सिर बधू आदि खेल खेल कर कुछ मनोरञ्जन उस समय कर लेते हैं जब उन्हें खेती के कामों से अवकाश मिलता है। कबड्डी एक बहुत ही पुराना खेल है जो अब गांवों में ही नहीं वरन् शहरों में भी प्रचलित हो गया है। और दिन प्रति दिन बढ़ता जाता है। इनके अतिरिक्त रस्सा खिंचाई, फुटबाल और वालीबाल आदि कुछ ऐसे सस्ते खेल हैं जो आसानी से गांवों में प्रचलित किये जा सकते हैं इन खेलों से शरीर पुष्ट होगा। मनोरञ्जन होगा और पारस्परिक प्रेम भी बढ़ेगा। साथ ही किसानों और गांव

वालों का दृष्टिकोण भी विस्त्रित हो जायगा जो उन्नति के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

गांव के प्रत्येक स्कूल में एक खेल के मैदान की बहुत जरूरत है। साथ ही प्रत्येक गांव का भी एक प्रथक खेल का मैदान होना आवश्यक है।

प्रश्न

(१) ग्रामों में इस समय मनोरञ्जन के साधन क्या हैं? उनका वर्णन कीजिये।

(२) ग्रामों में ललित कलाओं की उन्नति के उपाय लिखिये।

पच्चीसवां अध्याय

सफाई और स्वास्थ्य

(Sanitation and Hygiene)

भारतीय गांवों में सब ओर गन्दगी ही गन्दगी दिखाई पड़ती है। जगह जगह पर गन्दे कुएँ तालाब और रास्तों पर बहती हुई नालियाँ दिखाई पड़ती हैं। घरों के आस पास तमाम कूड़ा करकट और खाद के ढेर लगे मिलते हैं। किन्हीं २ गांवों में घरों के पास ही पैखाना फिरते हैं विशेष करके बरसात में तो बहुत ही गन्दगी बढ़ जाती है तमाम मक्खियां, कीड़े मकोड़े पैदा हो जाते हैं, दुर्गन्ध उड़ती है और वातावरण को दूषित कर देती है। इससे अनेकों बीमारियां फैलती हैं। विशेष कर बङ्गाल में और अन्य प्रान्तों में भी तालाबों का गन्दा पानी पीने और खाना बनाने के काम में भी लाया जाता है।

गाँवों की गंदगी के साथ गांव वालों को अपनी शारीरिक और निजी स्वच्छता का भी ध्यान नहीं रहता, उनमें बहुत सी गंदी आदतें भी पैदा हो गई हैं जैसे सब कहीं थूकना और सब कहीं पेशाब कर देना।

अगर हमारे गांव के लोग स्वास्थ्य की ओर ध्यान दें और गांव को साफ रक्खें तो बहुत से रोगों से बचें और अधिक कार्य कुशल हो जायँ। सम्पत्ति और आय बढ़े और जीवन स्तर भी ऊँचा हो जाय।

इस अध्याय में हम सफाई के और स्वास्थ्य के कुछ प्रमुख प्रश्नों पर ध्यान देंगे।

स्वच्छता (Sanitation)

गांव को स्वच्छ और स्वस्थ तथा सुन्दर बनाने की समस्या हमारे यहां बड़ी कठिन हो गई है, जिसका मुख्य कारण यह है कि हजारों बरसों से ऐसी अवस्था में रहने के कारण (गांव वाले) यह सोच ही नहीं सकते कि वे गंदगी में रहते हैं। पर एक उन्नतिशील स्वतन्त्र देश की जनता को अब इस अंधकार में पड़ा नहीं रहने दिया जा सकता क्योंकि स्वच्छता के साथ स्वास्थ्य और स्वास्थ्य के साथ सौन्दर्य तथा कार्य कुशलता और सुख का गहरा सम्बन्ध है।

गाँव की बनावट

यों तो कुछ गांव कुछ बहुत सोच विचार कर बसाए गए हैं पर बहुत से गांव ऐसे हैं जिनको बसाने में कुछ विचार और बुद्धि से काम नहीं लिया गया। एक प्रदेश की उँचाई या प्राकृतिक ढाल को बिना विचार हुए जहां पाया वहां गांव बसा लिया गया। या पहले जहां दो चार घरों के लिये भूमि काफी और चौरस मिली मिट्टी के घरौंदे बना कर उन पर झोपड़े डाल लिये गए, पर बाद को संख्या बढ़ने से और

घर इधर उधर बना लिये गए। बढ़ते बढ़ते यहीं एक पुरवा से गांव बन गया इसी प्रकार बहुत से गांवों का जन्म हुआ है। कहीं कहीं जैसे पञ्जाब के या उत्तरीय सीमा प्रांत के गांवों में चहार दीवारी भी मिलती है, जिसके मार्गों में फाटक बन्द कर देने से वे सुरक्षित हो जाते थे इसी रक्षा के भाव से प्रेरित हो कर गांवों में घर बहुत ही पास पास बनाए जाते हैं और दो मकानों की पंक्तियों के बीच में बहुत कम रास्ता छोड़ा जाता है। बस इतना कि बैलगाड़ी किसी प्रकार निकल जाय। कहीं कहीं गलियां इससे भी छोटी होती हैं। कहीं कहीं इतनी भी जगह मकानों के पास नहीं है कि पशु और उनकी खाद सुरक्षित रखी जा सकें। मकानों के बीच में जो कुछ खुली जगह होती भी है वह पशुओं से कूड़ा और खाद के ढेरों या कंडे के ढेरों से भर जाती है। गांव के भीतर पेड़ पौधा फूलों के लिये बहुत कम स्थान है। खुले स्थान या मैदान गांव के बाहर खेतों ही में मिलते हैं या छिछले तालाबों के सूख जाने पर। शौच-स्थान भी कोई नियत नहीं हैं। प्रत्येक स्थान शौचालय बनाया जा सकता है। प्रत्येक गली गंदे पानी की नाली है, बरसात में बहुत से गांव चारों ओर तालाब होने के कारण द्वीप बन जाते हैं और गांवों के बाहर आना जाना कठिन हो जाता है। शौच के लिये भी विशेष कर स्त्रियों और बच्चों के लिये एक विकट समस्या हो जाती है।

गांवों की गलियों और सड़कों पर घोर अँधेरा छाया रहता है, प्रकाश का कोई प्रबन्ध नहीं है। यह है हमारे गांवों की दशा। इसके विपरीत यदि आजकल के पाश्चात्य अंग्रेजी या अमरीकन गांवों को देखा जाय तो स्वर्ग और नर्क की बात कुछ २ समझ में आ जाती है। वे बड़े ही रमणीक सुन्दर और स्वच्छ तथा खुले हुए होते हैं।

गाँव के घर

गांवों में अब कहीं-कहीं कुछ पक्के और आधुनिक ढंग के भी मकान दिखाई पड़ते हैं पर अब भी ९५ से भी अधिक प्रति सैकड़ा मकान कच्चे फूस के झोपड़े या खपरैल के बने हैं, जो बहुत ही छोटे नीचे और बगैर रोशनदानों और खिड़कियों के हैं।

हवा और रोशनी का उनमें बहुत कम गुज़र होता है। दरवाजे भी बहुत कम होते हैं। बड़े लम्बे लम्बे कमरों में भी प्रायः एक ही द्वार होता है। उन कमरों में गन्दी हवा और कीड़े मकोड़ों का साम्राज्य रहता है। दीवारें प्रायः कई कई हाथ मोटी होती हैं यह सब चोरों के भय से ऐसे मकान बनाते हैं।

प्रायः एक ही कमरे में खाना भी बनता है। उसी में सामान भी रहता है और उसी में सोते भी हैं। धुयें से दीवारें और छतें काली काली रहती हैं और आंखों पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। कभी-कभी एक ही कमरे में आदमी और जानवर सब सोते हैं, इससे दोनों के स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है।

घर का सारा गंदा पानी घर के आंगन में और कुछ बाहर सड़क या गली में सड़ता रहता है, जिसमें कीड़े पड़ते रहते हैं। कहीं-कहीं एक ही कमरे में १०, १२ पुरुष, स्त्री, बच्चे और जानवर सब गुज़र करते हैं। इस प्रकार हमारे गाँव के घरों की दशा अत्यन्त शोचनीय है। शिक्षा और धन दोनों की सहायता से इनकी अवस्था सुधारी जा सकती है। कुछ नमूने के गाँव और घर कहीं-कहीं बनाए गये हैं पर यह बहुत कम हैं। दस बीस गांवों के बीच ऐसे नमूने के गाँव केन्द्रीय स्थानों पर शीघ्र सरकार द्वारा बसाए जाने चाहिये जिससे गाँव वालों को कुछ प्रोत्साहन मिल सके, और यह अपने घरों को भी स्वस्थ और सुन्दर बना सकें।

गाँव के शौच स्थान

गाँवों में यह शौच की समस्या भी एक विशेष समस्या है। ऊपर

कहा गया है कि घरों में गांव के भीतर कोई शौच-स्थान नियत नहीं हैं। खेत ही शौच स्थान हैं, जो गर्मियों में एक दम साफ़ और खुले रहते हैं जहां शौच के लिये बैठना एक असभ्यता की बात जान पड़ती है। बरसात में पानी के कारण स्थान नहीं रहता। परिणाम यह होता है कि घरों के आस पास ही शौच-स्थान बन जाते हैं और जिनके कारण गन्दगी बहुत हो जाती है और वायु अशुद्ध रहती है। अतएव गाँवों में शौच स्थान का प्रबन्ध बहुत ही ज़रूरी है।

कुछ लोगों ने सेप्टिकटैंक (Septic Tank) की योजना उचित बताई है और वह लाभ दायक भी है पर इसमें व्यय ५०) रु० से कम नहीं होता। अतः यह ठीक नहीं है।

महात्मा गाँधी की बात सब से अधिक सरल और हर एक के करने योग्य जान पड़ती है। उनका कहना है कि लोग खेतों में जाकर गड्ढा खोद कर उसमें मल त्याग करें और फिर उसे पाट दे। इससे भी सहज एक बात और बताई कि एक गहरा गड्ढा खेत में खोद कर दो पटरे उस पर डाल दे और चारों ओर अरहर की टट्टी लगा दें। ऐसा एक शौचालय एक परिवार के लिये कई बरसों के लिये काफी होगा। और इसमें मिट्टी डालते रहने से खाद अच्छी बन जायगी। उसके भर जाने के बाद दूसरा गड्ढा बना लें। अभी ऐसे ही शौच-गृहों से काम चलाना पड़ेगा। साथ-साथ ही जो लोग खुले में मल त्याग करना चाहें वे गाँव से काफी दूर झाड़ी जंगल में जायें तो गाँव के स्वास्थ्य पर बुरा असर न पड़ेगा।

हौज और नालियाँ

घरों का गन्दा पानी घरों के आंगन में या गली से बहता रहता है और सड़कर गन्दगी पैदा करता है। यह गांव के स्वास्थ्य के लिये बहुत ही बुरा है। इसलिये गाँव वालों को ठीक नालियां बनाना

चाहिये और घर के बाहर एक हौज़ बनाना चाहिये जिसमें कुछ ईंट पत्थर पड़े रहें तो पानी उसमें सोकता जायगा। ऊपर से लकड़ी के पटरों से ढका रहना चाहिये। फिनायल और ब्लीचिंग पाउडर द्वारा इनकी सफ़ाई होनी चाहिये। यह वस्तुयें पञ्चायत-द्वारा ज़िले के हेल्थ आफ़िसर से आसानी से मिल सकती हैं।

कुओं की सफ़ाई

गाँव में कुयें अधिकतर कच्चे होते हैं। अब डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ने कुछ पक्के कुयें गांवों में बनवाए हैं। स्वास्थ्य के लिये पीने का पानी
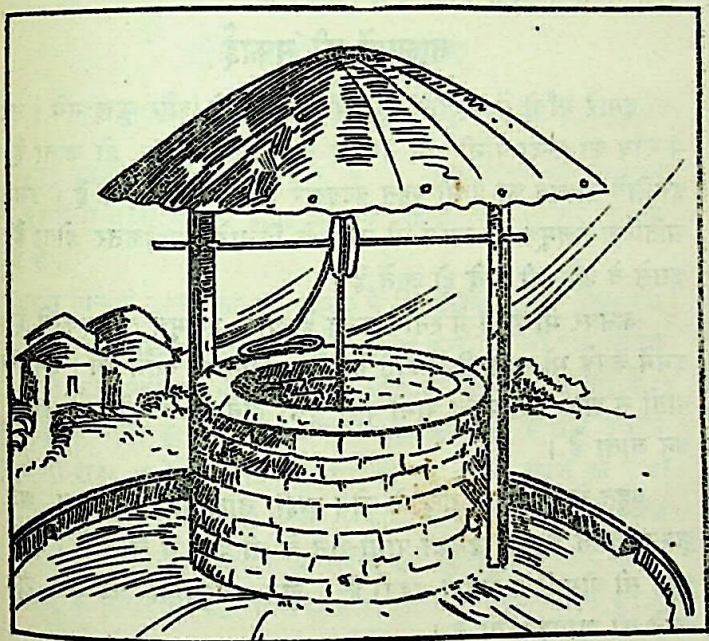
चित्र २४—साफ कुआँ

शुद्ध होना चाहिये। पर इन कुओं पर लोग नहाते हैं कुल्ला करते हैं

कपड़े धोते है। यह पानी कुयें के पास ही सड़ता रहता है। कुएँ खुले होते हैं इसलिये ऊपर उनमें पेड़ों की पत्तियाँ, कूड़ा करकट, चिड़ियों की गन्दगी सब कुओं में जाती रहती है और पानी गन्दा होता रहता है।

अतएव कुएं पक्के होने चाहिये या कम से कम उनकी जगत पक्की होनी चाहिये और उनके ऊपर टीन पड़ा रहना चाहिये। कम से कम साल में एक बार कुआं नीचे से साफ़ किया जाना चाहिये और लाल दवा (Patassium Permagnate) या क्लीचिंग पाउडर डालकर पानी साफ़ करवा देना चाहिये।

तालाबों की सफ़ाई

हमारे गाँवों में तालाब बहुत हैं कुछ पुराने और कुछ नये। उन में गाँव का गन्दा पानी और बरसात का पानी इकट्ठा हो जाता है। इसलिये तालाब का पानी बहुत बदबूदार और गन्दा रहता है। इसके अतिरिक्त मलमूत्र का त्याग भी उन्हीं के किनारे अधिकतर होना है। इससे वे और भी गन्दे हो जाते हैं।

जानवर भी इन्हीं में स्नान करते हैं और मलमूत्र त्याग करते हैं। इनमें कपड़े भी साफ़ किये जाते हैं और कभी-कभी बर्तन भी। इन सब बातों से और तालाब का पानी बँधा हुआ होने से गंदगी की खानि बन जाता है।

बहुत से स्थानों में गांव के लोग इन्हीं तालाबों में स्नान और कुल्ला करते हैं और उनका पानी पीने के भी काम में लाते हैं। इससे बहुत सी बीमारियां फैलती रहती हैं। अतः तालाबों को भी शुद्ध रखने की आवश्यकता है।

गांवों में बहुत तालाब होने का एक कारण यह है कि मकान बनाने के लिये लोग मिट्टी खोदते रहते हैं और फिर वे गड्ढे धीरे-धीरे

तालाब बन जाते हैं और इस प्रकार बहुत सा स्थान, जो खेल और मनोरंजन के काम में आ सकता था बेकार हो जाता है। यदि कपड़े धोने, शौच और पशुओं के तालाब पृथक हों और बहुत लाभ हो सकता है।

वास्तव में तालाबों का प्रयोग इन सब कार्यों के लिये नहीं करना चाहिये। उन्हें पशुओं के काम के लिये और सिंचाई के काम के लिये प्रयोग करना चाहिये। अच्छे पक्के कुएँ का पानी ही पीने, नहाने और कुल्ला करने के काम में आना चाहिये। अगर तालाब ज्यादा हों तो कुछ को पाट देना भी ठीक होगा।

गाँव वालों का स्वास्थ्य

(Health of the Village people)

कुछ लोगों का यह विचार है कि गाव वालों का स्वास्थ्य शहर वालों से बहुत अच्छा होता है, पर बहुतों का विचार इसके विरुद्ध है।

पहले विचार वालों का यह कहना है कि गरीबी और बीमारियां के होते हुये भी, मोटा नाज खाने और फाका करने पर भी एक औसत गाँव वाले की तन्दुरुस्ती एक औसत शहर वाले से कहीं अच्छी है। वह जो कुछ खाता है उसे परिश्रम करके हज्म कर लेता है और उसकी खुराक भी शहर वाले से ज्यादा है साथ ही वह अगर खाने को पाता है तो शुद्ध घी, दूध, तेल, हरी ताजी तरकारी खाने को पाता है। अन्न भी उसे शुद्ध मिलता है। इसके अतिरिक्त उसे खुली हवा और रोशनी भी प्रकृति के भंडार से बेहद मिलती हैं। इसलिये वह अधिक स्वस्थ और पुष्ट है।

दूसरे विचार वालों का यह कहना है कि गांव वालों को न तो भर पेट भोजन मिलता है और न उन्हें शुद्ध जल और वायु मिलता है

और इसीलिये हर साल गाँवों में बीमारियाँ फैलती रहती हैं, जो उनके स्वास्थ्य को खराब करती रहती हैं।

मेरे विचार में दोनों ही मत कुछ-कुछ अंशों में ठीक हैं। यह बिलकुल ठीक है कि गाँवों में बहुत गंदगी है और बीमारियां हर साल फैलती रहती हैं, फिर भी यह ठीक है कि एक औसत शहर वाले से एक औसत गाँव वाला कहीं मज़बूत और स्वस्थ है, जिसका कारण यह है कि गाँव वालों को हवा और रोशनी काफी मिलती है और भोजन के शुद्ध और पौष्टिक पदार्थ उन्हें खाने को मिलते हैं। फिर जो कुछ भी रूखा सूखा उन्हें खाने को मिलता है उसे वे अच्छी तरह हज्म कर लेते हैं, क्योंकि उन्हें शारीरिक परिश्रम बहुत करना होता है। यही गाँव और शहर में एक बड़ा भारी अन्तर है। शहर में सब प्रबन्ध होने पर भी काफी स्वाभाविक रोशनी और हवा नहीं मिलती। कलकत्ता और कानपुर ऐसे बड़े शहरों में लोग बिजली की रोशनी और पंखे के बलपर छोटे-छोटे मकानों में रहकर किसी प्रकार जिन्दा रहते हैं। उनका हाज़मा हमेशा खराब रहता है और स्थायी रूप से किसी न किसी बीमारी का शिकार बने रहते हैं। मेरे विचार से शहरों में बच्चों और नवयुवकों और नवयुवतियों की मौतें गांवों की अपेक्षा कहीं ज्यादा होती हैं।

इसका यह अर्थ नहीं कि गांव वालों का स्वास्थ्य बहुत अच्छा है, पर इसका यह अर्थ है कि शहर वालों की अपेक्षा गांव वालों का स्वास्थ्य जरूर अच्छा है।

कहने का तात्पर्य्य यह है कि यदि गांवों में सफ़ाई की ओर कुछ अधिक ध्यान दिया जाय और कुछ गंदी आदतें उनकी ठीक हो जावें तो उनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा हो सकता है। प्रश्न यह है कि शहरों में सफाई का इतना प्रबन्ध है और इलाज की इतनी सुविधाएँ हैं फिर भी मौतें बच्चों और नवयुवकों की शहरों में कहीं ज़्यादा होती हैं

और एक औसत शहरी गाँव वाले से कहीं दुर्बल और कमजोर है।

इसका एकमात्र कारण यही है कि शहर वाले का जीवन अप्राकृतिक या कृत्रिम है और गांव वाले का अधिक स्वाभाविक दूसरे यह कि शहर वाले शारीरिक परिश्रम बहुत कम या नहीं के बराबर करते हैं, और इसीलिये अच्छे २ कीमती पौष्टिक पदार्थ उन्हें हज़म नहीं होते और वे बीमार बने रहते हैं। पर गांव वाले केवल चना चबेना खाकर और अथक परिश्रम करके मजबूत बने रहते हैं और साधारण बीमारियों की वे चिन्ता भी नहीं करते। मैं तो यह देखता हूं कि शहर में तमाम मोटे २ कपड़े पहने पर भी जुकाम निमोनिया आदि शहरों के बच्चों को और जवानों को बहुत होता है और मौतें भी काफ़ी होती हैं। पर गांव में एक साधारण सूती कपड़ा कड़े जाड़े में पहने रहने पर भी यह बीमारियाँ कम होती हैं और मौतें भी कम होती हैं।

खैर इस वाद विवाद को छोड़ कर हमें यह देखना है कि गांवों के रहने वालों के स्वास्थ्य पर किन २ बातों का प्रभाव पड़ता है और उसे कैसे हटाया जा सकता है।

सफ़ाई, हवा, रोशनी और पानी

यह तो हम ऊपर बता चुके हैं कि गांवों में कूड़ा करकट गोबर और मलमूत्र के इधर उधर जमा रहने के कारण गांवों की वायु अशुद्ध रहती है। पर गांव के बागों व खेतो में जाने से शुद्ध वायु बहुतायत से मिल सकती है।

साथ ही पीने का पानी कुओं और तालाबों का गन्दा रहता है यदि यह सब गंदगी दूर कर दी जाय तो जल और वायु दोनों के शुद्ध होने से बीमारियां कम होगी। खाद रखने के सम्बन्ध में यह बताया गया था कि यदि घरों से कुछ दूर पर गड्ढे खोद कर उनमें सारा कूड़ा करकट, गोबर आदि जमा किया जाय और उसे बन्द रक्खा जाय तो खाद भी अच्छी बनेगी और गंदगी भी गांव से दूर हो जायगी।

रोशनी के बारे में केवल यह कहना है कि घरों के भीतर कमरों में प्रकाश बहुत ही कम होता है। यदि वहां रोशनदान और खिड़कियां बना दी जावें तो हवा और रोशनी दोनों घरों के भीतर अधिक आ सकेंगे। और स्वास्थ्य वर्धक होंगे।

शारीरिक स्वच्छता और अंगों की सफ़ाई

गांवों में बहुत सी बीमारियां केवल इसीलिये ज़्यादा होती हैं कि गांव वाले अपनी निजी सफाई की ओर ध्यान नहीं देते। फोड़े फुँसी, खाज, दाद जिल्दी बीमारियों का एक मात्र कारण गंदे कुओं और तालाबों के पानी में स्नान करना है। यदि शुद्ध जल से स्नान किया ज़ाय तो यह बीमारियां कम हो सकती हैं।

आंखों का रोग भी देहातों में बहुत होता है। उसका कारण यह है कि बच्चों की आंखों की सफ़ाई ठीक नहीं होती, बच्चे कूड़े करकट के ढेरों के पास खेला करते हैं और धूल मिट्टी बराबर पड़ती रहती है। मक्खियां भी बराबर उनके नाक, मुँह और आंखों से चिपटी रहती हैं। यदि ज़रा भी बच्चों की सफ़ाई का ध्यान रक्खा जाय और उन्हे गंदी जगहों में न खेलने दिया जाय तो आंखें इतनी खराब न हों, एक बात और है। बन्द धुएँ वाली कोठरियों में खाना बनांने से स्त्रियों की भी आँखें बहुत ख़राब हो जाती हैं और माताओं के वहां रहने से बच्चे भी धुएँ में खेलते रहते हैं और इस तरह उनकी भी आंखें बचपन से ही खराब होने लगती हैं। इसलिये धुआरों की बड़ी ज़रूरत है या ख़ाना बनाने का स्थान ही अलग हो और खुला हुआ हो जिससे धुआं निकलता रहें।

गरीबी के कारण गांव वालों के कपड़े भी बहुत गंदे रहते हैं उनसे भी बहुत सी बीमारियां फैलती हैं। नित्य प्रति कपड़े साबुन से या कम से कम पानी से धोए जाने चाहिये।

शारीरिक सफाई के लिए बहुत व्यय करने की ज़रूरत नहीं है केवल सावधानी, कुछ साधारण ज्ञान और कुछ अच्छी आदतों के बनाने की आवश्यकता है।

साधारण शिक्षा और सामाजिक शिक्षा द्वारा इस आवश्यक ज्ञान का बहुत प्रचार किया जा सकता है।

समस्त शरीर को नित्यप्रति साफ करने की आदत गांव वालों को बचपन से डलवानी चाहिये, जैसे प्रातःकाल शौच के लिये घर से दूर जाना, दातून करना, हाथ मुँह और आंखों का शुद्ध जल से धोना, और सारे शरीर को दिन में एक बार शुद्ध जल के स्नान से खूब साफ करना हर जगह थूकना और पेशाब करना भी बहुत गंदी आदत है इसे दूर करना, इत्यादि।

अतएव सफ़ाई के सिद्धान्तों और नियमों का गांव वालों में काफी प्रचार करना चाहिये। गांव के स्कूलों से ही यह सफाई की शिक्षा शुरू होनी चाहिये। शिक्षकों को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिये।

भोजन की कमी और खराबी

स्वास्थ्य का सम्बन्ध भोजन से भी बहुत घना है। जिस भोजन में नीचे लिखे गुण होंगे वह स्वास्थ्य को बढ़ाने वाला होगा :—

(१) उससे खाने वाले का पेट भर जाय और वह सन्तुष्ट हो जाय।

(२) उसे पौष्टिक या शक्तिदायक होना चाहिये।

(३) भोजन की सामग्री शुद्ध और ताजी हो और शुद्धता से पकाई जावे।

दुर्भाग्य से यह तीनों बातें हमारे गाँव वालों के भोजन में नहीं हैं या हैं तो बहुत ही कम और इसीलिए अधिकतर गाँव वाले कमजोर

और रोगी रहते हैं, जिससे उनकी कार्य कुशलता भी कम हो जाती है।

कम से कम ७० प्रति सैकड़ा लोगों को देहातों में भोजन काफ़ी नहीं मिलता। अर्थात् जितना परिश्रम उन्हें करना पड़ता है उसके अनुकूल भोजन की मात्रा बहुत कम रहती है। एक साधारण गाँव का मज़दूर या खेतिहर आदमी आधा सेर से तीन पाव तक अन्न एक वक्त में खाकर पचा सकता है। पर इतना कितने लोगों को मिलता है। दाल और सब्ज़ी अथवा दूध तो बहुत ही कम लोगों के भाग्य में होता है। मजदूर पेशा या ग़रीब किसान खाली जौ या चने की रोटी निमक मिर्च या किसी साग के साथ खाकर गुजर करते हैं। इससे बहुत सी बीमारियाँ जैसे रिकेट्स (rickets) या अनीमिया (Anæmia) आदि गाँवों में लोगों को हो जाती हैं। अतएव काफ़ी भोजन उन्हें मिलना चाहिये। और यह जभी हो सकता है जब गांव वालों की माली या आर्थिक दशा अच्छी हो और वह खेती और दस्तकारी की उन्नति पर निर्भर है। यह बड़े ही दुख की बात है कि अब भी गांवों में कम से कम २५ प्रतिशत् लोग ऐसे हैं जिन्हें दोनों समय भर पेट भोजन नसीब नहीं होता, और बहुत ऐसे हैं, जिन्हे कई दिनों में केवल एक बार ही भोजन और वह भी रूखा सूखा मिल जाता है।

जब भोजन ही नहीं मिलता तब पौष्टिक भोजन की बात ही करना व्यर्थ है। दूध हमारे भोजन में सबसे पौष्टिक पदार्थ है। हमारे देश में दूध का औसत प्रति व्यक्ति का केवल ७ आउंस है या लगभग १ पाव जब कि योरुप के देशों में यह औसत ३५ आउंस या १ सेर का है। गाँवों में जिनके यहां दूध होता भी है वह बिचारे पैसे के लालच में उसे बेच देते हैं खुद उसका प्रयोग नहीं कर सकते। छोटे २ बच्चों और उनकी माताओं को भी दूध नहीं मिलता, जिनको इसकी बहुत

जरूरत है। जब दूध ही नहीं मिलता तब घी का तो कहना ही क्या उसे भी जमा करके शहरों में बेच दिया जाता है। मद्रास के कुछ पारिवारिक बजटों से पता चलता है कि २ प्रति सैकड़ा से अधिक लोग दूध का प्रयोग गांवों में नहीं करते, यही दशा क़रीब २ उत्तर प्रदेश और बिहार व बङ्गाल में भी है। हां पञ्जाब में दूध का सेवन कुछ अधिक होता है, क्योंकि वहां का किसान इतना ग़रीब नहीं है।

साथ ही जो कुछ भोजन किया जाता है उसको न शुद्धता से पकाया जाता है, न शुद्धता से रक्खा जाता है और न शुद्धता से खाता है यद्यपि चौके का पाखंड बहुत है। जिस चौके में खाना पकता और खाया जाता है वह काफ़ी गंदा रहता है। चीज़ें खुली रक्खी रहती हैं उन पर मक्खियाँ भिन भिनाया करती हैं और बैठकर रोगों के कीटाणुओं को फैलाती हैं। जहां भोजन बनता है चौके के बन्धन के कारण उसी गंदे स्थान पर खाया भी जाता है। ऐसी बहुत सी गंदी आदतें लोगों की हैं जिन्हें शिक्षा के प्रसार से ही दूर किया जा सकता है।

रोगों से बचाव

ऊपर लिखे कारणों से हमारे गांवों में बहुत सी छोटी व बड़ी बीमारियों ने तो अपनी स्थायी निवास स्थान ही बना लिया है। कहा जाता है कि हमारे देश में इस शती के प्रथम ३० वर्षों में निम्नलिखित मातें भिन्न २ बीमारियों से हुई :—

हैज़े से—१ १ करोड़

इन्फलुन्ज़ा से—१·४ करोड़

प्लेग से—१·२५ करोड़

मलेरिया से—३ करोड़

यह संख्या तो मरने वालों की है। इसके अतिरिक्त एक बहुत बड़ी संख्या देश में उन बेचारों की है जो भिन्न २ घातक रोगों के

शिकार समय २ पर होते रहते हैं। उनकी अवस्था और भी शोचनीय है क्योंकि इन रोगों से पीड़ित रहने से उनका बल और स्वास्थ्य दोनों नष्ट होते रहते हैं और उनकी कार्य कुशलता भी धीरे २ कम होती जाती जिसका बहुत ही बुरा प्रभाव हमारी आर्थिक दशा पर पड़ता है। यह अनुमान किया गया है कि इस देश में प्रति वर्ष कम से कम १० करोड़ आदमी मलेरिया से पीड़ित रहते हैं। ऐसे ही यह भी अनुमान किया गया है कि प्रति १ लाख में से ४५० आदमी अंधे होते हैं, जब कि इग्लैंड में १ लाख में से केवल १५० अंधे होते हैं।

इसी प्रकार टयफायड़ (Typhoid) चेचक (Small pox) हैजा (Cholera) प्लेग, निमोनियां तपेदिक कालाज़ार आदि से भी बहुत संख्या में हमारे यहां लोग पीड़ित रहते हैं।

गांवों की मुख्य बीमारियां दो भागों में बांटी जा सकती हैं :—

(१) बड़े रोग—जैसे मलेरिया, प्लेग, हैजा, तपेदिक, कालाज़ार हुकवर्म।

(२) छोटे रोग—जैसे खुजली, आँख दुखना, दांतों का दर्द कान बहना इत्यादि।

इन बीमारियों का प्रभाव :—

(१) इनसे लाखों और करोड़ों किसानों की मृत्यु हो जाती है। जिससे देश की श्रम शक्ति और अनुभव की हानि होती है।

(२) जो बीमार होकर बच जाते हैं वे कमजोर हो जाते हैं। जिससे वे अपना कार्य कुशलतापूर्वक नहीं कर सकते।

(३) ये बीमारियां, विशेष कर मलेरिया और हैज़ा बरसात में चेचक और प्लेग आदि जाड़ों के अन्त और गर्मी के शुरू में फैलते हैं, क्योंकि खेती में अधिक श्रम की आवश्यकता होती है।

(४) ये किसानों को सुस्त और निराशावादी तथा भाग्य वादी बनाते हैं। अतएव इन रोगों से किसानों को बचाना परमावश्यक कार्य है।

इन बीमारियों से ग्रामीण भारत की इतनी अधिक आर्थिक व सामाजिक हानि होती है फिर भी गांवों में अभी तक चिकित्सा या इलाज का कोई उचित प्रबन्ध नहीं है। न वहां डाक्टर हैं न वैद्य या हकीम।

डिस्ट्रिक्टबोर्ड के अस्पताल कहीं २ कुछ काम कर रहे हैं पर वे बहुत कम हैं।

उन्नति विभाग और सहकारी विभाग (Development & Co-oprative departments) की ओर से अभी हाल में कुछ घूमने वाले डाक्टरों की नियुक्ति हुई है जो कम से कम सप्ताह में एक बार एक गांव वालों को कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता, क्योंकि रोगी को तो डाक्टर और दवा की आवश्यता लगभग रोज़ ही रहती है। सप्ताह में एक दिन दवा मिलजाने से बड़े रोगों की चिकित्सा सम्भव नहीं।

अतः अधिक से अधिक १० गांवों के बीच एक अच्छा डाक्टर और अस्पताल होना जनता के स्वास्थ्य की रक्षा के लिये बहुत ही ज़रूरी है। अभी कुछ दिन से सरकार ने गांव में बसने वाले डाक्टरों को प्रतिमास कुछ आर्थिक सहायता देने की घोषणा की है। पर जब तक यह सहायता अभी काफी न दी जायगी तब तक बहुत ही कम डाक्टर गांवों में रहना पसन्द करेंगे। एक नवीन योजना भी डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की ओर से बनाई जा रही है जिसके अनुकूल कुछ गांवों के बीच में एक वैद्य या डाक्टर रहेगा और उसे वेतन भी दिया जायगा। पर यह योजना उसी समय सफल होगी जब प्रान्तीय सरकार भी कुछ

आर्थिक सहायता डि० बोर्ड को है क्योंकि डि० बो० के पास धन की कमी है।

बम्बई सरकार ने भी एक ग्राम-सहाय प्रणाली निकाली है। उसके अनुकूल ग्राम की पाठशाला का अध्यापक कुछ दिन अस्पतालों में साधारण चिकित्सा की शिक्षा पाते हैं और फिर गांवों में लौट कर गाँव वालों की साधारण बीमारियों में सहायता करते हैं यह प्रणाली लाभदायक है। और प्रांतों में भी इसे अपनाया जा सकता है।

सबसे बड़ी जरूरत चिकित्सा सम्बन्धी ज्ञान का प्रचार है। डाक्टरों, अध्यापकों और उच्च श्रेणी के विद्यार्थियों को गांवों में घूर २ कर यह बताना चाहिये कि हैज़ें, मलेरिया, प्लेग आदि के कारण क्या हैं और उनसे बचने के उपाय क्या हैं। उन्नति-विभाग द्वारा ऐसे ही उपयोगी सिनेमा फिल्मस भी दिखाए जाने चाहियें।

प्रश्न

(१) गांवों को स्वच्छ रखने से गांववालों के स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? उन्हें कैसे स्वच्छ बनाया जाय ?

(२) गांव वालों के स्वास्थ्य की क्या दशा है ? उसमें उन्नति कैसे हो सकती है ? इस उन्नति का आर्थिक जीवन पर क्या प्रभाव होगा ?

(३) गांवों में तालाब ज्यादा क्यों होते हैं ? वे गंदे क्यों रहते हैं ? उन्हें कैसे ठीक किया जाय और उनका प्रयोग कैसे किया जाय।

(४) गांवों के कुओं और पानी के बहाव के ऊपर एक नोट लिखो।

(५) शौचालय गांवों में क्यों नहीं हैं ? उनकी समस्या क्या है ? वह कैसे हल की जा सकती है ?

(६) गांवों में घरों की क्या दशा है ? उनकी उन्नति कैसे की जा सकती है ?

(७) 'भोजन की कमी और खराबी गांव वालों के स्वास्थ्य की खराबी का कारण है।' इस विचार से आप कहां तक सहमत हैं ?

(८) 'ग्रामीण रोग और उनकी रोक थाम' पर एक निबन्ध लिखो।

छब्बीसवाँ अध्याय

हमारी भोजन समस्या

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद और देश का बटवारा भारत और पाकिस्तान में हो जाने के पश्चात् एक नई और अत्यन्त गम्भीर समस्या हमारे देश में उठ खड़ी हुई है, और वह है भोजन की कमी की समस्या। यह इस समय इतनी गहन है कि हमारे महामन्त्री श्री नेहरू जी ने तो उसे देश की समस्या नम्बर १ कहा है, अर्थात् सब से पहली समस्या, जिसे हल करना राष्ट्र को जीवित और स्वतन्त्र रखने के लिये अत्यन्तावश्यक है।

साधारणतया यह एक आश्चर्य की सी बात जान पड़ती है कि जिस देश में पाँच लाख* से अधिक गांव हों, उपजाऊ भूमि हो और

*भारतवर्ष में कुल ७ लाख गांव है, पर बटवारे के बाद अब भारत में केवल ५½ लाख के लगभग गाँव हैं।

तीन चौथाई आदमी केवल खेती में ही लगे हों, और जो न केवल अपना पेट भरता हो वरन् अन्य देशों को भी गत महायुद्ध के पूर्व तक अन्न देता रहा हो उस देश की यह अधोगति हो जाय कि वह अपनी दो तिहाई आबादी का भी भली भांति पेट न भर सके और दूसरे देशों से अन्न की भिक्षा मांगे। गत दो वर्षों में भारतीय सरकार को लगभग ३०० करोड़ रुपिये का अन्न विदेशों की खुशामद कर के बाहर से मंगाना पड़ा नहीं तो हमारा जीवित रहना भी सम्भव न होता। इससे समस्या की गम्भीरता का आभास हमें मिलता है और यह बात निश्चय हो जाती है कि इस समय हम जितने भोजन के पदार्थ उत्पन्न कर रहे हैं यह हमारी आवश्यकता की पूर्ति से बहुत ही कम हैं। अतएव हमें तुरन्त ऐसी नीति का अवलम्बन करना चाहिये और ऐसा संगठन करना चाहिये जिससे हम यथेष्ट भोजन उत्पन्न कर सकें और राजनैतिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ आर्थिक स्वतन्त्रता को भी बनाये रख सकें और एक सम्पन्न और उच्चराष्ट्र बनकर अपना माथा संसार में ऊँचा रख सकें।

अब पहले हम यह देखेंगे कि आखिर हमारे देश में अन्न की इतनी कमी क्यों है, जो पहले कभी भी नहीं थी। इस कमी का स्पष्ट चिन्ह यही है कि भोजन की सामग्री बहुत महँगी हो गई है। कन्ट्रोल दर गेहूं की २½ सेर प्रति रुपिया है और चोर बाज़ार में १½ सेर फी रुपिया है।

भोजन की सामग्री की कमी और महँगी के कारण :—

इस कमी और महँगी के कारण निम्नलिखित बताए जाते हैं :—

(१) पिछले महायुद्ध में हमने अपना वर्षों का जमा किया हुआ अन्न (Reserve Stock) बाहरी देशों के हाथ अच्छे दामों पर

वेच दिया। युद्ध के कारण बहुत से देशों में अन्न उत्पन्न नहीं किया जा सका अर्थात् उसके उत्पादन और पूर्ति में बहुत कमी आ गई पर मांग वही रही। अतएव संसार का अन्न का बाज़ार बहुत महंगा हो गया और दाम बढ़ गए। अतएव कुछ हमारे किसानों ने पर बहुत कुछ हमारे अन्न के व्यापारियों ने इससे लाभ उठाया। इस प्रकार बहुत सा पूर्व संचित अन्न देश से बाहर चला गया।

(२) देश का बटवारा हो जाने से गेहूं उत्पन्न करने वाली बहुत कुछ अच्छी भूमि पाकिस्तान में चली गई, जहां से सांप्रदायिक और व्यापारी झगड़ों के कारण, यातायात साधनों की कमी के कारण, तथा कुछ अन्य कारणों से अन्न नहीं आ सका।

(३) ब्रह्मा में भी आन्तरिक युद्ध और अशान्ति के कारण तथा जापानी आक्रमण के कारण पैदावार में कमी हो गई और भारत में वहां से अन्न नहीं आसका। पूर्वी बंगाल का भी अन्न आना बन्द हो गया, क्योंकि वह भी पाकिस्तान में चला गया।

(४) हमारी जनसंख्या भी गत दश वर्ष में बहुत बढ़ गई है, जिसके कारण अन्न की मांग भी उसी अनुपात से बहुत कुछ बढ़ गई है। शरणार्थी भी बहुत आ गये है।

(५) इतनी कमी हो जाने पर भी हम उसी प्रकार से भोजन का दुरुपयोग और अपव्यय कर रहे हैं जैसा कि पहले करते थे। शहरों में कानूनो के द्वारा कुछ कमी इस अपव्यय में अवश्य हुई है पर गांवों में सब काम उसी ढंग से हो रहे हैं। अब भी व्याह शादियों में दो-दो और तीन-तीन सौ आदमी बारातों में जाते हैं और तीन चार दिनों तक अपने घरों से कहीं अधिक खाते और खराब करते हैं। लेखक को कुछ अवसर इस घोर अपव्यय को देखने के मिले हैं और उसने इस पाप की ओर जनता का ध्यान भी आकर्षित किया है।

(६) इस अध्याय से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि गांवों में अन्न की कमी नहीं है। अच्छे किसानों, ज़मींदारों और बनियां व्यापारियों के पास काफ़ी अन्न जमा है। कुछ विश्वस्त लोगों से इस सत्य की पुष्टि भी हुई। पर गांव के लोगों को-कम से कम एक तिहाई लोगों को, रुपिये की अधिकता के कारण, उसे बेचने की कोई आवश्यकता या जल्दी नहीं जब उन्हें बहुत ही ज्यादा जरूरत रुपिये की होती है तभी वे बेचते हैं। गांवों में गैर खेती वाले लोगों और मज़दूरों को और शहरों के निवासियों का उसकी आवश्यकता है और वे अधिक दाम देकर भी उसे मोल लेने को तैयार रहते है, क्योंकि अन्न सब से प्रथम और आवश्यक आवश्यकता है जिसके बिना जीवन सम्भव ही नहीं है।

(७) अतः बहुत से लोग देहातों में और शहरों में भी बहुत सा अन्न अपने जमीन के नीचे गोंदामों में भरे हुये हैं और चोर बाज़ार में अधिक से अधिक दामों पर बेचते हैं। खुले बाज़ार में न उसे बेचना चाहते हैं और न सरकार को ही देना चाहते हैं। इस सब का एक मात्र कारण दामों का कन्ट्रोल या नियंत्रण है। पूज्य गाँधी जी ने इसी कारण नियन्त्रण या कन्ट्रोल का विरोध किया थां और जनता से अपील की थी कि वह उदारता और सज्जनता से काम ले और अधिक लाभ के पीछे मनुष्यत्व का सर्वनाश न करे, समाजिक चेतना को अपने में जागृत करे और देश तथा राष्ट्र के कल्याण की बात को धैर्य रख कर सोचे। पर दुर्भाग्य की बात कि हमारे आधुनिक देवता और राष्ट्र निर्माता तथा राष्ट्र पिता की प्रार्थना पर भी लोलुप और स्वार्थी देशवासियों ने तनिक भी ध्यान न दिया और एक बार कन्ट्रोल हटाने के बाद फिर दुबारा कन्ट्रोल सरकार को भोजन पर लगाना अनिवार्य हो गया।

यदि ऐसा न किया जाता तो इन दानवों की धन लोलुपता और

अमानुषिक लोभ नगरों के निवासियों औ. बेचारे ग़रीब मज़दूरों को भूखों मार डालते। बंगाल की अनावृष्टि इसका ज्वलन्त प्रमाण है जिसमें लाखों आदमी भूख की ज्वाला में भस्मी भूत हो गये।

(८) इस महँगी का एक सब से बड़ा और विशेष कारण है 'मुद्रा-प्रसार' (Inflation) गत महायुद्ध के अवसर पर भारत की बृटिश सरकार को योरूपीय युद्ध में तो भाग लेना ही पड़ा था एशिया में और भारत में जापानी बाढ़ को रोकने के लिये भी तैयारी करना पड़ी थी और भारत की पूर्वीय सीमा पर कुछ युद्ध भी करना पड़ा था। इस युद्ध के कार्य के लिये उन्हें रुपिये की, सोना चाँदी की बहुत आवश्यकता थी। अतः उन्होंने सैकड़ो करोड़ रुपिये के नोट छाप-छाप कर भारत में अबाध रूप से काग़ज़ी मुद्रा-प्रसार किया, जिसके कारण रुपिये का मूल्य स्वभावतः गिर गया और वस्तुओं का दाम इतना ज्यादा बढ़ गया।

आर्थिक सिद्धान्त के अनुसार जब कभी किसी देश में मुद्रा-प्रसार एक सीमा से अधिक हो जाता है तो उसका परिणाम यही मँहगाई होता है। हमारे देश में भी यही हुआ और वस्तुओं का मूल्य युद्ध के पूर्व से तिगुना और चौगुना तक हो गया।

भोजन की कमी और महंगी को दूर करने के उपाय

१—सबसे पहला उपाय इस बिगड़ी हुई आर्थिक अवस्था को ठीक करने का तो यही है कि सरकार मुद्रा-प्रसार को जिस प्रकार हो सके रोके। इसका एक बहुत ही आसान, उपयोगी और सुन्दर उपाय, जो सरकार ने अभी गत वर्ष निकाला है और जिसका गाँवों से घनिष्ट सम्बन्ध है वह हैं 'जमींदारी उन्मूलन कोष' (Zamindari Abolition Fund) की स्थापना।

यह कहा जाता है और बहुत कुछ ठीक भी है कि इस समय कम से कम ४० प्रति सैकड़ा किसानों के पास काफ़ी रुपिया, अन्न के दाम बढ़

जाने के कारण, जमा हो गया है। अतः वे बड़ी सुगमता से भूमिधारी अधिकार १० वर्ष का वर्तमान लगान देकर सरकार से प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार उनका बहुत सा रुपिया इस कोष में आजाने से मुद्रा-प्रसार में कमी होगी और उसका प्रभाव मूल्य पर पड़ेगा और वह नीचा हो जायगा। दूसरे किसान और व्यापारी को अन्न बेचने की भी अधिक आवश्यकता प्रतीत होगी।

इसका परिणाम यह होगा कि अन्न खुले बाज़ार में भी काफ़ी बिकने आवेगा और सरकार के हाथ भी सस्ती दर से बेचा जावेगा।

जमींदारी उन्मूलन कोष में लगभग २१ करोड़ रुपिया उत्तर प्रदेश में आ गया है। और आशा है कि धीरे-धीरे और जमींदारी के वास्तव में अन्त हो जाने पर यह कोष बढ़ता ही जायगा।

हां एक प्रश्न यहां पर और भी विचारणीय है। जैसा कि कुछ लोगों का मत है यदि यह कोष ज़मींदारों को नक़द मुआविज़े में दिया गया तो फिर वही बात हो जावेगी और मुद्रा प्रसार में कमी न होकर ज्यादती का डर है। सच पूछिये तो किसान के पास रुपिया रहने से वह ज़मीन में गड़ा रहेगा, ज़ेवर में बदल जायगा या कुछ कपड़ा इत्यादि खरीदने में खर्च होगा। अतः मुद्रा प्रसार में कम लगेगा। पर ज़मींदार के पास जाकर वह भोग विलास की सामग्री में या सुख बढ़ाने वाली वस्तुओं पर ही अधिक व्यय होगा, क्योंकि जमींदार के रहन सहन का दर्जा किसान के रहन सहन के दर्जे से कहीं ऊँचा है। पर एक सम्भावना यह है कि जमींदारी उन्मूलन के पश्चात् जमींदार रुपिये का शायद अनुत्पादक प्रयोग कम करेगा और उसे किसी न किसी रोज़गार में लगाने का प्रयत्न करेगा और इस प्रकार प्रान्त की सम्पत्ति उत्पादन शक्ति बढ़ेगी।

इसी प्रकार और भी कई एक योजनाएं मुद्रा-प्रसार को रोकने की बनाई जा रही हैं जैसे 'अनिवार्य बचत' (Compulsory Saving)

की योजना। इसके द्वारा भी श्रमिकों और कर्मचारियों के वेतनमें से बहुत सा धन बचेगा और वह देश की उत्पादक शक्ति बढ़ाएगा और उपभोग में खर्च होगा। इसी प्रकार अधिक आय वालों पर टैक्स और सुपर टैक्स लगाने से भी बहुत सा धन उपभोग से बचाकर उत्पादन में लगाया जा सकेगा।

२—दूसरा उपाय अधिक सम्पत्ति उत्पन्न करना है। विद्वानों का कहना है कि इस समय हमारी राष्ट्रीय आर्थिक नीति 'उत्पादन और अधिक उत्पादन' ही होगी और यही होना भी चाहिये। आर्थिक दृष्टि से इसी नीति के द्वारा हम उठते हुए मूल्य को नीचे गिरा सकते हैं और आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति यथेष्ट रूप से कर सकते हैं।

उत्पादन के क्षेत्र में भी परिस्थितियों के अनुकूलएक श्रमविभाजन (Division of labour) का शहरों और ग्रामों में हो गया है। गाँवों में खाद्य पदार्थों का उत्पादन सुगम है और नगरों में अखाद्य पदार्थों का। अतः नगरों में कपड़े लोहे, शक्कर इत्यादि के कारखानों में अधिक उत्पादन पर जोर दिया जा रहा है और ग्रामों में विशेष कर अन्न तथा कपास, गन्ना, तिलहन जूट आदि के उत्पादन पर ज़ोर दिया जा रहा है।

अतएव हमारे गांवों के सामने इस समय यह एक प्रमुख राष्ट्रीय समस्या हैं कि वे अन्न अधिक से अधिक उत्पन्न करने का प्रयत्न करें। इसी उद्देश्य से सरकार ने 'अधिक भोजन उत्पन्न करो' (Grow More Food) आन्दोलन चलाया है। पर यह आन्दोलन नगरों में ही एक आन्दोलन के रूप में दिखाई पड़ता है, क्योंकि अधिकतर सरकारी अफसर लोग नगरों में ही रहते और कार्य करते हैं और प्रचार का कार्य भी अधिकतर नगरों में ही होता है। गांवों में इसका प्रचार बहुत कम है। एक साधारण किसान को इसका कुछ भी ज्ञान नहीं न वह इसकी कुछ महत्ता ही समझता है, दूसरी ओर

वह तो यह समझता है कि उसके पास तो काफी नाज और रुपिय जमा है अतएव उसे अधिक परिश्रम और चिन्ता की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। हां जिनके पास खेती नहीं है या खेती बहुत कम है वे कुछ इस बात की स्वयम चिन्ता में है कि वे कैसे अधिक अन्न पैदा करें और साधनों के न होने से हताश हो गये हैं। और जब देखते हैं कि खेती से गुज़र नहीं हो पा रहा है तब नगरों की ओर कारखानों में नौकरी के लिये भागते हैं।

अतः इस आन्दोलन को सफल बनाने के लिये निम्नलिखित उपाय गांवों में करने होंगे, नहीं तो केवल नगरों में व्याख्यानों और कांफ्रेंसों के द्वारा केवल धूम मचाने से और दिखावट से कोई विशेष सफलता न होगी।

ग्रामों में इस आन्दोलन की सफलता के लिये कुछ दिशाओं की ओर संकेत किया जाता है, जिन पर चलने से कदाचित भोजन की समस्या कुछ हल हो सकेगी :—

(१) ग्रामीण उन्नति केन्द्र स्थापित करके रेडियो, पब्लीसिटी वान (प्रचारवाली मोटरें) तथा मौखिक व्याख्यानों और चल चित्रों द्वारा अधिक उत्पादन की आवश्यकता और वैज्ञानिक ढंगो द्वारा खेती करने का प्रचार खूब ज़ोरों से होना चाहिये। इस कार्य में शिक्षा, कृषि, उन्नति और सहकारिता सभी विभागों को हाथ बटाना चाहिये।

(२) यह केन्द्र अधिक से अधिक १०, १५ गाँवों के बीच में एक के हिसाब से शीघ्र से शीघ्र खोले जाने चाहिये, इनके कृषि विभाग का मुख्य अच्छा बीज, खाद आधुनिक खेती के यन्त्र तथा वैज्ञानिक ज्ञान उचित सम्मति और आवश्यक सूचना किसानों को देना होगा।

(३) भूमिधारी अधिकार किसान लें या न लें पर ज़मींदारी उन्मूलन शीघ्र होना चाहिये। इसमें देर करना अब बहुत ही हानिकारक है।

(४) भूमि के क्षेत्र और गुणों के अनुसार तथा किसानों की पारिवारिक आवश्यकता के अनुसार भूमि का पुनः बटवारा होना चाहिये और सिंचाई के लिये ट्यूब वेल्ल शीघ्र बनवाये जाने चाहिये। यह काम सरकार को ही करना है।

(५) प्रत्येक किसान के खेतों की चकबन्दी तुरन्त ही की जानी चाहिये। इससे कम से कम २० प्रतिशत उपज बढ़ने की सम्भावना है। सारी क़ानूनी झंझटों को तोड़ कर सहकारी चकबन्दी समितियां द्वारा यह काम जोरों से होना चाहिये।

(६) इन चकों पर स्थायी सुधार जैसे मकान, कुआं, नालियां, और चहार दीवारी आदि बनाने के लिये पंचायत और सरकार की ओर से सहायता दी जानी चाहिये।

एक गांव के कुल लग़ान का तिहाई भाग पंचायत को और पञ्चायत के भाग़ का दो तिहाई भाग ग्राम की सहकारी ऋण समिति (Co-op. credit society) को देना चाहिये जो किसान-सदस्यों को उक्त उन्नति के कार्यों के लिये ऋण दे सकें।

(७) सहकारी खेती समितियां (Co-op. Farming societies) उत्पादन बढ़ाने के लिये बनाई जानी चाहिये जो केन्द्रीय सहकारी ग़िरदावर के परामर्श से कार्य करें। शरणार्थियों को इनका सदस्य मुख्यतः बनाया जाय।

(झ) इन ग्रामीण केन्द्रों पर सहकारी पशुबीमा समितियां और पशु अस्पताल भी खुलने चाहिये।

(८) सरकारी लगान नियत तो रुपियों में किया जाय, पर कम से कम आधा अन्न में वसूल किया जाय। अन्न के मूल्य की दर खेती की औसत लागत व बाज़ार भाव देखकर नियत की जाय, जिसमें किसानों को उस भाव से लगान अन्न में अदा करने में कोई विशेष कठिनाई न हो। इस अन्न को सहकारी या सरकारी व्यापारी विभाग

द्वारा चाहे शहरों और गांवों में बेचा जाय और चाहे अन्य प्रान्तों और देशों में बेचा जाय।

(९) किसानों में उत्पादन शक्ति और उत्साह बढ़ाने के लिये केन्द्रीय या ज़िला प्रदर्शनियां (Exhibitions) संगठित की जांय, जिन में पुरस्कारों के साथ-साथ गाँधी, जवाहर, बोस आदि नामी उपाधियां उत्पादन कार्य की कुशलता के लिये दी जावें, कृषि-प्रतियोगितायें (Farming compatitions) भी अधिक संगठित की जांय।

(१०) गांवों के सरकारी तथा ग़ैर सरकारी स्कूलों में, जहाँ खेती के लिये यथेष्ट भूमि हो या जहाँ सुगमता से भूमि का प्रबन्ध हो सके सातवीं और आठवीं श्रेणी के सब विद्यार्थियों के लिए कृषि एक अनिवार्य विषय कर दिया जाना चाहिये, जिसका बहुत कुछ व्यवहारिक कार्य और श्रम विद्यार्थियों को ही करना चाहिये। इस विषय के लिये एक शिक्षक भी नियुक्त होना चाहिये। स्कूल के इस कृषि विभाग के संचालन का भार कृषि विभाग पर ही रहना चाहिये, और उसका संगठन वैज्ञानिक ढंग पर होना चाहिये।

३—तीसरा उपाय जो इस भोजन की समस्या को हल करने के लिए आवश्यक है वह है भोजन की सामग्री का सदुपयोग, कमोपयोग और बचत करना।

सबसे पहली बात तो यह है कि प्रत्येक व्यक्ति और परिवार को यह अपना धार्मिक सिद्धान्त बना लेना चाहिये कि वह अन्न देवता का अनादर किसी भी प्रकार न करेगा और भर सक न होने देगा। घर में जितना कम से कम अन्न आवश्यक है उतना ही लेगा उससे अधिक नहीं। बहुत से लोग अपने परिवार के सदस्यों की संख्या अधिक लिख कर आवश्यकता से अधिक अन्न ले रहे हैं और या तो उसे जमा करते जा रहे हैं या उसे चोर बाजार में बेच रहे हैं। कुछ

हकारी स्टोर्स भी यही कर रहे हैं जिसका अर्थ यह है कि सरकारी र्मचारी लोग अपने कार्य में शिथिल हैं और अपने राष्ट्र के प्रति पने मुख्य कर्त्तव्य का पालन नहीं कर रहे हैं।

गृहणियों को यह देखना चाहिये कि कम से कम कितना भोजन का कर परिवार को सन्तुष्ट कर सकती हैं, जिसमें पकाया हुआ भोजन राब न होने पावे। साथ ही भोजन न करने वालों को उचित मय में ही गृहणों को इस बात को सूचना दे देनी चाहिये।

हमारे समाज और परिवारों में साल भर में बहुत से व्रत या उप-स धार्थिक कर्त्तव्य समझ कर किये जाते हैं। अतः उपवास की बात ोई नई नहीं है। अब इस राष्ट्रीय संकट के समय महान नेताओं की पील के अनुकूल क्या धार्मिक और राष्ट्रीय उपवासों के सामजस्य ारा एक साप्ताहिक उपवास की योजना बनाना कोई बड़ी कठिन बात ? क्या मङ्गल, रविवार या एकादशी व्रत का रहना हमारे लिये ारीरिक अध्यात्मिक और राष्ट्रीय दृष्टियों से लाभदायक न होगा ?

मेरे तुच्छ विचार में तो ऐसे व्रत और उपवास ऐसे ही संकट समय में सबसे अधिक उपयोगिता रखते हैं। अतएव समस्त राष्ट्र ो एक मास में दो एकादशी और दो मङ्गल या रविवार को व्रत खना चाहिये। और एक साल की तपस्या से ही इसका फल देश कीं कट हो जायगा।

हम सदैव से बड़े दानी प्रसिद्ध हैं। भिक्षुकों को दान देने को मारे यहाँ पुरानी प्रथा सी चली आ रही है, जिसका परिणाम यह हुआ कि हमारे देश में भिक्षुकों की संख्या बढ़ती ही जा रही है।

दान सबसे बड़ा पुण्य है यदि पात्र उचित हो तो नहीं तो वह पाप हो जाता है। यही पाप इस समय हम भोग रहें हैं। बिना समझे बूझे प्रत्येक हट्टे कट्टे या हृष्ट पुष्ट युवक वा युवती को दान देना मेरे

विचार में धार्मिक और राष्ट्रीय दोनों दृष्टियों से महापाप ही है, क्योंकि ऐसा करके हम देश का बहुत सा उपयोगी और उत्पादक श्रम व्यर्थ नष्ट कर देते हैं, जो उपभोग तो सम्पत्ति का करते हैं पर उसके उत्पादन में कोई भाग नहीं लेते। अतएव ऐसे कुपात्रों को हमें कदापि दान नहीं देना चाहिये। यदि उनके साथ हमारी सहानुभूति है और होना चाहिये तो उन से कुछ काम लेकर ही कुछ देना चाहिये। अर्थात् दान न देकर उन्हें कार्य का पुरस्कार या वेतन ही देना चाहिये। भारत में लाखों ऐसे युवक और युवतियाँ हैं जो भीख मांगना अपना पेशा और अधिकार समझते हैं। वास्तव में क़ानून द्वारा इस रोग को तुरन्त दूर करना चाहिये। जो बूढ़े और किसी प्रकार काम करने से लाचार हैं उनके लिये समाज और राष्ट्र की ओर ऐसी संस्थाएँ होनी चाहिये जहां वह रक्खे जा सकें और उन्हे कुछ काम भी सिखाया जा सके।

आगन्तुकों और अतिथियों का भी एक प्रश्न सामने आता है। और यह कहा जाता है कि यदि अधिक अन्न राशन में न लिया जाय तो उनको कहाँ से खिलाया जाय। इसका सब से सरल उपाय यह है कि जो व्यक्ति कहीं भी बाहर जाय वह अपने भाग का उतना राशन अपने साथ ले जाय। दूसरे पर उस भार को न डाले। ऐसा न करने से उस व्यक्ति का राशन दोनों स्थानों में लिया जाता है। इस प्रकार अन्न की अधिक आवश्यकता बढ़ जाती है।

दावतें और प्रीति भोज इत्यादि साधारणतया तो बन्द ही कर देना चाहिये और यदि परमावश्यक समझा जाय तो २०, २५ व्यक्तियों से अधिक को निमन्त्रित न किया जाय। बारातों में भी २०, २५ व्यक्ति से किसी प्रकार अधिक बाराती नहीं जाने चाहिये, गाँवों में सौ २ दो दो सौ बाराती ले जाने की प्रथा इस समय हानिकारक है। इस पर भी

ड़ा नियन्त्रण होना चाहिये। गाँवों में ५० व्यक्तियों से अधिक की ारात क़ानून से नाजायज़ क़रार दी जानी चाहिये।

भोजन समस्या के सम्बन्ध में हमें इतना और कहना है कि यदि मने इसे हल न किया तो हमारे देश का बहुत सा धन विदेश में चला जायगा और हमारी सारी अन्य आर्थिक योजनाएँ असफल रह जायँगी। यही सोच कर केन्द्रीय सरकार ने यह प्रतिज्ञा की है कि १९५१ के बाद वह बाहर से बिल्कुल अन्न न मंगावेगी। हमें इस ओर यान देना चाहिये और अधिक अन्न पैदा करके और बुद्धिमानी से देश की सन्तुष्टि के लिये उसको सदुपयोग करना चाहिये।

फ़सल-प्रतियोगिता (Crop Competitions)

अभी गत वर्ष में उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बंगाल में 'फ़सल-प्रतियोगिता' की योजना बहुत सफल पैदावार बढ़ाने में साबित हुई है। इसका पता नीचे दिये हुए आंकड़ों से चलता है।

प्रान्त	फ़सलें	प्रतियोगिता के पूर्व की अधिक से अधिक उपज	प्रतियोगिता के बाद की अधिक से अधिक उपज
उत्तर प्रदेश	गेहूं	२५ मन प्रति एकड़	४८ मन प्रति एकड़
"	गन्ना	७०० मन "	२९४० मन "
"	आलू	२५० मन "	६८७ मन "
प० बंगाल	धान	१८ मन "	७४ मन "

केन्द्रीय सरकार ने इस प्रतियोगिता योजना की भूरि २ प्रशंसा की है और प्रत्येक प्रान्त में और प्रत्येक प्रदेश में इन 'फ़सल-प्रतियोगिताओं' के संगठित करने का आदेश किया है।

इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार ने २१ करोड़ रुपिया 'अधिक अन्नोत्पन्न करो' आन्दोलन को बढ़ाने के लिये खर्च करना मंजूर किया है, जिसमें से काफ़ी रुपिया हमारे प्रान्त को भी मिलेगा।
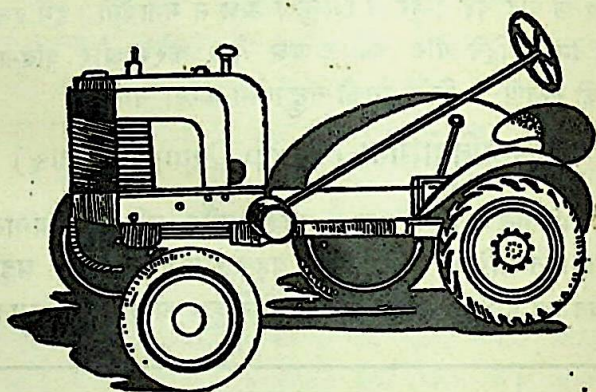
चित्र २५—ट्रैक्टर

इस रुपिये को ट्रैक्टर तथा अन्य खेती की मशीनों को ख़रीदने में, ऊसर व बंजर ज़मीन को खेती के योग्य बनाने में, ट्यूब वेल्स बनाने में तथा खेती के अन्य ज़रूरी कामों पर खर्च किया जा रहा है।

हमारे प्रान्त में सैकड़ों ट्रैक्टर ख़रीदने का विचार है, लगभग १५० ट्रैक्टर हमारे प्रान्त में काम में लाए जा रहे हैं। हज़ारों आदमी जंगलों को साफ़ करके खेती के योग्य बनाने में हमारे प्रान्त के कई भागों में लगे हुए है।

इस प्रकार बड़ी तेज़ी से यह काम चलाया जा रहा है। पर इसकी सफलता गांव वालों और किसानों के सच्चे सहयोग पर ही निर्भर है।

प्रश्न

(१) भोजन की समस्या इस समय हमारे देश में क्यों इतनी जटिल है ? इस समस्या को कैसे हल किया जा सकता है ? उपाय बताइये।

(२) 'अधिक भोजन उत्पन्न करो' आन्दोलन क्या है ? इसका क्या उद्देश्य है ? इसको कहां तक सफलता मिली है ?

(३) गांवों में उपर्युक्त आन्दोलन को सफल बनाने के लिये क्या उपाय आप बता सकते हैं ?

सत्ताईसवां अध्याय

ग्राम सुधार योजना

(Rural Reconstruction)

लगभग गत २५ वर्ष में ग्राम सुधार के विषय पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है और बहुत कुछ विचार भी विद्वानों द्वारा किया जा चुका है। प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकारें भी उस पर जोर देती रही हैं, यहाँ तक कि अब प्रान्तीय सरकार का एक विभाग ही इस कार्य्य को कर रहा है, जिसे सुधार विभाग (Development Department) कहा जाता है। विभिन्न विभागों की रिपोर्ट पढ़ने से तो सुधार अथवा उन्नति का आभास मिलता है, पर गांवों में घूमने और गांव वालों की वास्तविक अवस्था देखने से कुछ बड़ी निराशा सी, एक असन्तोष सा होता है, क्योंकि आर्थिक, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक, किसी भी क्षेत्र में कोई विशेष लक्षण उन्नति का नहीं दिखाई देता। कपड़े लत्ते, भोजन तथा घर अधिकतर गांववालों के

वैसे ही हैं जैसे २५ वर्ष पूर्व दिखाई देते थे। न उनकी मानसिक अथवा नैतिक चेतना में ही कोई अन्तर जान पड़ता है और न कोई विशेष शारीरिक उन्नति या स्वास्थ्य और स्वच्छता आदि में कोई आशाजनक या सन्तोषप्रद चिन्ह दिखाई देते हैं। तो फिर आखिर यह वर्षों का परिश्रम और करोड़ों रुपियों का व्यय क्या सब व्यर्थ हीं हुआ है।

खैर, इस प्रश्न का उत्तर हम यह पाकर कुछ सन्तुष्ट हो सकते हैं कि एक विदेशी सरकार से इससे अधिक की आशा नहीं की जा सकती थी। ठीक है पर अब तो हम स्वतन्त्र हैं और हमारी अपनी ही राष्ट्रीय सरकार है। अब वास्तविक उन्नति और ठोस कार्य्य की तो पूरी आशा की जा सकती है।

मेरा विचार है कि देश की सारी स्थायी समस्याओं में 'ग्राम सुधार' सबसे महान, आवश्यक और कठिन समस्या है और उसे हल करना भी जल्दी से जल्दी ही ज़रूरी है, क्योंकि एक देश की उन्नति का अर्थ है उसके निवासियों की जनसंख्या की सब प्रकार की उन्नति और हमारी ९० प्रतिशत् जनसंख्या ग्रामों में ही रहती है। अतः ग्रामों और ग्रामीणों की उन्नति ही हमारी यथार्थ उन्नति है।

दूसरे यह कि हमारे दैनिक जीवन के लिये बहुत सी आवश्यक वस्तुएं गांवों में ही उत्पन्न होती हैं और की जा सकती हैं। विशेष कर अन्न, घी, दूध, तेल, फल, तरकारी, लकड़ी इत्यादि जिनके बिना सारा भोग विलास और वैभव बेकार है।

शहरों की आबादी कुल १० प्रति सैकड़ा है, और उनके जीवन को सुखी और सम्पन्न बनाने में प्रत्येक सरकार कुल आय का ९०) प्रति सैकड़ा से कम नहीं खर्च करती। क्या यह न्याय है? क्या यह देश की वास्तविक सेवा है? एक उदाहरण लीजिये। शिक्षा विभाग शहरों के स्कूलों और कालिजों पर (विश्वविद्यालयों को छोड़कर)

करोड़ों रुपिया ख़र्च कर रहा है। जबकि शहरों में ग़ैर सरकारी स्कूल और कालज भी काफ़ी हैं। और वहां इतने सम्पन्न लोग हैं जो आवश्यकतानुसार और भी शिक्षा संस्थाएँ खोलने के लिये प्रोत्साहित किये जा सकते हैं। इसमें देश का हित नहीं है। शहरों कालिजों और स्कूलां पर यहां तो लाखों रुपिया इमारतों, अध्यापकों, फ़रनीचर और पुस्तकालयों पर ख़र्च होता है। पर गांवों में स्कूलों की इमारतों के लिये यह शर्त लगाई गई है कि दो तिहाई प्रान्तीय सरकार ख़र्च देगी यदि एक तिहाई डि० बोर्ड देगा। अब अगर डि० बोर्ड के पास रुपिया नहीं है तो गांवों में शिक्षा के लिये कहीं स्थान नहीं है। गांवों के स्कूलों की दशा किसी से छिपी नहीं है। जहां ज़रा सी बरसात से कोई हिस्सा बिना टपके नहीं रहता। फिर वहां के अध्यापक भी बराबर आर्थिक चिन्ताओं से घिरे रहते हैं, न कोई फ़रनीचर है न पुस्तकालय। पढ़ाई वहां नाममात्र ही है। जो कुछ व्यय किया जा रहा है वह भी अपव्यय है। क्या राष्ट्रीय दृष्टिकोण से यह स्थिति शोचनीय नहीं है? यही हाल और भी विभागों का है। वास्तव में ख़राबी यह है कि हमारा दृष्टिकोण ही शहरी हो गया है। हमारा गांवों से कोई घनिष्ट सम्बन्ध नहीं है। हमारे अफ़सर लोग दौरे करते हैं सही पर उनका उद्देश्य भत्ता बनाना ज़्यादा रहता है और क्रियात्मक कार्य्य करना बहुत कम।

मेरा अपना निजी ख्याल तो यह है कि जबतक शासन का विकेन्द्रीकरण नहीं होता अर्थात् जब तक हमारे अफ़सर लोग और उनके दफ्तर और अमले गांवों में निवास नहीं करते और शहरों के भोग विलासमय वातावरण को छोड़कर एक नया शहर और गांव के बीच का वातावरण नहीं बनाते उस समय तक गांवों की उन्नति असम्भव है और सच्चा प्रजातन्त्र राज्य भी स्थापित नहीं हो सकता।

देखिये अब पंचायत राज ऐक्ट के अनुसार गांवों में पंचायतें

खोली जा रही हैं, पर उनका सफल होना उस समय तक असम्भव है जबतक वहां शिक्षा और सभ्यता का प्रचार न हो। जिस ढंग और गति से हमारी शिक्षा चल रही है उससे तो शायद ५० वर्ष में भी उन्नति के लक्षण दिखाई न देंगे।

सारे सुधार की जड़ शिक्षा है यह तो सब ही लोग मानते हैं, और कोई भी सुधार का काम बिना भोजनों के नहीं चल सकता, और भोजन की कमी अथवा ज़्यादती तथा गन्दगी बीमारियां और कमज़ोरियाँ लाती हैं। अतः इन तीनों प्रश्नों को साथ २ हल करने की एक उपयोगी ग्रामीण-सुधार योजना ऐसी होनी चाहिये जो शासन-संगठन और केन्द्र को वस्तुतः ग्रामीण बना सके और कुल आय का यदि अधिक नहीं तो कम से कम ५० प्र० श० तो अवश्य ग्रामों और ग्रामीणों के उद्धार के लिये ख़र्च कर सके। दूसरे शब्दों में सभ्यता और शासन का विकेन्द्रीयकरण आवश्यक है।

इस ग्रामीण-सुधार योजना के मुख्य लक्षण निम्नलिखित होने चाहिये :—

(१) प्राकृतिक अवस्था का ठीक २ अध्ययन करके नवीन 'ग्रामीण केन्द्र' खोले जांय। आरम्भ में प्रत्येक ज़िले में कम से कम एक 'ग्रामीण केन्द्र' नमूने और प्रयोग के लिये अभी खोला जाय। और प्रयत्न यह किया जाय कि ऐसे एक केन्द्र का कार्यक्षेत्र ५ से १० मील तक के अर्ध-व्यास का हो अथवा जिसमें कम से कम १०, १५ गांवों की जनता की सेवा हो सके। सहकारी सुधार मण्डलों के क्षेत्र ही इस योजना के लिये पर्याप्त हो सकते हैं।

(२) इस ग्रामीण-केन्द्र का निजी क्षेत्रफल १ वर्ग मील के लगभग हो।

(३) इस क्षेत्र का एक वैज्ञानिक प्लान बनाया जाय, जिसमें आवश्यक विभागों के प्रतिनिधियों के निवास स्थान और कार्यालय हों।

(४) २०० परिवारों या १००० व्यक्तियों से अधिक लोग इस क्षेत्र-में निवास न करें। जिसमें मुख्यतः भिन्न २ विभागों के अफ़सर उनके अमले और नौकर चाकर सब शामिल हों। कुछ किसान, दस्तकार, कारीगर और मज़दूर भी हों।

(५) यह केन्द्र एक नमूने का गांव बनाया जाय। जिसमें सहकारी सिद्धान्तों पर अधिक से अधिक कार्य्य हो। सहकारी बीज गोदाम इसी का अङ्ग बना दिया जाय।

(६) इसमें एक पंचायत ऐक्ट के अनुसार एक गांव सभा, पंचायत और पंचायती अदालत हो। गावों के लिये यह सब नमूने की संस्थाएं होंगी।

(७) एक सहकारी कृषि-सुधार-समिति होगी, जो बहुउद्देशी होगी और कृषि विभाग का एक अफ़सर, दफ़्तर और एक नमूने का फ़ार्म होगा, जिसमें कृषि सम्बन्धी अन्य कार्य्य भी होंगे; जैसे डेयरी, पोल्टरी आदि और यह समिति की तथा निकटवर्ती गांवों की सहायता और सेवा अपने विभाग की ओर से कर सकेंगे। साथ ही यह बहु-उद्देशी या बहुधंधी समिति कुछ स्थानीय तथा प्रादेशिक उद्योग-धंधों का भी प्रबन्ध करेगी तथा सारी उत्पन्न की हुई सम्पत्ति की बिक्री का प्रबन्ध भी उसके हाथ में होगा।

(८) मनुष्यों और मवेशियों दोनों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये एक अस्पताल हो, जिसमें सब प्रकार की चिकित्सा का सुभीता और सुविधा है।

(९) इसमें एक प्रारम्भिक पाठशाला हो और एक जूनियर हाई स्कूल हो, जो कृषि, कला, विज्ञान, व्यापार आदि की व्यवहारिक

शिक्षा प्रदान कर सकें और जो साथ ही साहित्य, समाज विज्ञान और धर्म की भी शिक्षा दे। छठी कक्षा से इसमें पढ़ाई शुरू हो, जिसमें ग्रामीण केन्द्र के प्रारम्भिक पाठशाला तथा आस पास के गांवों की प्रारम्भिक पाठशालाओं के विद्यार्थी पढ़ सकें। इसके साथ एक छात्रावास भी आवश्यकतानुसार हो और अध्यापकों के लिये निवास स्थान भी हों। शिक्षा अनिवार्य्य हो, बाल-बालिकायें एक साथ पढ़ें।

(१०) इसका एक पंचायत-घर भी हो जो केन्द्र के बीचो बीच में स्थित हो, जिसमें एक बड़ा हाल हो, और पुस्तकालय, वाचनालय, नाट्यशाला या रंग मञ्च हों तथा चारों ओर पार्क और खेल के मैदान हों। इसमें एक रेडियो हो।

(११) इसकी एक सेवा समिति और रक्षा दल भी हो, जिसमें गांवों के और केन्द्र के सब तरुण अनिवार्य्य रूप से सदस्य हों। उन्हें सैनिक शिक्षा भी दी जाय।

(१२ इसका एक केन्द्रीय सहकारी बैंक, एक पोस्ट आफ़िस और सरकारी बस सर्विस हो। सम्भव हो तो एक रेलवे लाइन भी निकाली जाय। निकटस्थ पक्की सड़क से इस केन्द्र को एक पक्की सड़क द्वारा मिलाना आवश्यक होगा।

(१३) इसमें कम से कम तीन ट्यूब वेल्स (Tube-wells) हों एक बिजलीघर हो जहाँ से गाँवों में शक्ति का प्रसार किया जाय, जो केन्द्र और ग्रामों को प्रकाश और जल दे सके।

(१४ इस केन्द्र की आय के साधन निम्नलिखित होंगे :—

(१) केन्द्र के प्रत्येक स्त्री अथवा पुरुष निवासी की निजी आय का =) रुपिया मासिक कर के रूप में लिया जायगा, जिसके उपलक्ष में जल, प्रकाश, सफ़ाई, शिक्षा और चिकित्सा आदि का सार्वजनिक प्रबन्ध होगा। व्यक्तिगत सेवाओं का मूल्य पृथक रहेगा।

(२) भिन्न २ संस्थाओं और फ़ार्म के लाभ का पांचवां भाग केन्द्रीय सभा को मिलेगा।

(३) दान व पुण्य द्वारा प्राप्त धन सभा को मिलेगा।

(४) भारतीय अथवा प्रान्तीय या स्थानीय सरकार से कुछ २ सहायता सभा को मिलेगी।

(५) मकानों व दूकानों का किराया सभा को मिलेगा।

(६) अन्य साधन जैसे पंचायती अदालत के जुर्माने की रक़म या नुमायश और मेले में आनेवाले दूकानदारों और व्यापारियों से प्राप्त धन इत्यादि।

(१५) केन्द्र का प्रबन्ध केन्द्रीय सभा और केन्द्रीय पंचायत के हाथ में होगा। पंचायत के सेक्रेटरी या मन्त्री का पदवैतनिक होगा। पंचायती अदालत के क्लर्क का पद भी वैतनिक होगा। अधिकतर केन्द्र का कार्य्य अवैतनिक ही होगा, जिसमें सार्वजनिक सेवा का भाव जागृत रहेगा।

इस ग्राम-सुधार केन्द्र के मुख्य उद्देश्य :—

(१) एक आदर्श ग्राम की स्थापना और उसके जीवन को आदर्श बनाना।

(२) पंचायत राज का नमूना गांवों के सामने रखना।

(३) शहरों के शिक्षित समुदाय का ग्रामीण जनता से सम्पर्क बढ़ाना।

(४) मंडल के गांवों में कृषि, उद्योग व व्यापार की उन्नति करना।

(५) आस पास के गाँवों में सामाजिक और साधारण शिक्षा का प्रचार तथा उनको स्वच्छ और स्वस्थ व सुन्दर बनाना।

(६) गाँवों के पञ्चायती राज में सहायता करना।

(७) गाँवों और शहरों के बीच एक सामंजस्य और सन्तुलन उत्पन्न करना, और प्राचीन तथा आधुनिक सभ्यता के सम्मिश्रण से एक नवीन उपयोगी और कल्याण कारी कृषि-सभ्यता का सृजन करना।

अभी हाल में ही केन्द्रीय सरकार के (Planning Commission) के आदेशानुसार प्रान्तीय सरकार ने प्रान्तीय उन्नति की योजना बनाई है। जिसमें जिले की पुरानी योजना समिति (Dt. Planning Board) का रूप बदल दिया है, पर स्थानीय ग्रामोन्नति के क्रियात्मक कार्य क्रम पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया है, मेरे विचार में जिले की नवीन योजना समिति को ऊपर दिये हुये ग्राम-सुधार केन्द्रों को स्थापित करवाना चाहिये।

इस योजना की सफलता के लिये कुछ अन्य आवश्यक सुधारों की भी शीघ्र आवश्यकता है जैसे,

(१) जमींदारी उन्मूलन जिसके लिये बिल तो पास हो गया है, पर उसे यथार्थ रूप देना।

(२) ज़मीन का फिर से क्षेत्रफल और कृषक संख्या के हिसाब से बटवारा करना, चाहे किसान भूमिधर हो या न हो।

(३) जमींदारी-उन्मूलन-कोष में अभी कुल २७ करोड़ की रकम आई है। इससे मालूम होता है कि भूमिधारी अधिकार प्राप्त करने के लिये १० वर्ष का लगान देना लोगों कठिन हो रहा है। अतएव इस शर्त को बदल कर ५ साल का इकट्ठा लगान और ५ वर्ष तक पूरा लगान वार्षिक लिया जाय।

(४) खेतों की चक बन्दी का काम अत्यन्त शीघ्र होना चाहिये नहीं तो कृषि की उन्नति नहीं हो सकती।

(५) सिंचाई के लिए भी ट्यूब-वेल्स भी शीघ्र ही बनाने चाहिये।

शरणार्थियों के लिये भी ऐसे ही केन्द्रों की आवश्यकता है, पर उनके लिये जो केन्द्र खोले जाँय वह उन जमीनों पर होने चाहिये जो खेतों के लिये जङ्गलों का साफ करके तैयार की जा रही हैं। अच्छा तो यह हो कि उन्हीं लोगों से मजदूरी पर यह काम कराया जावे। और फिर खेती और दस्तकारी के कामों के लिये उनकी सहायता सहकारी ढङ्ग से की जाय।

अट्ठाईसवाँ अध्याय

गांव और जिले का शासन

(District Administration)

गाँव के रहने वालों को यह जान लेना नितान्त आवश्यक है कि उनके गाँवों और उनके जिले पर हुकूमत कैसे होती है। अतएव अब इस अध्याय में हम इसी विषय का अध्ययन करेंगे।

जिला और ग्राम का शासन और शासक

पुराने जमाने में गाँव का शासन पञ्चायतों द्वारा होता था पर, ब्रिटिश राज्य ने उनका लोप कर दिया और अपनी नई शासन प्रणाली स्थापित कर दी, जिसके शासक या अफ़सर निम्नलिखित हैं :—

(१) लम्बरदार—ये सम्मिलित जमीदारी वाले गाँवों में नियत किये गये हैं। यह मालगुजारी तथा सिंचाई का रुपिया और टैक्स आदि वसूल करके तहसील में जमा करने के जिम्मेदार हैं। इनका चुनाव पट्टीदारों में से होता है।

गाँवों में अमन चैन रखना भी इनका एक काम है।

(२) पटेल—यह रैय्यत वारी गाँवों का प्रधान सरकारी कार्य-कर्त्ता है। इनका ओहदा पैदाइशी होता है, जैसा हमारी वर्ण व्यवस्था में है। ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण ही होता है। ऐसे ही पटेल का पुत्र भी पटेल ही होता है।

उसका काम गाँव की मालगुजारी वसूल करना और शान्ति स्थापित रखना है। वह कुछ छोटे २ मुकदमें भी गाँव के फैसला करता है, जिसके पुरस्कार में उसे कुछ जमीन मिलती है जो उसका 'वेतन' कहा जाता है। यह दक्षिणी भारत में होते हैं।

(३ पटवारी—यह उत्तरी भारत के जमीदारी गाँवों में पाया जाता है। दक्षिण में भी कहीं २ पटवारी हैं, उन्हें कुलकर्णी कहते हैं। यह गाँव के खेत और मालगुजारी सम्बन्धी सब काग़जात रखता है। वह गाँव का एक बहुत ही आवश्यक व्यक्ति है। उसके मुख्य काग़जात हैं :—

(१) खसरा, (२) खेतौनी, (३) खेवट, (४) शजरा मिलान (५) स्याहा, (६) वही खाता जिंसी।

(४) चौकीदार—यह शासन का सबसे छोटा अफसर है, प्रत्येक गाँव में एक चौकीदार होता है जो गाँव की चौकसी रखता है। वह गांव में होने वाले सब जुर्मों की रिपोर्ट पुलिस में देता है, जैसे चोरी डकैती, मारपीट, ख़ून आदि। जरूरत पर वह पुलिस की सहायता भी करता है। उसे गांव में मरने वालों और पैदा होने वाले बच्चों की भी रिपोर्ट देनी होती है।

तहसीलदार और उसके सहायक

कानून गो—कुछ गांवों को मिलाकर परगना बनता है। उसका

काम मालगुजारी वसूल करना और पटवारी के काम को देखना होता है।

तहसीलदार—कई परगनों को मिलाकर एक तहसील बनती है। उसका अफसर 'तहसीलदार' कहलाता है। उसके मुख्य दो काम हैं :—

(१) तहसील की मालगुजारी वसूल करना। इस काम में उसका एक सहायक होता हैं जो नायब तहसीलदार कहलाता हैं। उसके नीचे कानूनगो लोग होते हैं। जो मालगुजारी वसूल करने में तहसीदार और नायब तहसीलदार की सहायता करते हैं।

(२) फौजदारी के मुकदमें करना। उसे दूसरे दर्जे के मजिस्ट्रेट के अधिकार होते हैं। अर्थात् वह एक से छे महीने तक की सजा और ५०) रु० से १००) रु० तक जुर्माना कर सकता है।

कलेक्टर-मैजिस्ट्रेट

कलेक्टर—

कलेक्टर हमारे देश के शासन में एक बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वह एक ज़िले का मालिक हैं और उस ज़िले की सारी मालगुज़ारी वसूल करने का भार उसी पर है। वह ज़िले के शासन के विभिन्न विभागों को मिलाए रखता है और सब पर दृष्टि रखता है। मालगुजारी सम्बन्धी जितने झगड़े उठते हैं उन्हें वह तै करता है बाढ़, दुर्भिक्ष आदि के समय वह किसानों की आवश्यक सहायता करता है और माल के मुक़दमों को फैसला करता हैं।

जिला मजिस्ट्रेट—कलेक्टर ही ज़िले का मजिस्ट्रेट होता है। और इस हैसियत से ज़िले में शाँति स्थापित रखना उसका मुख्य कर्त्तव्य होता है। इसलिये यह ज़िले की पुलिस का निरीक्षण करता है और पुलिस अफ़सरों जैसे सुपरिन्टेन्डेन्ट और डिप्टी सुपरिन्टेन्टेन्ट

पुलिस की सहायता से और सलाह से काम करता है। फौजदारी के मुक़दमों का भी यह फ़ैसला करता है और उसे १०००) रु० तक और दो साल तक की सजा देने का अधिकार रहता है।

इसके अतिरिक्त ज़िला मजिस्ट्रेट या कलेक्टर डि० बोर्ड और म्युनीसिपल बोर्ड के कामों की देख भाल करता है, तथा शिक्षा, स्वास्थ्य, जेल, कृषि, सहकारिता आदि सभी विभागों का वह निरीक्षण करता रहता हैं।

शहरों में एक सिटी-मैजिस्ट्रेट भी होता है जो शहर का प्रबन्ध करता है और डि० मैजिस्ट्रेट का सहायक होता है। इसी प्रकार ज़िले भर के शासन के लिये कुछ डिप्टी कलेक्टर भी उसकी सहायता के लिये रहते हैं।

कमिश्नर

शासन की सहायता के लिये लगभग सभी प्रान्तों को कमिश्नरियों में बाट दिया जाता है। केवल मद्रास में ऐसा नहीं है। इस कमीश्नरी का मालिक कमिश्नर होता है। उसके सहायक उप-कमिश्नर्स या अतिरिक्त कमिश्नर्स भी होते हैं। यह अपनी कमिश्नरी के सब ज़िला कलेक्टरों के कामों पर दृष्टि रखता है और मालगुजारी के सम्बन्ध में सबसे बड़ा अफसर है। वह मालगुजारी के मुकदमों की अपीलें भी सुनता है।

कमिश्नरों के ऊपर मालगुजारी सम्बन्धी मामलों की अपील सुनने वाली अदालत केवल बोर्ड आफ़-रेवीन्यू ही है। इस सम्बन्ध में यह अन्तिम अदालत है और उसे पूर्ण अधिकार प्राप्त हैं।

डिस्टिक्ट बोर्ड

(District Board)

हर एक ज़िले में एक डिस्ट्रिक्ट बोर्ड (District Board)

ोता है, जो ज़िले के ग्रामीण भाग की उन्नति का कार्य करता है। मारे देश में दो सौ से अधिक डि० बोर्ड हैं।

इनके प्रमुख उन्नति जनक कार्य (Developmental Functions) निम्नलिखित हैं :—

(१) शिक्षा प्रबन्ध—गाँवों के प्राइमरी और मिडिल स्कूल न्हीं के अधिकार में होते हैं, इस प्रकार गांवों में शिक्षा प्रचार का काम इन्हीं का है।

(२) चिकित्सा और सफाई का प्रबन्ध—ये बोर्ड गांवों में अस्पताल और दवा इलाज का प्रबन्ध करते हैं, टीका लगाने का और गांवों की सफ़ाई का कार्य करते हैं।

(३) सार्वजनिक निर्माण कार्य (Public works)—ये बोर्ड सड़कें बनवाते हैं और उनकी मरम्मत भी करवाते हैं। नदियों या नाली के ऊपर पुल बनाना और उनकी मरम्मत करना भी इन्हीं का काम है। स्कूल और अस्पताल, आदि भी बनवाते हैं और उनकी मरम्मत करवाते रहते हैं। कहीं कहीं डाक बङ्गले भी यही बनवाते हैं।

(४) तालाब और कुएं—गांवां के तालाबों और कुओं की सफ़ाई करवाना तथा कुएँ बनवाना और नए तालाब खुदवाना भी इनका काम है।

(५) नदियों को पार करने के लिये नावों की ज़रूरत रहती है। उनका ठेका डि० बोर्ड देता है।

(६) मर्दुमशुमारी या जन संख्या की गणना भी इसका काम है।

(७) अकाल में गांव वालों की सहायता पहुँचाना इसी का काम है।

(८) मेले, प्रदर्शिनी और अन्य-कला कौशल की उन्नति संबंधी काय गांवों में यह बोर्ड करते हैं।

इन सब कामों को पूर्ण रूप से करने के लिये बोर्ड को रुपिये की ज़रूरत रहती है। इसकी आय निम्नलिखित साधनों से होती है :—

(१) **भूमि पर महसूल**—यह महसूल मालगुजारी लगान के साथ एक आना प्रति रुपया के हिसाब से वसूल किया जाता है और डि० बोर्ड को दे दिया जाता है। यह महसूल कुल आय का २५% से लेकर बिहार और उड़ीसा में ६३% तक पहुँच जाता है।

(२) प्रान्तीय सरकार भी डि० बोर्ड को कुछ रुपिया शिक्षा, चिकित्सा, सड़कों आदि पर व्यय करने के लिये देती है।

(३) नदियों के घाटों पर कर लगा कर और नावों के ठेके बेच कर भी डि० बोर्ड की कुछ आय होती है।

(४) मेलों और नुमायशों में व्यापारियों पर कर लगा कर भी इसकी आय होती है।

प्रत्येक डि० बोर्ड में कुछ मेम्बर या सदस्य होते हैं, जिनमें से अधिकांश सदस्य मतदाता किसानों द्वारा चुने जाते हैं। अभी तक कुछ प्रांतों में अल्प संख्यकों (Minrities) के प्रतिनिधि सरकार द्वारा नियुक्त होते थे और मुसलमान लोग अपने सदस्य अलग चुनते थे। पर अब हमारे प्रांत में मुसलमानों के सदस्य मुसलमानों ही द्वारा नहीं चुने जायगे। हिन्दू मुसलमान सब मिलकर सब सदस्यों को चुनेंगे।

चुनाव के लिये प्रत्येक ज़िले को वार्डों (Wards) में बांट दिया जाता है। प्रत्येक वार्ड का चुनाव अलग होता है।

हमारे देश की केवल ३२% जन संख्या को वोट या मत देने का

धिकार है। मत या वोट देने का अधिकार अभी तक निम्न श्रेणी के लोगों को ही है :—

(१) जो शिक्षित होते हैं।
(२) ज कर देते हैं।
(३) जो ३०) रु० या अधिक लगान देने वाले किसान हैं।
(४) जो ज़मीदार हैं और २५) या उससे अधिक मालगुजारी देते हैं।

प्रत्येक डि० बोर्ड में एक सभापति (Chairman) होता है जो सदस्यों द्वारा चुना जाता है। वह शासन-प्रबन्ध के कार्यों के लिये कई एक कमेटियां बनाता है, जिनमें शिक्षा (Education) अर्थ (Finance), सार्वजनिक स्वास्थ्य (Public Health) और सार्वजनिक निर्माण कार्य (Public Works) समितियां (Commitees) मुख्य हैं।

साधारणतया डि० बोर्ड के सदस्य और सभापति अवैतनिक (Honorary) काम करते हैं। पर कुछ कर्मचारी, जैसे सेक्रेट्री, इन्जीनियर, डाक्टर, शिक्षा-निरीक्षक वेतन लेते हैं। और बोर्ड के दफ़्तर के क्लर्क भी वेतन लेते हैं।

जिले के कलेक्टर और कमिश्नरी के कमिश्नर डि० बोर्ड का समय २ पर निरीक्षण करते हैं। वे बोर्ड के बजट देखते हैं और भिन्न विषयों पर उन्हें राय देते हैं। यदि वे यह देखते हैं कि किसी बोर्ड का काम प्रजा के हित में नहीं हो रहा है तो वे उसे ऐसा करने से रोक सकते हैं, या उसे तोड़ देने की और बोर्ड को सरकार के हाथ में ले लेने की राय भी दे सकते हैं।

———

ग्राम-स्वराज्य बोर्ड

(Rural Self-Govt. Boards)

गांव वालों को कुछ स्वराज्य का भी अधिकार दिया गया है। यह स्वराज्य ग्रामीण बोर्ड द्वारा किया जा रहा है। डि० के नीचे स्थानीय (Local), तालुका (Taluqa) या हलका बोर्ड (Circle-board) होते हैं। यह जिले के भिन्न २ भागों में काम करते हैं। लोकल या स्थानीय बोर्ड और सब प्रांतों में पाए जाते हैं पर पञ्जाब और उत्तर प्रदेश में यह नहीं पाए जाते।

आसाम में डि० बोर्ड के स्थान में लोकल बोर्ड ही होते हैं। लोकल बोर्ड के नीचे पञ्चायत या यूनियन बोर्ड (Union board) होते हैं।

इन लोकल बोर्ड को डि० बोर्ड से कुछ रुपिया मिलता है, पर वे बिना उसकी राय के उसे खर्च नहीं कर सकते, डि० बोर्ड की तरह लोकल बोर्ड के सदस्यों का चुनाव होता है और ये सदस्य अपना सभापति चुनते हैं और वह भिन्न २ कमेटियाँ बनाता है।

पंचायत या यूनियन बोर्ड

पंचायत हमारे गांवों की सब से प्राचीन संस्था है। गांव उस समय एक आत्म-निर्भर (Self. sufficient) राष्ट्रीय इकाई (Unit) समझा जाता था। अर्थात् वह अपने जीवन की सारी या अधिक से अधिक आवश्यकताओं की स्वयम् पूर्ति कर लेता था और अपने सामाजिक, आर्थिक, और राजनैतिक जीवन को स्वयम संचालित कर लेता था। दूसरे शब्दों में वह अपना शासन अपने आप कर लेना था, और यह शासन गाँव की प्रमुख संस्था पंचायत के हाथ में था। गाँव की सफाई, शिक्षा, रक्षा आदि का सारा भार इसी पर था। वह मुकदमे भी फैसल कर लेती थी, जिसके लिये कुछ बड़ी

पञ्चायतें भी संगठित थीं। पञ्चग्रामीण, दश ग्रामीण और शत ग्रामीण पञ्चायतों का उल्लेख दक्षिण भारत की मुंडा द्रवीडियन सभ्यता में मिलता है, जो आर्यों के भारत में आने के पूर्व से ही प्रचलित थीं।

प्राचीन काल में भी यह पञ्चायतें दो प्रकार की थीं। एक तो जातीय और दूसरी ग्रामीण। इनमें से यह ग्रामीण पञ्चायतें तो बिलकुल ही नष्ट हो गईं या सरकार द्वारा नष्ट कर दी गईं पर जातीय पञ्चायतें अब भी विशेष कर पिछड़ी हुई और अछूत जातियों में पाई जाती हैं।

ये पञ्चायतें मुख्यतः उपजातियों में अब भी काय कर रही हैं इनके सदस्य लगभग एक ही उपजाति के होते हैं और एक सा ही व्यवसाय करते हैं। यह अधिकतर सामाजिक झगड़ों का निपटारा करती हैं और सज़ायें भी देती हैं जिसको 'पञ्चायत पड़ जाना' कहा जाता है, जिसका अर्थ यह होता है कि अभियुक्त को, अभियोग सिद्ध हो जाने पर, जाति बिरादरी को भोजन देना पड़ता है और कुछ रुपिया भी पञ्चायत को जुर्माने के रूप में देना होता है।

सन् १६०८ में डिसेन्ट्रलाइजेशन (Decentraliztion) या विकेन्द्रीय करण कमीशन ने प्राचीन ग्राम पञ्चायतों के पुनरुथान पर ज़ोर दिया और उसके फलस्वरूप सरकार का ध्यान उधर गया। और एक पञ्चायत ऐक्ट १६२० में पास कर प्रान्तीय सरकारों ने गांवों में नये ढंग से पञ्चायतें बनाने का प्रयत्न किया। इन पञ्चायतों को 'यूनियन बोर्ड (Union Board) भी कहा जाता हैं। यह बोर्ड पञ्चायतें डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की ओर से काम करती हैं। इनके मुख्य काम प्राइमरी स्कूलों और औषधालयों का चलाना, गाँवों में सफाई रखना, सड़कों, पुलों, कुओं तालाबों की देखभाल करना और छोटे मोटे ५०) तक के माल के मुकदमों का फैसला करना है। इनकी आमदनी इनके

लगाये हुए कर और लोकल डि० बोर्ड द्वारा दी हुई आर्थिक सहायता से होती है।

हमारे प्रान्त में भी यह पञ्चायतें हैं, जो कलक्टर द्वारा स्थापित होती हैं। वह पांच से सात तक पञ्च और एक सरपञ्च नियुक्त कर देता है।

यह पञ्चायतें छोटे-छोटे दीवानी और फ़ौजदारी के मुक़दमों को फैसल करने का अधिकार रखती हैं। यह १०) तक जुर्माना कर सकती हैं। कलक्टर आवश्यकता पड़ने पर इनके पञ्चों को बदल सकता है और उनको तोड़ भी सकता है। अब इनको नए पञ्चायत ऐक्ट के अनुसार परिवर्तित किया जा रहा है।

प्रश्न

(१) गाँव के मुख्य अफसर कौन हैं? उनके क्या कार्य हैं?
(२) तहसीलदार कौन हैं? उसके मुख्य कर्तव्य क्या हैं?
(३) गाँव का शासन कैसे किया जाता है? समझाइये।
(४) गाँवों में स्वराज्य शासन की प्रणाली क्या है? ठीक-ठीक लिखिये।
(५) डिस्ट्रिक्ट बोर्ड क्या है? उसके कार्य क्या हैं? उसकी आय कहाँ से होती है?
(६) जिले का शासन इस देश में कैसे होता है?
(७) जिलाधीश कौन है? उसके क्या कर्तव्य हैं? कमिश्नर के क्या काम हैं?

उनतीसवाँ अध्याय

सरकारी कृषि विभाग

(Government Agricultural Departments)

कृषि विभाग का इतिहास

ईस्ट इण्डिया कम्पनी गांवों से मालगुज़ारी वसूल करना अपना मुख्य काम समझती थी। उसे अपनी आय से मतलब था, पर वह गाँव या खेती की उन्नति के विषय में बिल्कुल उदासीन थी, कोई प्रयत्न उसने नहीं किया। जब बिहार में बड़ा भारी अकाल ग़दर के पश्चात पड़ा तब पहले-पहले १८६६ ई० में सरकार ने एक कृषि-विभाग कृषि की उन्नति के लिये खोलने का विचार किया।

लंका शायर के मिल मालिकों ने जो भारत की रुई खरीदना चाहते थे, भारतीय कृषि की उन्नति पर ज़ोर दिया और अकाल कमीशन ने भी भारत में कृषि-विभाग खोलने की सिफारिश की तब १८८४ ई० में भिन्न-भिन्न प्रान्तों में डायरेक्टर, डिप्टी डायरेक्टर निरीक्षक और ओवरसियर आदि की नियुक्ति हुई और कृषि-विभाग खोले गये पर इन्हें काफी काम दे दिया गया और आर्थिक सहायता कम मिली और यह विभाग कुछ सफल नहीं हुये।

गत शताब्दी के अन्त में दो अमरीकन यानी, मि० हेनरी फिप्स और सरडेक्डि सेसून भारत में आये और उन्होंने बहुत सा रुपिया कृषि विभाग को दान किया, जिससे इन विभागों की आर्थिक दशा कुछ सुधर गई। सन् १९०१ में केन्द्रीय सरकार और प्रान्तीय सरकार को उचित परामर्श देने के लिये एक इन्सपेक्टर जेनरल आफ़

ऐग्रीकल्चर (Inspector General of Agriculture) की नियुक्ति हुई।

पर १९१२ में प्रथम महायुद्ध के पूर्व ही यह पद समाप्त हो गया और यह काम ऐग्रीकल्चरल रिसर्च इंस्टीच्यूट (Agricultural Research Institute) के डाइरेक्टर को सौंपा गया। इसी बीच में लार्ड कर्जन के समय में उन्नति हुई :—

(१) १९०५ में कृषि विभाग का फिर से संगठन किया गया इसी साल एक अखिल भारतीय बोर्ड आफ़ ऐग्रीकल्चर (All India Agricultural Board) खोला गया, जिसका उद्देश्य सब प्रान्तीय कृषि विभागों को मिलाकर कृषि समस्याओं पर सम्मिलित रूप से विचार करना था।

(२) खेती सम्बन्धी प्रयोगों (Agricultural Experiments) खेती सम्बन्धी अन्वेषणों (Agricultural Researches) और खेती की उन्नति का प्रदर्शन (Agricultural Demonstration) के लिये काफ़ी रुपिया दिया गया।

(३) १९०८ में कृषि कालिज (Agricultural College) और इम्पीरियल इन्स्टीच्यूट आफ ऐग्रीकल्चर (Imperial Institute of Agricultural) पूना में खोले गये। शीघ्र ही ऐसे कालिज कानपुर नागपूर, कोयमविट्टूर तथा मांडले (Burma) में खोले गये।

केन्द्रीय कृषि-विभाग

(Indian Agricultural Departments)

सन् १९२१ ई० के राजनैतिक सुधारों के फलस्वरूप कृषि एक स्वतन्त्र विषय हो गया और कृषि-सचिव के हाथ में दे दिया गया। केन्द्रीय सरकार अपना कृषि सम्बन्धी कार्य केन्द्रीय कृषि विभाग

(Imperial Department of Agriculturel) के द्वारा करती थी, और केवल उन्हीं कृषि समस्याओं पर विचार करती है जिनका समस्त देश से सम्बन्ध होता है और वह निम्नलिखित कृषि सम्बन्धी संस्थाओं को चलाती है :—

(१) ऐग्रीकल्चरल इंस्टीच्यूट पूसा (Agricultural institute Pusa)

(२) इम्पीरियल इंस्टीच्यूट आफ वेटेरिनरी रिसर्च गढ़मुक्तेश्वर (Imperial Institute of veterinary Research Garhmukteswar)

(३) इम्पीरियल इंस्टीच्यूट आफ़ एनीमल हस्बैंडरी ऐंड डेरींग (Imperial Institute of Animal Husbandry and Dairying) बैंगलोर और वैलिंगटन आदि।

प्रान्तीय कृषि-विभाग

(Provincial Agricultural Departments)

प्रत्येक प्रान्त में एक प्रान्तीय कृषि विभाग काम कर रहा है, ज कृषि मन्त्री के आधीन है, और उसके निम्न लिखित कार्य हैं :—

(१) कृषि सम्बन्धी प्रयोग (Experiments) और अन्वेषण (Research) करना।

(२) कृषि के नये तरीके और औजारों के प्रयोग का प्रचार करना।

(३) अच्छी और नई रासायनिक खाद (Chemical manures) का प्रचार करना।

(४) अच्छे बीजों का तैयार करना और किसानों को देना।

(५) सरकारी खेतों तथा किसानों के खेतों पर नई चीजों और नए तरीकों का प्रदर्शन करना।

इन विभागों ने इधर अच्छा काम किया है। पैदावार अब बढ़ रही हैं। विशेषकर गेहूं, गन्ना और रुई में। पर कहा जाता है कि साधारण फसलों जैसे ज्वार, बाजरा, तिल आदि की ओर इन्होंने अभी विशेष ध्यान नही दिया। इन विभागों ने कृषि-रसायन-शास्त्र (Agricultural Cheimistry) और कृषि सम्बन्धी रोगों की ओर भी ध्यान दिया है और उसमें सफलता भी हुई है। मिट्टी और खाद विषयक अन्वेषण सराहनीय हैं।

समय-समय पर भिन्न-भिन्न स्थानों में कृषि प्रदर्शनी) Agricultural Exhibitions) भी आयोजित की जाती हैं और उनमें बहुत सी कृषि-उन्नति सम्बन्धी बातें दिखाई और समझाई जाती हैं। इनसे किसानों को काफी लाभ हो रहा है।

कृषि-विभागों की प्रगति

कृषि-विभागों ने अभी तक गत ५० वर्षों में जो काम किया है वह अच्छा है पर बहुत धीमी रफ्तार से हुआ है जिसके मुख्य कारण नीचे दिये जाते हैं :—

(१) धन की कमी

धीमी प्रगति का मुख्य कारण धनाभाव है, कुल प्रान्तीय आय का केवल १% प्रतिशत् कृषि पर खर्च होता है, जब कि अमरीका में, जिसकी ३०% आबादी कृषि पर निर्भर है, हम से ११ गुना कृषि पर खर्च करता है। अतः जब तक इन विभागों को रुपिया अधिक न मिलेगा तब तक विशेष लाभ इनके द्वारा कृषि में नहीं हो सकता।

(२) अफसरों का व्यवहार

इस विभाग के कर्मचारियों में अभी अफसरपन बहुत है, वे

किसानों से बराबरी का बर्ताव नहीं करते, उनसे घुल मिल नहीं सकते, और इसलिये किसान भी उनसे दूर ही रहते हैं और अपनी खेती की उन्नति में कोई विशेष लाभ उनसे नहीं उठा पाते।

(३) सिंचाई के साधनों की कमी

सिंचाई की कठिनाई के कारण किसान लोग नये ढंग और वस्तुओं के होते हुए भी कृषि की उन्नति नहीं कर पाते।

(४) अंध विश्वास और रूढ़िवाद

किसान, अज्ञानता के कारण, लकीर का फ़कीर बना रहना चाहता है। वह नई बातों से डरता और हिचिकता है इसलिये कृषि में सुधार नहीं हो पाता।

(५) शिक्षितों की उदासीनता

किसान परिवारों के शिक्षित युवक कृषि में दिलचस्पी नहीं लेते, अन्यथा वे इन विभागों से अपढ़ किसानों की अपेक्षा अधिक और शीघ्र लाभ उठा सकते हैं। वे कृषि विभागों में नौकरी चाहते हैं पर किसान बनकर उनसे लाभ नहीं उठाना चाहते।

प्रश्न

(१) केन्द्रीय कृषि-विभाग क्या काम करता है ? लिखिये।
(२) प्रान्तीय कृषि विभाग के क्या-क्या काम हैं ? उससे हमारे प्रान्त के किसानों को क्या लाभ हुआ है ?
(३) कृषि विभागों द्वारा कृषि की उन्नति इतनी धीमी गति से क्यों हो रही है ? क्या कारण हैं ?
(४) प्रान्तीय कृषि विभाग को गाँवों और किसानों के लिये और अधिक उपयोगी कैसे बनाया जा सकता है ?

तीसवां अध्याय

पञ्चायत राज

भारतवर्ष को स्वतन्त्रता मिल गई है और स्वराज्य प्राप्त हो गया है पर गांव वालों को तो स्वराज्य से लाभ उसी समय मालूम होगा जब उनके गांवों को राज्य का अधिकार मिल जाय। अर्थात् गांव के शासन का सारा भार गांव वालों को ही दे दिया जाय।

इस प्रकार के शासन में सुविधा और सुगमता भी है। दिल्ली या लखनऊ से फ़ैजाबाद ज़िले के किसी गांव की हुकूमत करना कठिन है। सच बात तो यह है कि एक जिले के केन्द्र स्थान से ही ३०, ४० मील दूर गांवों को शासन करना असम्भव है। उदाहरण के लिये यदि किसी दूर के गांव में डाका पड़ गया तो ज़िला केन्द्र तो दूर रहा निकटस्थ थाने तक खबर भेजने में ही इतना समय लग जाता है कि जब तक कोई सहायता वहां से आवे डाके वाले अपना काम करके रफ़ूचक्कर हो जाते हैं और बिचारे बेगुनाह आदमी उसमें पुलिस द्वारा फँसाए जाते हैं और उनसे खूब रुपिया ऐंठा जाता है।

इसी प्रकार और मामलों में भी होता है। मुकदमों के फ़ैसलों के लिये गांव वालों को न जाने कितना समय और रुपिया नष्ट करना पड़ता है। अतएव जब तक गांव वालों को स्वयम् शासन का कोई अधिकार नहीं मिलता तब तक स्वराज्य या स्वतन्त्रता उनके लिये कोई विशेष अर्थ नहीं रखती।

इसीलिये पूज्य गांधी जी सदैव यही कहते थे कि गांव का शासन गांव वालों को ही देना चाहिये।

इसी उद्देश्य को सामने रखते हुए हमारी राष्ट्रीय कांग्रेस सरकार भी इस विचार से सहमत हुई और प्रांतीय सरकार ने सन् १६४७ में (पञ्चायत राज ऐक्ट) उत्तर प्रदेश के लिये पास किया। इसी के अनुसार अब गांवों में पञ्चायत राज्य स्थापित हो रहा है।

इस कानून ने गांवों और गांववालों का दृष्टिकोण ही बिल्कुल बदल दिया है और एक नवीन जागृति उनके अन्दर पैदा कर दी है। इससे उन्हें स्वराज्य लाभ का कुछ वास्तविक आभास और आनन्द मिल रहा है।

सन् १६४७ के पञ्चायत राज क़ानून को अमल में लाने के लिये उत्तर प्रदेश की सरकार ने १६४६ में पञ्चायत सभा और पञ्चायती अदालत के लिये चुनाव करवाए, और उसके बाद पञ्चायत के सरपञ्चों और मन्त्रियों को शिक्षा दिलाने के बाद गाँव २ में सभाएँ और पञ्चायतें काम करने लगीं।

भारतवर्ष भर में हमारा प्रांत ही पहला प्रांत है जहां जनता को इतने अधिकार प्राप्त हो गये हैं।

गांव सभा

इस क़ानून के अनुसार प्रत्येक गांव में या कुछ गांवों को मिला कर एक गांव सभा बनाई जा रही है, जिसके सब गांव वाले स्त्री और पुरुष २१ वर्ष की अवस्था के हो जाने पर अनिवार्य रूप से सदस्य या मेम्बर हो जाँयगे। इस सभा के लिये गांव की आबादी कम से कम १०० व्यक्तियों की होना चाहिये। यदि वह इससे कम होगी तो पास के अन्य गांवों को मिलाकर यह सभा बनाई जावेगी। पञ्चायत राज का काम गांव की इसी सभा के हाथ होगा। सालभर में इसकी दो साधारण बैठकें होगी एक ख़रीफ़ के बाद और दूसरी रबी के बाद इस सभा के सदस्य केवल वे लोग नहीं हो सकते, जो पागल हैं या जिन्हें कोढ़

की बीमारी हैं, जो दीवालियां हैं, जो सरकारी नौकर हैं या जो गांव में स्थायी रूप से नहीं रहते ।

गांव पंचायत

प्रत्येक गांव सभा द्वारा एक कार्यकारिणी समिति चुनी जावेगी जो गांव-पंचायत कहलाएगी, प्रत्येक गांव-पंचायत का एक सभापति और एक उपसभापति होगा, और साथ ही इसमें जन-संख्या के अनुसार, ३० से ५१ तक पञ्च होंगे। यह गांव पञ्चायत, गांव सभा की ओर से और गांव वालों की इच्छा के अनुकूल ही काम करेगी। गांव वाले ही पञ्चायत के सभापति, उपसभापति और पञ्चों का निर्वाचन करेंगे। यदि गांव वाले उनके काम से सन्तुष्ट न होंगे तो दो तिहाई वोट से उन्हें हटा कर और लोगों को उनके स्थान में चुनेंगे। इन अधिकारियों का चुनाव हर तीन वर्ष के बाद होगा।

गांव पंचायत के काम

गांव पंचायत को निम्नाङ्कित बातों की व्यवस्था करनी होगी :—

(१) जन मार्ग बनवाना, उनकी मरम्मत करवाते रहना, और उनकी रोशनी का प्रबन्ध करना।

(२) चिकित्सा और सफाई का प्रबन्ध करना।

(३) सार्वजनिक सम्पत्ति, जैसे स्कूल, गोशाला, अस्पताल, धर्मशाला, मन्दिर, जङ्गल, खेल के मैदान, पार्क, तालाब, कुएँ आदि, को अच्छी दशा में रखना, उसका ठीक प्रबन्ध करना, और उसकी उचित रूप से देख भाल करना।

(४) जन्म, मृत्यु और विवाहों के ब्योरे रजिस्ट्रों में चढ़ाकर रखना।

(५) मनुष्यों और पशुओं की लाशों के लिये उचित स्थान की व्यवस्था करना।

(६) मेलों, बाजारों और हाटों का प्रबन्ध और नियंत्रण करना।

(७) प्रारम्भिक शिक्षा के लिये बालकों और बालिकाओं के लिये स्कूल खोलना और उनका प्रबन्ध और देख रेख करना।

(८) सार्वजनिक चरागाहों और भूमि को छोड़ना और उनकी रक्षा तथा देख भाल करना।

(९) सार्वजनिक कुओं, तालाबों, परिवारों व अन्य इमारतों को बनवाना, सुधारना और अच्छी दशा में रखना।

(१०) गांवों में घरों आदि बनाने और बढ़ाने आदि के नियम बनाना और उन्हें काम में लाना।

(११) कृषि, व्यापार और उद्योग धंधों की सहायता करना और उनकी उन्नति के लिये प्रयत्न करना।

(१२) आग लगने पर उसे बुझाना तथा लोगों के जान और माल की रक्षा करना।

(१३) पञ्चायत अदालत के पञ्चों का निर्वाचन करना, जहां दीवानी और फौजदारी के मुकदमें तय किये जायंगे।

(१४) सरकार के आदेशानुसार जनगणना, तथा अन्य आवश्यक आंकड़ों का एकत्रित करना।

(१५) प्रसूतिका गृह और ट्रैन्डदाइयों द्वारा जच्चा और बच्चा के हित साधन का प्रबन्ध करना।

(१६) खाद इकट्ठा करने के लिये स्थान नियत करना।

गाँव पञ्चायतें यह सब काम तो जरूर ही करेंगी, पर इनके अतिरिक्त कुछ और काम भी इच्छानुसार कर सकती हैं। यह काम निम्नलिखित हैं :—

पेड़ों का लगवाना, पशुओं की नसल सुधारना और उनकी चिकित्सा का प्रबन्ध करना; गंदे गड्ढों और बेकार तालाबों को पटवाना; गांव की रक्षा और पहरे का प्रबन्ध करना; सहकारी आंदोलन की उन्नति करना; अच्छे बीजों और औज़ारों तथा खाद का प्रबन्ध करना; अकाल और बाढ़ आदि के अवसर पर गांव की रक्षा करना और सहायता देना; पुस्तकालय और वाचनालय खोलना; मनोविनोद और व्यायाम के लिये अखाड़े व क्लब खोलना, सार्वजनिक उपयोग के लिये रेडियों, ग्रामोफोन, मैजिकलैन्टर्न आदि का प्रबन्ध करना।

उपर्युक्त कथन से यह पता चलता है कि गांव पञ्चायतों को ग्रामीण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अधिकार प्राप्त हैं।

यदि वे ठीक काम करें तो गांवों के जीवन में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो सकता है। कुछ विषयों में जैसे शिक्षा, सफाई, जन मार्ग आदि में उन्हें कुछ विशेष अधिकार भी प्राप्त हैं, जिनसे उनकी शक्ति बहुत बढ़ गई है।

वास्तव में गांवों का लाभ तभी हो सकता है जब इन अधिकारों का ठीक २ प्रयोग किया जावे। यह सब काम बिना रुपिये के नहीं हो सकते। अतः यह रुपिया गांव पञ्चायतों को कहां से मिलेगा इस बात पर अब प्रकाश डालेंगे।

गांव कोष

हर एक गांव सभा के पास एक कोष (Fund) होगा, जिसकी आय के साधन निम्नभांति होंगे :—

(१) टैक्स या कर—गांव सभा कई तरह के टैक्स लगा सकती है। वह एक आना प्रति रुपया लगान पर किसानों से कर ले सकती है और दो पैसा फ़ी रुपिया जमीदारों से मालगुजारी पर।

(१) व्यापार, कारबार और पेशों पर भी कर लगाया जा सकता है।

(२) प्रांतीय सरकार द्वारा दी गई आर्थिक सहायता।

(३) किसी अदालत के आदेशानुसार दिलाया गया रुपिया।

(४) कूड़ा करकट, पेड़ां आदि के बेचने से आई हुई रक़म।

(५) ऋण के रूप में ली गई रक़म और दान के रूप में प्राप्त रक़म।

(६) गांव सभा की इमारतों का किराया व प्रांतीय सरकार द्वारा दी हुई नजूल की ज़मीन का किराया।

(७) वह रुपिया जो इस क़ानून के पहले पुरानी गाँव पञ्चायतों के नाम था।

(८) जुर्माने की रक़म जो पञ्चायती अदालत द्वारा लोगों पर लगाया जाय।

(९) ज़िला बोर्ड से मिली आर्थिक सहायता।

गाँव सभा की आय, व्यय और बजट

पञ्चायत की आय और व्यय पर गाँव वालों का पूर्ण अधिकार होगा। गांव सभा की साल में दो साधारण बैठकें होगी, एक खरीफ़ के बाद, जिसमें आगामी वर्ष से बजट (अनुमानित आय और व्यय) पर विचार होगा। दूसरी बैठक रबी के बाद होगी। इस में पिछले वर्ष की वास्तविक आय और व्यय पर विचार होगा।

आगामी वर्ष का बजट

बिना गांव सभा की स्वीकृति के पास नहीं हो सकता, यदि वे चाहें तो कोई नया टैक्स लगा सकते हैं या पुराना टैक्स हटा सकते हैं। यदि वे एक नई इमारत बनवाना चाहेंगे या कोई औषधालय या

वाचनालय खोलना चाहेंगे तो पञ्चायत को ऐसा ही करना पड़ेगा। इस प्रकार गांव का शासन गांव वालों की इच्छानुसार ही होगा।

गाँव सभा की बैठक

साधारणतया साल में गांव सभा की दो बैठकें, जैसा ऊपर कहा गया है, होंगी। पर जब कभी सभापति चाहेगा सभा की बैठक हो सकेगी। इसके अतिरिक्त जब कभी कम से कम सभा के सदस्यों का पांचवां भाग चाहेगा, गांव सभा की मीटिंग बुलानी होगी।

इन बैठकों में बजट पर विचार करने के अतिरिक्त और काम भी हो सकते हैं जैसे गत छे महीनों में सभा के कार्य के विवरण पर विचार या किसी सदस्य के प्रस्तावों पर विचार आदि।

पंचायती अदालत

प्रान्तीय सरकार एक ज़िले को कई सर्किलों या मंडलों में बांट देगी और उनमें से प्रत्येक मंडल में एक पञ्चायती अदालत रक्खेगी। इस पञ्चायती अदालत में प्रत्येक गांव सभा पाँच पञ्च भेजेगी, जिनको वह स्वयम् चुनेगी।

एक मंडल के अन्तर्गत सब गांव सभाओं के पञ्च मिलकर एक 'पंच मंडल' या पञ्चायती अदालत बनावेंगे। यह मंडल अपना एक सरपञ्च भी चुनेगा।

सरपंच का पढ़ा लिखा होना आवश्यक होगा

प्रत्येक मुकदमें के लिये सरपञ्च पञ्च मंडल में से पांच पञ्चों की एक बेंच बनादेगा, जिसमें से एक दावा करने वाले के गांव का होगा और दूसरा अभियुक्त या प्रतिवादी के गांव का होगा, बाकी तीन तीसरे किसी गांव के होंगे।

कोई भी पञ्च या सरपञ्च उस अदालत में नहीं बैठ सकता, जिसमें उसका कोई रिश्तेदार, नौकर, मालिक या साझीदार एक फ़रीक़ होगा। इन अदालतों में वकील लोग पैरवी के लिये नहीं जा सकते।

पंचायती अदालत के अधिकार

१—पञ्चायती अदालत को ताज़ीरात हिन्द (Indian Penal Code) की नीचे दी हुई धाराओं या दफ़ाओं के अन्दर किये गये अपराधों से सम्बन्ध रखने वाले मुक़दमे फैसल करने का अधिकार होगा :—

धाराएं या दफ़ाएं १४०, १६०, १७२, १७४, १७६, २७७, २७६, २८३, २८५, २८६, २८६, २६०, २६४, ३२३, ३३४, ३३६, ३४१, ३५२, ३५६, ३५७, ३५८, ३७६, ४०३, ४११, ४२६, ४२८, ४४७, ४४८, ५०४, ५०६, ५०६, तथा ५६६।

३७६, ४०३, ४११ धाराओं वाले अपराधों में रक़म ५०) रु० से अधिक नहीं होनी चाहिये।

२—मवेशियों द्वारा की गई क्षति (Cattle Tresspass) क़ानून की धारा २० व २४ के अन्दर होने वाले अपराध।

३—संयुक्त प्रान्त के ज़िला बोर्ड—प्राइमरी—शिक्षा क़ानून १६२६ के अन्दर होने वाले अपराध।

४—जुआ ऐक्ट १८६७ की धाराएं ३, ४ व ७ के अन्दर होने वाले अपराध।

५—अदालत के क्षेत्र के अन्दर सभी गाँवों में होने वाले दीवानी अपराधों की सुनवाई इन अदालतों में होगी यदि १००) रु० से अधिक का मामला नहीं है। प्रान्तीय सरकार किसी अदालत को ५००) रु० तक के मुक़द्दमे करने की आज्ञा दे सकती है।

अदालत के कार्य का ढंग

मुकदमा सरपञ्च के पास ज़बानी और लिखकर पेश किया जा सकता है। उसके साथ मुकद्मे की फ़ीस भी जमा करनी होगी। सरपञ्च की अनुपस्थिति में उसके स्थान पर काम करने वाले पञ्च के सामने मुकदमा पेश किया जा सकता है। यदि मुकदमा ज़बानी शिकायत के रूप में है तो सरपञ्च उसे तुरन्त लिख लेगा और शिकायत करने वाले का हस्ताक्षर या निशानी अंगूठा ले लेगा। इसके पश्चात् सरपञ्च एक अदालत पाँच पञ्चों की नियुक्त कर देगा, और मुक़दमा सुनने की तारीख़ व दिन भी निश्चित कर देगा, जिसकी सूचना वह दोनों फ़रीक़ के पास भेज देगा। यदि दो में से कोई फ़रीक़ समय पर उपस्थित न होगा तो भी मुकदमा फैसल कर दिया जावेगा।

इस पञ्चायत राज्य ऐक्ट को पास करके प्रान्तीय सरकार ने इस प्रान्त में सच्चे स्वराज्य की वास्तविक नींव डाल दी है इसमें तो कोई सन्देह नहीं, पर हमारे गांव वाले कहां तक उसको सफल वना सकेंगे यह उनकी शिक्षा, धर्म बुद्धि तथा प्रेममय व्यवहार और संगठन शक्ति पर निर्भर है। यदि पञ्चायतों और पञ्चायती अदालतों में अच्छे लोग चुनकर भेजे गये तब तो काम ठीक होगा अन्यथा वही पतित दशा उनकी हो जायगी जो सदर की कचहरियों की होगई है। जिनसे न तो न्याय हो सकेगा और न उन्नति और शान्ति की उचित व्यवस्था हो सकेगी। जब तक शिक्षा और शुद्ध सच्चे धर्म का प्रचार नहीं होता स्थिति निराशा जनक है।

पञ्चों का चुनाव सब जाति के लोगों ने मिलकर बालिग़ मताधिकार द्वारा किया है।

अल्प संख्यक (Minorities) तथा परिगणित (Scheduled) जातियों के लिये ग्राम पञ्चायतों में तो स्थान जन-संख्या के अनुपात से नियत कर दिये गये हैं पर पञ्चायती अदालतों में नहीं।

हमारे प्रान्त की जनसंख्या ५५३ करोड़ है, जिसमें से २ करोड़ ७६ लाख व्यक्तियों को चुनाव में मत देने का अधिकार है प्रान्त भर में ३५,००० पञ्चायतें और ८१०० पञ्चायती अदालतें हैं। पञ्चायतों के सदस्यों की संख्या १६ लाख और पञ्चायती अदालतों के सदस्यों की संख्या १ लाख कुछ हज़ार हैं।

प्रश्न

(१) 'पंचायत राज ऐक्ट' कब और किसने पास किया ? इसकी क्यों आवश्यकता पड़ी ? समझाइये।

(२) 'गांव सभा' का संगठन कैसे किया जा रहा है ? यह अपना काम कैसे करेगी ?

(३) 'गांव पंचायत' क्या है ? इसके कर्त्तव्य पूर्ण रूप से समझाइये। भारतीय ग्रामीण जीवन में इसका क्या महत्व है ? (१९४७)

(४) 'गांव कोष' का क्या अर्थ है ? इसमें रुपया कहां से आएगा ?

(५) 'पंचायत अदालत' कैसे बनाई जाती है ? इसके अधिकार और कार्य्यप्रणाली बताइये।

(६) " 'पंचायत राज ऐक्ट' से गांव को वास्तव में स्वराज्य मिल गया है" इस विचार से आप कहां तक सहमत हैं ? अगर नहीं तो गांवों में पूर्ण स्वराज्य लाने के लिये और क्या होना चाहिये ?

———

इकतीसवाँ अध्याय

सहकारिता का प्रारम्भिक ज्ञान

(Elementary Notions About Co-operation)

सहकारिता का अर्थ और महत्व

आजकल आर्थिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्पर्द्धा या मुक़ाबले (Competition) का बहुत जोर है और हर एक व्यक्ति और समूह दूसरे की अपेक्षा अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहता है। अतः ग़रीब किसानों और मजदूरों तथा छोटे-छोटे कारीगरों और व्यापारियों को बड़ा कष्ट है। किसान को बड़े और अमीर जमींदार से लगान का मामला अकेले एक असहाय अवस्था में तय करना होता है। मजदूर को अपने मालिक से मजदूरी का मामला अकेले ही तय करना होता है। इसी प्रकार वस्तु मोल लेने वाले को व्यापारी से अकेले ही मूल्य के मामले में भिड़ना पड़ता है। किसान को अपनी फ़सल बेचने में व्यापारी से झगड़ना पड़ता है। फिर किसान को रुपिया उधार लेने के लिये महाजन से ब्याज की दर के लिये झक-झक करनी पड़ती है। इन सब अवसरों पर परिणाम प्रायः यही होता है कि अमीर जमींदार, महाजन, मालिक, व्यापारी सब अपनी अमीरी या अच्छी आर्थिक अवस्था के कारण और एक तर्फा स्पर्द्धा के कारण दूसरे पक्ष की ग़रीबी और असहाय अवस्था से बराबर लाभ उठाते हैं।

यही कारण है कि बिचारे ग़रीब अपढ़ किसान से ज्यादा से ज्यादा लगान, नजराना और बेगार जमींदार ले लेता है। महाजन अधिक

से अधिक ऊँची दर पर व्याज ले लेता है, व्यापारी नीचे से नीचे मूल्य पर किसानों की फ़सल मोल ले लेता है और अपनी वस्तुयें ऊंचे से ऊँचे मूल्य पर उसके हाथ बेच लेता है। इसी प्रकार मिल मालिक कम से कम मजदूरी ग़रीब मजदूर को देता है।

इन सब कठिनाइयों से बचने का केवल एक उपाय एक सिद्धान्त है, जिस पर सारा संसार अब जोर दे रहा है और वह है ग़रीबों और निर्बलों का एक मात्र सहारा सहकारिता (Co-operation) अर्थात् मिलजुल कर कार्य करना। स्पर्द्धा (Competition) के सारे दोषों को दूर करने वाला यही सहकारिता (Co-operation) का सिद्धान्त है, जो इस युग का एक महान आन्दोलन है, और जिसका उद्देश्य दीन निर्धन और पद दलित जनता का उत्थान करना है। स्पर्द्धा ग़रीबी और शोषण के घोर अन्धकार में 'सहकारिता आन्दोलन' Co-operative movement ही ज्योतिर्मयी आशा की किरण है, जिसके बल पर प्रजातन्त्र तथा साम्यवाद ऐसे बड़े-बड़े राजनैतिक आन्दोलन संसार में एक नई क्रान्ति मचाकर किसानों और मजदूरों के लिये एक नवीन स्वर्गीय जीवन का मार्ग निकाल रहे हैं।

सहकारी संगठन या सहकारिता (Co-operation) उन मनुष्यों का एक ऐच्छिक संगठन है जो अपनी आर्थिक सामाजिक और नैतिक उन्नति के लिये मिलजुल कर काम करते हैं।

वास्तव में यह सिद्धान्त कोई नया सिद्धान्त या नवीन सत्य आधुनिक संसार ने खोज करके नहीं निकाला है। भारत वर्ष तो सृष्टि के आदिकाल से इसको जानता है और प्राचीन काल से ही इसके अनुकूल अपना सारा कार्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में करता रहा है। हमारे सम्मिलित परिवार में, हमारी वर्ण व्यवस्था में, हमारी जाति और ग्राम

पंचायतों में यही सहयोग, सहकारिता और सौहर्दय का सिद्धान्त ही तो प्रकट होता रहा है।

हमारी सब से मान्य धर्म पुस्तक वेद में भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि कई वेद मंत्रों में की गई है।

'योग' या 'सहयोग' पर तो हमारा सारा दर्शन शास्त्र निर्भर है। फिर भी दुःख इस बात का है कि धीरे-धीरे अन्य जातियों के और पाश्चात्य वैयक्तिक विचारों और स्वार्थमय संस्कारों से हमारी संस्कृति और सभ्यता में हमारी प्राचीनतम उच्च संस्थाओं में एक विकृति एक शिथिलता और एक कट्टरता आगई जिसने हमें हर तरह से बरबाद और पतित कर दिया।

अतः आधुनिक संसार के इस बात के लिये हम अवश्य ऋणी हैं कि उसने उसी प्राचीन सिद्धान्त को एक नया रूप और कलेवर देकर 'सहकारिता' के वेश में हमारे सामने उपस्थित किया है।

अब एक उदाहरण द्वारा हम यह समझायेंगे कि इस सहकारिता से किसानों या मजदूरों को कैसे लाभ हो सकता है। देखिये हर एक किसान को कपड़ा शहर से खरीदना पड़ता है और वह अकेले अकेले प्रथक-प्रथक दूकानदारों और बजाजों से जाकर मोल तोल करता है और खूब ठगा जाता है। ||) गज का कपड़ा उसे |||) और १) रु० गज में मिलता है और वह अपनी अज्ञानता और सरलता के कारण इतनी हानि उठाता है और लुटता है। अब अगर हम एक गांव के किसानों की इस कपड़े वाली हानि का साल भर का अनुमान लगावें तो हम देखेंगे कि कुल हानि २००) या ३००) से कम न होगी और यह किसानों की हानि बजाजों का बैठे-बैठे मुफ्त में लाभ बन गई। सहकारिता द्वारा यह सब हानि बचाई जा सकती हैं और ऊपर से उन्हें कुछ लाभ भी और हो सकता है और वह इस प्रकार :—

उस गाँव के किसान मिलकर एक 'सहकारी स्टोर' (Cooperative Store) या दूकान खोलते हैं। कुछ रुपिया वे स्वयम् जमा करते हैं और कुछ केन्द्रीय सहकारी बैंक से कम ब्याज पर कर्ज लेते हैं और अनुमान लगाकर जितना कपड़ा साल भर जिस-जिस प्रकार का जरूरी होता है उसे सीधे कानपुर के किसी कारखाने से थोक माल के मूल्य पर खरीद लेते हैं, जो उन्हें उसी दाम पर मिल जाता है। जिस पर बजाज लोगों को थोक माल खरीदने में मिलता है। मान लीजिये वही कपड़ा ।≥) गज में मिल से मिलता है।)॥ फ़ी गज़ उसपर कुल खर्चा पड़ जाता है। इस प्रकार वह ।≥)॥ प्रतिगज़ उन्हें स्टोर में पड़ा, अब अगर वे उसे सहकारी स्टोर के सदस्यों को ॥) या ॥)॥ गज बेचें तो यह ―) या)॥ गज़ का स्टोर को लाभ होगा। यह कुल लाभ स्टोर के सदस्यों को हुआ और यदि वे चाहें तो साल के अन्त में उसे बांट लें या स्टोर में पूँजी बढ़ाने के लिये जमा रहने दें। इस प्रकार सहकारिता से किसानों को बहुत लाभ हुआ और कपड़ा भी आसानी से और अच्छा मिल गया। बजाजों की लूट से भी बच गये।

एक और उदाहरण लीजिये। यह बताया जा चुका है कि ऋण की समस्या किसानों के लिये एक विकट समस्या है वे १००) रुपये २००) रुपये प्रति सैकड़ा ब्याज देकर भी महाजन से कर्जा लेते हैं और उसके गुलाम बने रहते हैं।

अब अगर गाँव के किसान मिलकर एक 'सहकारी ऋण समिति' अपने गाँव में बनालें तो उन्हें बड़ी आसानी से बहुत कम ब्याज की दर पर कर्जा मिल जाय और उनका सब आवश्यक कार्य मजे में चल जाय। इस प्रकार की समिति का आगे उचित स्थान पर वर्णन किया जायगा। ऐसी ऋण समिति शहर के सहकारी बैंक से १२) प्रति सैकड़ा सालाना की ब्याजदर पर जितना रुपिया उसे आवश्यक होता है सब सदस्यों की सम्मिलित जिम्मेदारी पर ले लेती है, और सदस्यों को

आवश्यकतानुसार १५) रुपये या अधिक से अधिक १७॥) प्रति सैकड़ा सालाना ब्याज पर दे देनी है। साल के अन्त तक वह रुपिया और ब्याज सदस्य लोग समिति को लौटाल देते हैं। अब अगर १५) प्रति सैकड़ा ब्याज किसानों से समिति को मिला और केवल १२) प्रति सैकड़ा बैंक को देना पड़ा तो ३) प्र० सै० समिति का साल भर में लाभ हुआ। इसे भी यदि सदस्य चाहें तो बांट लें नहीं तो जमा रहने दें, जिसमें समिति की पूँजी बड़े और भविष्य में सदस्यों को भी अधिक लाभ का रुपिया मिल सके।

तो इस प्रकार आपने देखा कि कितने कम ब्याज पर किसानों को अपनी सहकारी ऋण समिति से रुपिया कर्ज़ मिला और कुछ लाभ भी हुआ

इसी प्रकार आजकल सहकारिता से बहुत से आर्थिक और सामाजिक लाभ संसार भर में उठाये जा रहे हैं। हमें भी अपने देश में, विशेष कर गाँवों में इस महान आन्दोलन से शीघ्र से शीघ्र और अधिक से अधिक लाभ उठाने की चेष्टा करनी चाहिये। योरुप, रूस, अमरीका आदि के निवासियों ने इससे अगणित लाभ उठाये हैं। और जनता में इससे एक नया बल और जागृति पैदा हो गये हैं।

हमें आशा है कि शिक्षा के प्रचार के साथ-साथ हमारे भारतीय किसान और मजदूर भी उससे लाभ उठायेंगे।

सहकारी सिद्धान्त का प्रयोग

आर्थिक जीवन में सहकारी सिद्धांत भिन्न २ देशों में कई प्रकार से प्रयोग में लाया गया है अर्थात् उपभोग, उत्पत्ति, विनियम और वितरण के क्षेत्रों में तथा सामाजिक सुधार के लिये भी इसके मुख्य रूप नीचे दिये जाते हैं :—

(१) उपभोक्ताओं की सहकारी समितियां।
(consumers cooperative Societies or Stores)

अभी हमने किसानों के कपड़े का उदाहरण लेकर समझाया था

कि किस प्रकार बजाज लोग बिचारे गाँव वालों को लूटते हैं वे कपड़ा भी अच्छा नहीं देते और दाम भी ज़्यादा लेते हैं। इसी प्रकार दैनिक जीवन की सारी वस्तुएं जो किसानों को बाजार से मोल लेनी पड़ती हैं खराब और मंहगी मिलती हैं। व्यापारी और सौदागर उन्हें उत्पादकों से थोक में सस्ते दाम पर खरीदते हैं और जनता के हाथ फुटकर महंगे दामों पर बेंचते हैं।

दूध, घी, चीनी, कड़वा तेल, आटा सब चीजों में आजकल मिलावट होती है। अतः उपभोक्ताओं को दोहरा नुकसान उठाना पड़ता है। अतएव इन लोगों के शोषण से बेचने के लिये तथा अच्छी और सस्ती चीज़ें पाने के लिये उपभोक्ता लोग एक सहकारी समिति, साधारणता उपभोक्ताओं की सहकारी समिति या स्टोर (coop. consumers Store) कहते हैं, खोल लेते हैं। इसमें सीधे उत्पादकों से थोक में सस्ते दामों पर अच्छा माल खरीद लिया जाता है और बाजार भाव पर सदस्यों को बेचा जाता है। जो लाभ होता है वह साल के अन्त में सदस्यों को बांट दिया जाता है। इस प्रकार उपभोक्ता समितियां मध्य पुरुष या बिचवनियों (middlemen) को अर्थात् थोक में लेकर फुटकर माल बेचने वालों को एक दम निकाल देती हैं और जो लाभ उन्हें होता था वह स्वयम लेती हैं। इस प्रकार इन समितियों के द्वारा उपभोक्ताओं का बड़ा कल्याण होता है। उन्हें अच्छी शुद्ध वस्तुएं सस्ते दामों पर मिल जाती हैं। और इसके अतिरिक्त कुछ लाभ भी और हो जाता है।

(२) उत्पादकों की सहाकारी समितियां
(Producers Co-operative Societies)

हमने पिछले अध्यायों में देखा है कि हमारी खेती बहुत पिछड़ी हुई है और हमारी पैदावार भी बहुत कम है। उसके कई कारण बताएँ गये हैं, उनमें कुछ पूँजी सम्बन्धी कारण भी हैं। जैसे खेती में

नई मशीनों का प्रयोग, सिंचाई के लिये ट्यूब वेल का प्रयोग या अच्छी कीमती खाद का प्रयोग।

अब यह सब वस्तुयें प्रत्येक किसान अलग २ खेती करके कभी भी प्रयोग नहीं कर सकता। यदि एक गाँव के किसान मिलकर एक उत्पादक "कृषि सहकारी-समिति" खोल लें तो उनकी शक्ति बढ़ जाती है। वे सहकारी बैंकों मे सहायता लेकर या सरकार से सम्मिलित ज़िम्मेदारी पर सहायता लेकर खेतों की चकबन्दी करा सकते हैं। ट्यूब वेल (Tube-well लगवा सकते हैं, ट्रैक्टर खरीद सकते हैं या किराए पर कृषि विभाग से ले सकते हैं या अच्छे हल बैल बीज और खाद सब चीज़ें आसानी से ले सकते हैं। अपनी फ़सल को अच्छे अवसर पर बेच सकते हैं और यथेष्ट लाभ उठा सकते हैं, ज़मीन भी सस्ते लगान पर सरकार के द्वारा पा सकते हैं। इस प्रकार वे ज़मींदार, महाजन, व्यापारी आदि सभी शोषकों से बच सकते हैं और खूब माल पैदा करके लाभ उठा सकते हैं। इसी प्रकार किसी वस्तु को उत्पन्न करने के लिये उत्पादक सहकारी समितियां बनाई जा सकती हैं। रूस, इटली, डेनमार्क आदि में इस प्रकार की समिति बहुत काम कर रही हैं।

(३) सहकारी ऋण समितियाँ (Co-op. Credit Societies)

अभी ऊपर एक उदाहरण में यह दिखलाया गया था कि ऐसी समिति से किसानों को सस्ते ब्याज की दर (१२) प्रति सैकड़ा) पर रुपिया अन्य सहकारी बैंकों से मिल जाता है और वे उसे कुछ अधिक ब्याज (१५) या १७) प्रति सैकड़ा) पर सदस्यों को देती हैं। इस प्रकार शेष रुपिया समिति का लाभ हो जाता है। और महाजन से सदस्यों का पीछा छूट जाता है।

इन समितियों का हमारे देश में सब से अधिक प्रचार हुआ है। और इनके कारण हमारे किसान महाजनों के अत्याचारों से बच सके

हैं। और उन्होंने समितियों में कुछ रुपिया बचा कर जमा भी किया है, जिससे उनकी पूँजी बढ़ रही है।

(४) अन्य प्रकार की सहकारी समितियाँ
(Other kinds of cooperative Societies)

ऊपर वर्णित तीन प्रकार की सहकारी समितियाँ तो मुख्य हैं। पर इनके अतिरिक्त और भी कई प्रकार की समितियाँ हैं, जिन से जनता को बहुत लाभ अन्य देशों में हो रहा है। हमारे देश में भी वे कुछ काम कर रही हैं।

उदाहरण के लिये "चकबन्दी सहकारी समितियाँ"
(Co-operative Consolidation of holding Societies)

घर निर्माण सहकारी समितियाँ (Co-operative Housing Societies) गाय बैलों की नशल में उन्नति करने वाली समितियां (Co-op. cattla Breeding Societies) 'रहन सहन में सुधार करने वाली समितियां' (Co-op. Better Living Societies) इत्यादि। इनका सविस्तार वर्णन आगे किया जायगा।

सहकारिता के मूल सिद्धान्त :—

(१) एकता—मानव समाज के गरीब और पद दलित दुखी लोग एकता के सूत्र में बँध जाने से सबल और धनी हो सकते हैं, एका में बड़ी शक्ति है। अतएव आर्थिक व सामाजिक उन्नति के लिये एकता बहुत ही आवश्यक है।

(२) समानता—सब लोग, चाहे वह अमीर हों और चाहे गरीब, चाहे वह नीची जाति के हों या ऊँची जाति के, सहकारिता की दृष्टि से बराबर हैं। अतः सहकारी समितियों में ऊँच नीच का कोई विचार नहीं होता सब सदस्यों के अधिकार बराबर हैं।

(३) समपिता और सहानुभूति—सहकारिता के लिये यह आवश्यक है कि एक समिति के सदस्य एक दूसरे से परिचित हों और एक दूसरे के सुख दुख में शामिल हों और सहायता दें।

(४) मितव्ययता तथा सेवा भाव—सहकारी समिति में अवैतनिक कार्य पर ही जोर दिया जाता है। इससे समिति का कार्यक्रम खर्च में चलता है और सदस्यों में समाज की निस्वार्थ सेवा का भाव जागृत होता है।

(५) प्रजातन्त्रवाद—सहकारी समिति में प्रजातन्त्र या जनतंत्र के सिद्धान्त पर काम होता है। अधिकारीगण निर्वाचित होते हैं। अतएव इससे स्वराज्य की या स्वायत्त शासन की शिक्षा भी सदस्यों को मिलती है।

भारत वर्ष और सहकारिता आन्दोलन

(India & Co-operative movement)

भारत वर्ष में गांवों और किसानों की उन्नति के लिये ही सहकारी आन्दोलन को चलाने का प्रश्न उठाया गया। सन् १८८४ में सर विलियम वेडेरवर्न ने भारत सरकार को पहले २ यह सुझाव दिया कि किसानों की आर्थिक दशा को सुधारने के लिये इस देश में सहकारी आन्दोलन चलाया जाया जाय। पर ब्रिटिश सरकार ने भारत सरकार को ऐसा करने की अनुमति नहीं दी। किसानों की दशा दिन व दिन खराब होती गई जिसे देखकर सन् १८९२ में मद्रास सरकार ने ओर विशेष ध्यान दिया। उसने सर फेड्रिक निकलसन को सहकारी आन्दोलन को योरोप में अध्ययन करने के लिये भेजा। और उनसे अनुरोध किया कि किसानों की ग़रीबी दूर करने और उनकी आर्थिक सुधारने के लिये सहकारी सिद्धान्त के अनुकूल एक योंजना बनावें।

लगभग गत शताब्दी के अन्त में उन्होंने अपनी रिपोर्ट, योरुप

का भ्रमण करने के बाद, मद्रास सरकार का ही जिसमें इस आंदोलन को यहां चलाने की सलाह दी गई।

उसी समय श्री रानाडे तथा सर मैकडानल ने भी सहकारी ऋण समितियों के खोले जाने पर विशेष जोर दिया। अन्त में मद्रास सरकार के परामर्श से भारत सरकार ने सन् १६०१ में एक कमेटी नियुक्त की जिसका कार्य यह था कि वह इस बात की जांच पड़ताल करे कि सहकारी आन्दोलन भारत में कहां तक सफल हो सकता।

इस कमेटी की रिपोर्ट अनुकूल होने पर ला० कर्जन ने भारतीय धारा सभा में सन् १६०३ में सहकारी आन्दोलन सम्बन्धी एक बिल पास कर वाया, जो १६०४ में प्रथम सहकारी ऐक्ट बन गया और उसके अनुसार सहकारी ऋण समितियाँ भारतवर्ष में खोली गई।

सन् १६०४ का सहकारी-ऋण-समिति कानून।

इस कानून के मुख्य लक्षण :—

(१) इसके अनुसार किसी गांव या शहर के कोई १० व्यक्ति मिल कर एक सहकारी ऋण-समिति खोल सकते थे।

(२) यह समिति केवल रुपिया उधार लेने और देने का ही कार्य कर सकती थी। और कोई कार्य यह नहीं कर सकती थी ?

(३) इस क़ानून के अनुसार ऋण-समितियों का विभाजन ग्रामीण और शहरी समितियों में किया गया।

(४) यह सरकार से रुपिया उधार ले सकती थी और अपने सदस्यों को रुपिया उधार दे सकती थी।

(५) यह सरकार और अन्य व्यक्तियों का रुपिया जमा भी कर सकती थी।

(६) इसके हिसाब किताब की जांच और निरीक्षण सरकार मुफ्त में करती थी।

इस कानून के पास होते ही सहकारी समितियाँ खूब जोरों से चढ़ने लगी।

सन् १९१२ में दूसरा सहकारी क़ानून भारत सरकार ने बनाया जिसके अनुसार,

(१) ऋण-समितियों के अतिरिक्त और भी सब प्रकार की समितियां खोलने का अधिकार लोगों को मिल गया।

(२) समितियों का विभाजन वैज्ञानिक ढङ्ग से किया गया अर्थात् उन्हें परिमित उत्तरदायित्व (Limited Liability) और अपरिमित उत्तरदायित्व (Unlimited Liability) वाली समितियों में विभाजित किया गया।

(३) इस क़ानून के अनुसार ऋण-समितियों को कुछ विशेष अधिकार और सुविधाएँ भी मिल गईं। जो नीचे दी जाती हैं :—

(क) यदि सहकारी समिति के अतिरिक्त और किसी का भी ऋण हों तो समिति को उनकी पैदावार भी जायदाद से प्रथम रुपिया वसूल करने का अधिकार होगा। कोई दूसरा साहूकार उनकी फसल को उस समय तक कुर्क नहीं करवा सकता जब तक समिति का रुपिया न चुकता कर दिया जाय।

(ख) सहकारी समिति को अधिकार है कि अपने ऋण के कारण बिना कचेहरी से डिग्री लिये ही तहसीलदार की सहायता से ऋणी सदस्य के माल की कुर्की कराले।

(ग) सहकारी समितियों के लेन देन के कागजों और रुक्कों पर सरकारी टिकट (stamp) लगाने की आवश्यकता नहीं होतीं।

(घ) हिस्से का रुपिया (share money) किसी लेनदार को ऋण चुकाने में नहीं दिया जा सकता।

(ङ) सरकार द्वारा नियुक्त अफसरों द्वारा समितियों का निरीक्षण और हिसाब किताब की जांच मुफ़्त हो जाती है।

सहकारी समितियों का हमारे देश में निम्न प्रकार से विभाजन होता है :—

- सहकारी समितियां (Co-oprative Societies)
  - प्रारम्भिक समितियाँ (Primary Societies)
    - साख या ऋण-समितियां (Credit Societies)
      - कृषि-ऋण समितियां (Agricultural Credit Societies)
      - ग़ैर-कृषि-ऋण समितियां (Non-Agricultural Credit Societies)
    - ग़ैर साख या ग़ैर ऋण समितियां (Non-Credit Societies)
      - कृषि-सम्बन्धी (Agricultural)
      - अन्य (Non-Agricultural)
  - केन्द्रीय समितियाँ (Central Societies) Nuistitutions
    - (१) सहकारी यूनियन (Co-op-Unions)
    - (२) सहकारी केन्द्रीय बैंक (Co-op-Central Banks)
    - (३) सहकारी प्रान्तीय बैंक (Co-op. Provincial Bank)

सन् १९४२—४३ भारतवर्ष में भिन्न २ प्रकार की सहकारी समितियां की संख्या नीचे की तालिका में दी जाती है :—

समिति	संख्या १९४२—४३	सदस्यों की संख्या	
		समितियां १९४२—४३	मनुष्य
प्रान्तीय बैंक	८	१७३५७	८४२३१
केन्द्रीय बैंक	४७८	९८०३२	६९०६५
यूनियन	४३१	२८४५९	
कृषि सम्बन्धी	१२६३०५		४६१३२६१
अन्य	१८८१९		२२९८७४२

प्रश्न

(१) सहकारी आन्दोलन का भारतीय जनता के लिये क्या महत्व है ? इसके मूल सिद्धान्त क्या हैं ?

(२) भारतवर्ष में सहकारी आन्दोलन क्यों और कैसे चलाया गया ?

(३) सहकारी सिद्धान्त का प्रयोग कितने प्रकार से किया जा रहा है ?

(४) हमारे देश में सहकारी समितियों को किस प्रकार विभाजित किया गया है ? उनका मुख्य अन्तर समझाइये ।

—

छत्तीसवाँ अध्याय

प्रारम्भिक ऋण सहकारी समितियाँ

(Primary Agricultural Credit Societies)

गत पृष्ठ पर यह बताया जा चुका है कि हमारे देश में प्रारम्भिक समितियां ही अधिक हैं और उनमें भी लगभग ६० प्रति सैकड़ा सहकारी समितियां साख या ऋण समितियां हैं और वे मुख्यतः गांवों में खुली हैं। इससे यह पता चलता है कि ऋण-सहकारिता का कृषि से और कृषक से कितना गहरा सम्बन्ध है।

प्रारम्भिक समितियाँ

ग्रामीण सहकारी आन्दोलन का मूल आधार हैं, बल्कि वे अखिल भारतीय सहकारी आन्दोलन की नींव कही जा सकती हैं। इनके सदस्य व्यक्ति हैं और वे व्यक्ति अधिकतर किसान हैं। केन्द्रीय सहकारी समितियां—यूनियन और बैंक अधिकतर नगरों में है, जो प्रारम्भिक ऋण समितियों की आर्थिक सहायता करती हैं उनको सलाह देती हैं और उनके काम की देख भाल करती रहती हैं। यह प्रारम्भिक समितियाँ केन्द्रीय सहकारी बैंकों की मेम्बर या सदस्य होती हैं, जिससे उन्हें उनसे ऋण लेने का अधिकार प्राप्त होता है। शहरों में सहकारी ऋण-समितियां कृषकों के लिये नहीं होतीं। वे प्रायः मजदूरों, दस्तकारों और क्लर्कों आदि के लिये खोली जाती हैं।

प्रारम्भिक ऋण समितियों के मुख्य लक्षण :—

(१) समिति का आकार

एक प्रारम्भिक ऋण समिति में कम से कम १० सदस्य होना

ज़रूरी है। कोई १० ग्रामीण व्यक्ति इस समिति के स्थापित करने के लिये सहकारी समितियों के रजिस्टार (Registar of Co-op. societies) के अपने प्रार्थना पत्र भेज सकते हैं। जहाँ तक हो सके १०० से अधिक सदस्य न हों तो अच्छा है इससे काम में कठिनाई नहीं होती।

(२) कार्यक्षेत्र

इसका कार्य क्षेत्र सीमित होता है। एक गांव में एक समिति का नियम ठीक है और यहां ऐसा ही है भी।

(३) सदस्यों के गुण

सदस्यों का आचार अच्छा होना चाहिये, चोर डाकू, शराबी, जुआरी व्यक्तियों को सदस्य नहीं बनाया जाता। सदस्य लोग एक दूसरे को जानते हों और वयस्क हों। बच्चे सदस्य नहीं हो सकते। जहाँ तक हो सके सदस्य एक ही जाति या स्थिति के हों तो बहुत अच्छा हो।

(४) उत्तरदायित्व या जिम्मेदारी
(Liability)

समिति के सदस्यों का उत्तरदायित्व व्यक्तिगत और सामूहिक है, अर्थात् जो कर्जा समिति केन्द्रीय बैंक से लेती है उसकी कुल की जिम्मेदारी प्रत्येक सदस्य की अलग-अलग भी है और सब के साथ मिलकर भी है।

दूसरी बात यह है कि यह उत्तरदायित्व अपरिमित (Unlimited liability) है। अर्थात् समिति का कर्जा चुकाने के लिये प्रत्येक सदस्य अपनी अन्तिम पाई तक जिम्मेदार है। और इसलिये किसी एक सदस्य से ही समिति का सारा बाहरी कर्ज़ा वसूल किया जा सकता है।

अपरिमित उत्तरदायित्व से दो लाभ हैं :—

(क) इससे समिति पर बाहर वालों का विश्वास बढ़ जाता है। इनकी साख (Credit) बढ़ जाती है।

(ख) प्रत्येक सदस्य अन्य सदस्यों की देख भाल और जानकारी रखता है, जिसमें वह ऋण का दुरुपयोग न कर सके या उसके अदा करने में असमर्थ न हो जाय।

(५) प्रबन्ध

इसका प्रबन्ध दो समितियों के हाथ में है। अर्थात् साधारण समिति जिसमें सब सदस्य होते हैं और प्रबन्धक या कार्यकारिणी समिति, जिसमें केवल पाँच से नौ चुने हुए सदस्य होते हैं। यह पंचायत भी कहलाती है। इसका एक सरपञ्च भी होता है जो साधारण समिति का सभापति भी होता है।

साधारण सभा या जेनरल कमेटी के काम :—

१—यह एक सेक्रेट्री या मन्त्री को नियुक्त करती है। यह मन्त्री साधारण तथा ग्रामीण-स्कूल-मास्टर होता है, जो सभा का हिसाब किताबतथा कार्यवाही रखता है और कुछ रुपिया वेतन के रूप में पाता है। वह समिति का सदस्य नहीं होता।

२—सारी समिति तथा प्रत्येक व्यक्ति की अधिक से अधिक साख निर्धारित करती है। अर्थात् वह कितना कर्ज़ा ले सकती है या ले सकता है।

३—सालाना आय व्यय का हिसाब पास करती है।

४—आवश्यकता पड़ने पर सदस्यों को निकाल सकती है।

प्रबन्ध कमेटी या पंचायत के कार्य :—

(१) समिति नित्य प्रति का कार्य का उत्तरदायित्व इस पर होता है।

(२) यह नये सदस्यों को बनाती है।

(३) सदस्यों के ऋण वाले प्रार्थना पत्र पर विचार करती है।

(४) सदस्यों से ऋण और ब्याज वसूल करती है।

(५) समिति के लिये धन एकत्रित करती है।

(६) सेक्रेट्री के हिसाब का निरीक्षण करती है।

समिति के सब कार्य अवैतनिक (Honorary) होते हैं। सेक्रेट्री समिति का सदस्य नहीं होता। उसे कुछ वेतन मिलता है।

तीन कारणों से सदस्यों को कार्य के लिये वेतन नहीं दिया जाता :—

(१) वेतन देने से समिति का खर्चा बढ़ता है।

(२) अवैतनिक कार्य से सार्वजनिक सेवा भाव उत्पन्न होता है।

(३) समिति में काम बहुत थोड़ा होता है, इसलिये वेतन देकर उसे करवाना ठीक नहीं।

(६) पूँजी

इस समिति का मुख्य उद्देश्य सदस्यों को सस्ते ब्याज की दर पर रुपिया उधार देना है। अतएव उसे पूँजी की विशेष आवश्यकता रहती है।

यह पूँजी समिति को निम्न साधनों द्वारा प्राप्त होती है :—

१—केन्द्रीय सहकारी संस्थाओं (बैंकों) से ऋण।

२—सरकार से ऋण।

३—अन्य समितियो से ऋण और डिपाज़िट का कर्ज़ा।

४—अपने सदस्यों की जमा की हुई बचत (Deposits)

५—प्रवेश फीस।

६—शेयरों हिस्सों) का रुपिया, और

७—सुरक्षित कोष (Reserve Fund)

इन समितियों को पूंजी मुख्यतः पहले तीन साधनों से आती है और इनमें भी केन्द्रीय सहकारी संस्थायें विशेष महत्व रखती हैं। सरकार अब बहुत कम ऋण देती है।

सदस्यों के डिपाजिट बहुत कम होते हैं। प्रवेश फीस भी नाम मात्र को होती है।

कुछ प्रान्तों में जैसे उत्तर प्रदेश, पंजाब व मद्रास में समिति की हिस्सा-पूंजी (Share Capital) भी होती है। एक हिस्सा २०) का होता है। जो १० साल में २) साल के हिसाब से वसूल किया जाता है। प्रत्येक सदस्य को कम से कम एक हिस्सा अवश्य लेना होता है।

समिति के लाभ (Profits) का १० प्रतिशत तक दान में या सार्वजनिक कार्यों में लगाया जाता है और शेष का एक चौथाई 'सुरक्षित कोष' (Reserve Fund) में जमा रहता है। जो आवश्यकतानुसार समिति के काम में लाया जाता है।

(७) ऋण के उद्देश्य

(Objects of loans)

यह उद्देश्य तीन हैं :—

(१) उत्पादक कार्यों के लिये ऋण देना। जैसे हल बैल, बीज, खाद आदि या लगान की बकाया अदा करने के लिये। वास्तव में यही मुख्य उद्देश्य है। यह ऋण अल्प कालीन (१ साल) के लिये होते हैं। दीर्घ कालीन ऋण भी दिये जाते हैं, पर कम।

(२) अनुत्पादक कार्यों के लिये ऋण देना, जैसे ब्याह शादी, मुंडन, जन्म, मृत्यु आदि के लिये कर्ज़ देना नियमानुकूल और उचित नहीं है, पर किसानों को महाजन से बचाने के लिये इन कामों के लिये भी कर्ज़े दे दिये जाते हैं।

(३) पुराने पैतृक ऋणों की अदायगी के लिये भी कभी-कभी कर्ज़ा दिया जाता है।

(८) ऋण की अदायगी

ऋण का ठीक समय पर अदा कर देना बहुत आवश्यक है। इसलिये वे ऐसे समय वसूल किये जाते हैं जब फसल बेचकर किसानों को रुपिया मिलता है। कर्ज़ा न वसूल होने से समिति की साख पर आंच आती है। और दुबारा कर्ज़ा कठिनता से मिलता है। महाजन केवल ब्याज वसूल करने पर जोर देता है, पर समिति मूल और ब्याज दोनों वसूल करती है। इससे उनकी व्यापारिक बुद्धि और कार्य कुशलता बढ़ती है।

(९) लाभ का बटवारा

साधारणतया लाभ का बटवारा नहीं होता; वह सुरक्षित कोष (Reserve Fund) में जमा हो जाता है। जहां शेयर-पूंजी (Share Capital) होता है, जैसे हमारे प्रान्त में, वहां प्रारम्भिक ४ वर्षों तक लाभ का कोई भी बटवारा नहीं होता। उसके बाद हो सकता है। लाभ का लगभग १० प्रति० सैकड़ा दान पुण्य के खाते में जाता है।

(१०) सार्वजनिक हित और कार्य

सहकारी ऋण समिति (Co-op. Credit Society) लाभ में से एक भाग दान पुण्य के खाते में देती। यह रुपिया समाज की सेवा अथवा सार्वजनिक कार्यों पर व्यय किया जाता हैं। जैसे और स्कूल खोलना या किसी धर्मशाला, मन्दिर, सड़क आदि की मरम्मत कराना।

प्रश्न

(१) ऋण सहकारी समितियां के क्या उद्देश्य और कार्य हैं?

(२) कृषि-ऋण सहकारी समितियों के विशेष लक्षण संक्षिप्त रूप से लिखिये।

(३) भारतीय ग्रामीण जीवन में सहकारी ऋण समितियों का क्या महत्व व स्थान है? उनके प्रबन्ध और कार्यप्रणाली का वर्णन कीजये। (१९४७)

(४) एक ग्रामीण ऋण समिति के उत्तरदायित्व के विषय में आप क्या जानते हैं? उसमें अपरिमित उत्तरदायित्व से क्या लाभ हैं?

(५) एक सहकारी ऋण समिति का प्रबन्ध कैसे होता है? उसकी पूंजी कहां से आती है? अवैतनिक प्रबन्ध से क्या लाभ है? (१९४५)

(६) सहकारी ऋण समिति किन उद्देश्यों के लिए कर्जा देती है? क्या समिति का लाभ बाँटा जाता है? लाभ के बटवारे के विषय में आपकी क्या राय है?

तैतीसवां अध्याय

गैर-ऋण सहकारी समितियां

किसानों को खेती के लिये तथा दैनिक जीवन के निर्वाह के लिये रुपिया उधार लेने की तो ज़रूरत रहती ही है और वह उन्हें कम ब्याज पर ऋण समितियों से मिल जाता है, पर उनकी और बहुत सी आवश्यकताएँ हैं, जैसे दैनिक जीवन की वस्तुओं को मोल लेना—घी, दूध, कपड़ा, जूता, साबुन, तेल, ज़ेवर, चूड़ी, कङ्घा, शीशा यह सब उन्हें बाज़ार से और शहरों से बहुत मँहगे दामों पर खरीदना होता है।

उन्हें अपनी उपज बाज़ारों में बेचनी रहती है, खेतों की चकबन्दी करवाना है। गाय बैलों की नसल सुधारना है और उन्हें स्वस्थ रखना है, घी दूध, शकर, तेल, नाज आदि उत्पन्न करना है। रहन सहन को सुधारना है, मकान बनाना है। तो ऐसी ही बहुत सी उनकी ज़रूरतें हैं। और यह सब सहकारिता के द्वारा पूरी की जा सकती हैं और बहुत से देशों में तथा हमारे देश में भी १९१२ के क़ानून के अनुसार इन सब कामों के लिये अनेक प्रकार की सहकारी समितियां खोली गई हैं और खोली जायंगी। इन सब प्रकार की सहकारी समितियों को ग़ैर-ऋण सहकारी समितियां कहा जाता है। क्योंकि वे ऋण नहीं देती। यह दो प्रकार की है—कृषि ग़ैरऋण, और ग़ैरकृषि ग़ैरऋण समितियां।

हमारे देश में शुरु से ही कृषि ऋण सहकारी समितियों पर ही अधिक जोर दिया गया है, और गांवों में वे ही आम तौर से खोली गई हैं और अच्छा काम भी कर रही हैं। ग़ैरऋण वाली समितियां शहरों में ही ज़्यादातर खुली हैं। गांवों में बहुत ही कम हैं। इसका केवल यही कारण है कि किसानों को रुपिये की बहुत आवश्यकता रहती है। उनपर ऋण भी बहुत है और फिर अन्य ग़ैरऋण समितियोंको चलाना भी अपढ़ जनता के लिये बहुत कठिन कार्य है। यही कारण है कि जिन देशों में जनता शिक्षित है वहाँ गाँवों में भी ग़ैरऋण समितियाँ बहुत काम कर रही हैं। लेकिन अब हमारे देश में भी जैसे २ जाग्रति होती जाती है और शिक्षा बढ़ती जाती है तथा शहरों और गाँवों का सम्पर्क अधिक होता जाता है ग़ैर-ऋण समितियों गांवों में भी खुलती जाती हैं हमें आशा है कि अगली अर्धशताब्दी में गांवों में भी यह ग़ैर-ऋण सहकारी समितियां खूब फैल जावेंगी और ग्रामीण जीवन की उन्नति में विशेष भाग लेंगी।

साधारणतया प्रत्येक प्रकार के काम के लिये एक समिति होती है।

लेकिन अब हमारे देश में एक समिति ही कई काम ले लेती है। जैसे एक ऋण समिति एक गांव में मौजूद है तो वह ऋण देने का भी काम करती है, खाद और बीज तथा हल किराए पर देने का भी करती है। इसका मुख्य कारण यही है कि हमारे यहां पढ़े लिखे लोग बहुत कम हैं। यदि एक गांव में कई समितियां अलग २ काम के लिये खोली जायंगी। तो उनके ठीक २ चलाने के लिये योग्य पुरुष या स्त्री न मिलेगी। और वह बेकार हो जायंगी। इस देश की स्त्रियाँ तो इस प्रकार के सार्वजनिक कार्यों के लिये बिल्कुल बेकार हैं और पुरुष भी बहुत कम योग्य और शिक्षित हैं और विशेष कर गाँवों की सहकारी समितियों में स्त्रियाँ लाखों की संख्या में काम कर रही हैं और इसी लिये वहाँ सहकारी आन्दोलन आश्चर्य्य जनक उन्नति कर रहा है।

अतः हमारे यहाँ तो अब विद्वानों का यह मत है कि गाँवों में बहुउद्देश्य वाली समितियां (Multiple purposes Societies) खोली जायं, जिसमें कार्य कर्ताओं की कम आवश्यकता पड़े और कार्य बहुत से हो जायं। अतएव अब एक उद्देशी समितियों के स्थान में बहु-उद्देशी समितियों के खोलने के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया गया है, और कहीं २ उनका प्रयोग भी किया जा रहा है। और वे सफल भी हैं।

सहकारी क़ानून के अनुसार ग़ैर-ऋण सहकारी समितियां (Non-credit Co-op. Societies) का उत्तरदायित्व परिमित और अपरिमित दोनों हो सकता है। शहरों में इन समितियों का उत्तर-दायित्व आम तौर से परिमित ही होता है, पर गाँवों में भी ऐसी समि-तियों का उत्तरदायित्व परिमित ही होता है, क्योंकि ऋण समितियों में गाँव वालों का उत्तरदायित्व अपरिमित होता है और इससे लोग डरते भी बहुत हैं और असन्तुष्ट भी हैं।

ग़ैर सदस्यों से नियमानुसार यह ग़ैर-ऋण समितियाँ कोई सम्बंध या व्यवहार नहीं रखतीं और यदि मजबूरी होती है तो बहुत कम ऐसा करती हैं। उदाहरण के लिये सहकारी स्टोर में जब किसी सदस्यों के हाथ काफ़ी नहीं होती तो ग़ैर-सदस्यों के हाथ भी माल बेचा जाता है पर उन्हें लाभ का कोई भाग नहीं मिलता।

वैसे तो यह ग़ैर-ऋण समितियां बहुत प्रकार की हैं और हो सकती हैं, पर हम भारतीय किसानों की आवश्यकता और अवस्था को दृष्टि में रखते हुए निम्नलिखित समितियों पर ही विचार करेंगे, क्योंकि वे हमारे देश में काम कर रही हैं और किसानों तथा गांवों की उन्नति में बहुत सहायक हो सकती हैं :—

१—सहकारी उपभोक्ता-स्टोर्स (Consumers Stores)

किसानों को बहुत सी वस्तुयें अपने दैनिक जीवन के लिये गांव में ही बनियों और दूकानदारों से लेनी पड़ती हैं, जैसे कपड़ा, जूता, निमक, मसाला, सिगरेट बीड़ी, तेल साबुन आदि। गाँव में लेने में उसे कुछ सुभीता या सुविधा रहती है। गाँव का बनिया उन्हें जानता है, इसलिये माल उधार भी दे देता है। दूसरे शहर जाने में समय और शक्ति की हानि होती है। हाँ जो चीज़ गाँव में नहीं मिलती उसके लिये उन्हें शहर जाना पड़ता है और फिर वहां दाम भी काफ़ी देना पड़ता है।

गांव के बनिये उनकी बेबसी को ख़ूब जानता है और वह उन्हें लूटने से नहीं चूकता। माल भी पुराना, सड़ा गला देता है, और दाम भी मुँह मांगे लेता है। उधार माल देने पर उतने रुपिये का ब्याज भी दामों में शामिल कर लेता है। फिर इस कृपा के लिये वह उससे वादा कर लेता है कि वे अपनी उपज उसी के हाथ एक निश्चित दर पर बेचेंगे। यहां भी उसे हानि होती है। अतः यदि

माल अच्छा और सस्ता खरीदने का कोई दूसरा प्रबन्ध गाँव में ही हो तो उन्हें बहुत लाभ हो।

यही काम सहकारी स्टोर्स करते हैं। उनका उद्देश्य अच्छा और सस्ता माल सदस्यों के हाथ बेचना होता है। इसके अतिरिक्त साल के अन्त में स्टोर को जो लाभ होता है वह सदस्यों में बांटा भी जाता है।

इनके कार्य का ढङ्ग यह है। वे सदस्यों से आवश्यक चीजों की एक सूची ले लेती है। और उनको थोक मूल्य पर उत्पादकों या बड़े २ व्यापारियों से ख़रीद लेते हैं। और फिर यही चीज़ें साधारण बाज़ार के भाव पर सदस्यों के हाथ बेची जाती हैं। साल के अन्त में जब आय व्यय का हिसाब बनता है तो समिति या स्टोर को जो भी लाभ होता है वह सदस्यों की खरीद के अनुपात से उनमें बाँट दिया जाता है। कभी २ सदस्यों को उधार भी सौदा दे दिया जाता है। पर यह प्रथा ठीक नहीं है, पर बग़ैर ऐसा किये स्टोर का चलाना भी सम्भव नहीं, क्योंकि किसानों के पास पैसे की कमी होती है और फिर वे कर्ज़े के लिये महाजन के पास दौड़ते हैं।

इस समिति का प्रबन्ध भी साधारण सभा और उसके द्वारा निर्वाचित पञ्चायत द्वारा होता है। यह पञ्चायत या प्रबन्ध कमेटी बाज़ार के भाव, उत्पादकों और सौदागरों की जानकारी रखती है और स्टोर के सञ्चालन का कार्य समस्त सदस्यों की सहायता से करती है, इसका उत्तरदायित्व परिमित होता है।

सहकारी स्टोर्स आन्दोलन

सबसे पहला सहकरी स्टोर इङ्गलैंड में राकडेल नामक स्थान पर खुला था। वहाँ के २८ जुलाहों ने सन् १८४४ में इस स्टोर की स्थापना की थी। इसीलिये इनको राकडेल पायोनियर्स (Rochdale pioneers) कहा जाता है। इस स्टोर ने काफ़ी उन्नति की

और फिर धीरे २ सारे इङ्गलैंड में स्टोर आन्दोलन फैल गया और बहुत ही सफल हुआ। अन्य देशों में यह स्टोर्स अच्छा काम कर रहे हैं।

भारतवर्ष में स्टोर्स आन्दोलन

हमारे देश में सहकारी स्टोर्स अधिक सफल नहीं हुए गाँवों में तो शायद ही कहीं कोई स्टोर्स खुला हो, अधिकतर वे शहरों में ही खोले गये हैं अभी हाल में मध्यप्रदेश में मूल्य पर नियन्त्रण हो जाने के कारण नाज बेचने के लिये कुछ स्टोर्स देहातों में भी खोले गए हैं।

दोनों गत महायुद्धों के समय जब सामान महंगा हुआ और सरकार ने मूल्य पर नियन्त्रण किया तब बहुत से स्टोर्स हमारे देश में खुले पर युद्धों के समाप्त होने पर वे फिर बन्द होने लगे।

सन् १९४७ से संयुक्त प्रांत में राशन कन्ट्रोल भाव पर देने के लिये शहरों में बहुत से स्टोर्स मुहल्ले २ में खुले पर यह स्टोर्स केवल अन्न, शक्कर, नमक मिट्टी का तेल आदि ही वस्तुएँ बेचते हैं और वस्तुएँ नहीं। पर इन स्टोर्स के प्रबन्ध में बड़ी गड़बड़ी होती है। ईमानदार कार्य कर्त्ता बहुत कम होते हैं और चोर बाज़ार में इनका बहुत सा माल बिक रहा है। इनमें दलबन्दियां भी शीघ्र ही हो जाती हैं। अतएव वे कुछ सफल नहीं कहे जा सकते यद्यपि कार्य तो उनके द्वारा किसी न किसी प्रकार चल ही रहा है।

भारतवर्ष में स्टोर्स की असफलता के कारण

(१) धनी लोग इधर ध्यान नहीं देते क्योंकि इनसे उन्हे कोई विशेष लाभ नहीं होता।

(२ शिक्षित मध्य वर्ग के लोग इधर इस कारण आकर्षित नहीं होते क्योंकि उन्हें शहरों में बहुत सी अच्छी २ दुकानें सामान खरीदने

के लिये मौजूद हैं और उनसे उनका पुराना सम्बन्ध चला आ रहा है और उधार सामान मिल जाता है।

(३) शिक्षा संस्थाओं में स्कूलों और कालिजों में प्रायः स्टोर्स खोले जाते हैं। उनमें से थोड़े ही सफल रहे जैसे डी० ए० वी कालिज लाहौर या हिन्दू विश्व विद्यालय या हिन्दू बोर्डिंग हाउस प्रयाग के स्टोर आदि। पर अधिकतर यही देखा गया है कि विद्यार्थियों के द्वारा खोले गए स्टोर्स अधिक दिन चल नहीं पाते जिसके मुख्य कारण यह है :—

१—माल बेचने की कठिनाई, आरम्भ में कोई वैतानिक कार्य कर्त्ता रुपिये की कमी के कारण नहीं रक्खा जा सकता अतएव विद्यार्थियों की नित्य प्रति बदल २ कर ड्यूटी लगाई जाती हैं। उसमें अधिकतर लोग टाल मटोल करते हैं। ड्यूटी बदलने पर पूरे स्टोर का ठीक २ चार्ज दूसरे को देना असम्भव होता है।

२—कार्य कर्त्ताओं के चुनाव के कारण विद्यार्थियों में दलबंदियां और द्वेष व वैमनस्य आदि उत्पन्न हो जाता है, जिसके कारण स्टोर की बड़ी हानि होती है।

३—कुछ विद्यार्थी चोरी करना भी शुरू कर देते हैं। इस प्रकार स्टोर का ठीक प्रबन्ध करना बहुत कठिन हो जाता है और वे प्रायः असफल रहते हैं।

सहकारी स्टोर्स मज़दूरों और किसानों में चल सकते हैं, पर न उनके पास धन है और न विद्या या शिक्षा, अतः वे लोग भी उन्हें नहीं चला सकते।

हमारे देश में सब से सफल स्टोर मद्रास प्रान्त का ट्रिप्लीकेन स्टोर है, जो १९४० में खोला गया था। इसने खूब उन्नति की। इसकी २० शाखाएँ प्रांत भर में काम कर रही हैं और इसके पास लगभग एक

लाख की पूंजी है। मैसूर का बंगलोर स्टोर भी अच्छा काम कर रहा है।

२—सहकारी क्रय विक्रय समितियां

(co-op. purchase and sale societies)

यह समितियां विशेष रूप से गांव वालों के लिये हैं। यह किसानों के उत्पादक कार्यों या कृषि के लिये आवश्यक वस्तुएँ खरीदती हैं और उनके पैदा किये हुए माल को अच्छे बाजार में अधिक मूल्य पर बेचती हैं। यदि इनका ठीक से प्रबन्ध किया जाय तो यह गांव वालों के लिये बड़ी उपयोगी सहकारी समितियां हैं और हो सकती हैं।

जब उपर्युक्त दोनों काम एक ही समिति करती है तब उसे सहकारी क्रय-विक्रय समिति कहा जाता है। पर जब दो समितियां इन कार्यों को पृथक २ करती है तो एक को क्रय-समिति कहा जाता है और दूसरी को विक्रय समिति कहा जाता है।

(अ) सहकारी क्रय-समितियां (co-op. purchase societies)

किसानों को कृषि कार्य के लिये बीज, खाद और औज़ारों की और घरेलू उद्योग-धंधे वालों को औजारों और कच्चे माल की आवश्यकता रहती । साधारणतया यह लोग गांव के बनियों या शहर के दुकानदारों से यह सब चीजें खरीदते हैं। इसके लिये उन्हें या तो महाजन से रुपिया ऊँचे सूद की दर पर उधार लेना पड़ता है या वस्तुएँ गाँव के बनियों से उधार लेनी होती हैं, जो माल भी खराब देते हैं और मूल्य भी अधिक लेते हैं। अतएव इन सब कठिनाइयों को दूर करने के लिये पहले सरकारी कृषि विभाग ने बीज गोदाम (seed stores) खोले थे और उनमें फिर खेती के औज़ार भी किराए पर दिये जाने लगे, अब यह गोदाम सहकारी विभाग को चलाने के लिये दिये गए हैं,

उनके अतिरिक्त सहकारी विभाग ने सहकारी क्रय-समितियाँ भी इसी काम के लिये खोली हैं, जो किसानों और दस्तकारों दोनों के लिये हैं और वे उनकी उत्पादन सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करती हैं।

यह समितियाँ भी हिस्से के रुपिये और सहकारी बैंकों से कर्ज़ा लेकर थोक भाव से माल खरीदती हैं और वह सस्ता पड़ता है और अच्छा भी होता है। प्रबन्धक कमेटी यह सब कार्य करती है और कुछ थोड़ा सा माल लेकर बाजार भाव से माल सदस्यों में बेचती है। अन्त में यह लाभ भी सदस्यों को मिल जाता है।

समिति के सदस्य और प्रबन्ध

इस समिति में भी कम से कम दस सदस्य होते हैं, जिन्हें कम से कम एक हिस्सा अवश्य लेना होता है। इनकी ज़िम्मेदारी हिस्से के रुपिये तक ही समिति होती है।

समिति की जेनरल कमेटी प्रबन्ध के लिये एक प्रबन्धक कमेटी चुन लेती है वही सब कार्य करती है, प्रत्येक सदस्य को एक ही वोट देने का अधिकार होता है चाहे वह कितने ही हिस्से क्यों न लिये हों। जो लाभ समिति को होता है उसका लगभग चौथाई सुरक्षित-कोष में रख कर शेष सदस्यों में हिस्सों के हिसाब से बट जाता है।

ऐसी समितियाँ हमारे देश में अभी बहुत कम हैं। कुल देश में ३५० से अधिक नहीं हैं। बम्बई, बङ्गाल व पञ्जाब में यह अच्छा काम कर रही हैं।

यह समितियाँ खाने पहनने का या उपभोग का सामान नहीं खरीदती, केवल खेती और उद्योग धंधों के उत्पादन कार्य के लिये ही सामान खरीदती हैं।

(ब) सहकारी विक्रय-समितियां
(Co-op sale societies)

किसानों को अपना माल अच्छे दामों पर बेचने में बड़ी कठिनाइयाँ होती हैं। यह हम पहले बता चुके हैं।

अतः इन्हें दूर करने के लिये ही सहकारी-विक्रय-समितियाँ खोली जाती हैं। इनका उत्तरदायित्व परिमित होता है। यह सदस्यों का माल अच्छे दाम पर खरीद लेती हैं और अच्छे से अच्छे बाजार में उचित समय पर बेचने का प्रबन्ध करती हैं।

साल के अन्त में आय-व्यय का हिसाब लगाकर जो भी लाभ होता है वह सदस्यों के माल के अनुपात से बाँट दिया जाता है।

इस समिति का भी एक मन्त्री या प्रबन्धक होता है और एक प्रबन्धक कमेटी भी होती है। यह प्रबन्धक या मैनेजर बाजार के भावों का अध्ययन करता रहता है। और माल भेजने का उचित प्रबन्ध करता रहता है। वह उचित दामों और कम से कम व्यय पर किसानों को माल बेचता है।

माल सदस्यों से लेते समय कुल दाम का एक चौथाई या आधा उन्हें तुरन्त मिल जाता है। और शेष धीरे २ जैसे माल बिकता जाता है उन्हे अदा कर दिया जाता है।

समस्त देश में शुद्ध विक्रय-समितियाँ लगभग १२०० के गाँवों में काम कर रही हैं, जिनमें से दूध दही बेचने की ३००, हैं। कलकत्ते के निकट ही ऐसी ३५० समितियां काम कर रही हैं।

हमारे प्रान्त में लगभग १०० समितियाँ ईख बेचने के लिये खुली हैं और ५० के लगभग गुड़ बेचने के लिये। कपास बोने और बेचने के लिये भी कुछ समितियां खुली हैं। अधिकतर यह सामतिां क्रय और विक्रय दोनों काम करती हैं।

बम्बई की कपास की विक्रय समितियां सब से अधिक सफल कहीं जाती हैं। उन्होंने कई लाख का लाभ अपने सदस्यों को कराया है।

इन समितियों की विशेष कठिनाइयां यह हैं :—

(१) अकुशल प्रबन्ध,

(२) धन की कमी,

(३) गोदामों की कमी,

(४) सदस्यों में ईर्ष्या द्वेष का भाव,

इनके मुख्य लाभ हैं :—

(१) माल अच्छे दाम पर बिक जाना,

(२) तौल में धोखा न होना,

(३) समाज से शुद्ध वस्तुए मिलना,

(४) बिक्री का रुपिया तत्काल मिल जना और लाभ मिलना,

(५) बाज़ार और व्यापार का ज्ञान गांव वालों को होना।

हमारे देश में सन् १६३६-४० में कुल क्रय-विक्रय-समितियां लगभग ४००० के थीं अब और भी बढ़ गई हैं। इन्होंने १२ करोड़ के लगभग माल खरीदा और बेचा। इनमें से सबसे अधिक संख्या संयुक्त प्रान्त में थी अर्थात् १५०० के लगभग। उसके बाद बिहार का नम्बर था, जहां १४०० के लगभग ऐसी समितियां थीं।

संयुक्त प्रांत में लगभग ८० प्रतिशत और बिहार में २५ पतिशत कुल ईख की उत्पत्ति का भाग और बम्बई में कपास की उत्पत्ति का १५ प्रतिशत भाग इन्हीं समितियों द्वारा बेचा जाता है।

(३) सहकारी चकबन्दी-समितियाँ

(Co-op. Consolidation of holdings Societies)

हमारी खेती के बहुत से दोषों में से एक सब से बड़ा दोष यह है कि हमारे खेत बहुत छोटे और छिटके हुए हैं। इस विषय पर पहले काफ़ी प्रकाश डाला जा चुका है। बिना इन खेतों की चकबन्दी किये बिना खेती की उन्नति सम्भव नहीं। जो सहकारी समितियां खेतों को चकों में करने के लिये खोली जाती हैं वे सहकारी चकबन्दी-समितियां कहलाती हैं।

सब से पहले चकबन्दी का काम सन् १९२० में सहकारी विभाग द्वारा पञ्जाब में प्रथम महायुद्ध के बाद शुरू हुआ और वहां काफ़ी सफलता भी हुई। लगभग १००० एकड़ भूमि की चकबन्दी वहां औसतन प्रति वर्ष होती रही है। यह समितियां इस प्रकार काम करती हैं।

सहकारी विभाग के लोग किसानों को किसी गाँव में जाकर चकबन्दी के लाभ समझाते हैं और जब कम से कम तीन चौथाई किसान तैयार हो जाते हैं तब चकबन्दी समिति बनाली जाती है। समिति के सदस्य इस बात को मान लेते हैं कि यदि दो-तिहाई किसान चकबन्दी की स्कीम को स्वीकार कर लेंगे तो चकबन्दी पूरे गाँव की हो जायगी। अतः सहकारी विभाग के लोग उन गाँव की चकबन्दी स्कीम बनाते हैं और माननीय होने पर काम शुरू कर दिया जाता है। खेतों के बँटवारे में जहाँ तक होता है न्याय किया जाता है और यह भी कह दिया जाता है कि यह स्कीम ५ साल तक काम करेगी, उसके बाद कम से कम यदि दो-तिहाई किसान इस चकबन्दी से लाभ समझते हैं तो फिर वह स्थायी हो जाती है और खेतों की रजिस्ट्री हो जाती है। इससे पञ्जाब में और जहां-जहां भी चकबन्दी हुई है किसानों को आशातीत लाभ हुआ है।

पञ्जाब में इस समय लगभग २२००० समितियां यह काम कर रही हैं। लेकिन हमारे प्रान्त में अभी १०० से अधिक ऐसी समितियां नहीं हैं। साथ ही कुछ विशेष सफलता भी अभी नहीं मिली है।

चकबन्दी से पञ्जाब में बहुत से स्थायी-सुधार खेतों पर हो गये हैं। नए तरीक़ों और औज़ारों का प्रयोग भी बढ़ गया है। बेकार पड़ी हुई भूमि खेती के काम की हो गई है। उपज बढ़ गई है पर हमारे प्रान्त में अभी यह आन्दोलन सफल नहींहै।

(४) सहकारी सिंचाई-समितियाँ
(Co-op. Irrigation Societies)

खेती की उन्नति सिंचाई पर बहुत कुछ निर्भर है। हमारे देश में सिंचाई के साधन अभी बहुत कम हैं। अतः सहकारी सिंचाई-समितियां इस काम के लिये खोली गई हैं। यह आन्दोलन बंगाल में बहुत उन्नति पर है। १६१६ में वहां कुल ६ सिंचाई-समितियां थीं। आज वहां १०‹० से अधिक समितियां यह काम कर रही हैं। इनके लगभग २०, ‹०० सदस्य हैं और इनकी पूंजी भी लग भग ५ लाख के हैं। इनके सदस्यो का उत्तरदायित्व परिमित है। सदस्यों को अपने खेतों के क्षेत्रफल के अनुसार हिस्से लेने पड़ते हैं। शेयर-पूंजी और केन्द्रीय बैंकों से कर्ज़ लेकर यह समितियां सिंचाई के साधन कुएं तालाब इत्यादि बनवाती हैं। फिर सदस्यों से जो पानी का लगान मिलता है उससे वह कर्ज़ा व्याज के साथ अदा कर दिया जाता है।

(५) सहकारी कृषि सुधार समितियाँ
(Co-op. Better farming Societies)

इन समितियों का उद्देश्य कृषि में सुधार करना है। इनके सदस्यों को बहुत सी बातों के लिये बचन देना पड़ता है, और समिति उनकी सहायता करती है और देखती हैं कि वे सुधार हो रहे हैं। जैसे उन्नत या नए बीज का प्रयोग, नई रासायनिक खाद और नये हलों का प्रयोग। बंगाल और बम्बई की कृषि समितियां अच्छा काम कर रही हैं। पञ्जाब में जानवरों की नस्ल की उन्नति के लिये ही समितियां बनाई गई है।

(६) सहकारी पशु-बीमा समितियाँ
(Co-po. cattle Insurance Societies)

ह सियमतियां पशुओं का बीमा करती हैं। किसान इसके सदस्य

होते हैं और उन्हें कम से कम एक पशु का बीमा कराना पड़ता है। पशु के मूल्य के हिसाब से प्रति वर्ष कुछ रुपिया उन्हें पालिसी के प्रीमियम में देना पड़ता है। वे पशु की बीमारियों का इलाज भी करवाती हैं, और इस विषय में किसानों को उचित परामर्श भी देती रहती हैं। पशु के मर जाने पर पालिसी का पूरा रुपिया मय ब्याज के सदस्य को देती हैं। जिसमें वह दूसरा पशु मोल ले सके। साल के अन्त से जो लाभ समिति को होता है वह कुछ बांटा जाता है और कुछ जमा रहता है।

७—सहकारी रहन सहन सुधार समितियां

(Co-op. Better Living Societies)

इन समितियां का उद्देश्य सदस्यों की रहन सहन में सुधार करना है। यह समितियां सामाजिक सुधार का एक कार्य्यक्रम बना लेती हैं और उसके अनुकूल प्रचार करती हैं। मुख्यतः यह पञ्जाब में पाई जाती हैं। वहाँ ऐसी ३०० से अधिक समितियां हैं। यह व्याह शादियों में फिजूलखर्ची को रोकने पर विशेष ध्यान देती हैं। इन्होंने नशीली चीज़ों पर व्यय को रोकने में काफी सफलता प्राप्त की है और लड़के लड़कियों के व्याह में खर्च और दहेज़ बहुत कम करवा दिया है। इसके अतिरिक्त गांव की सफ़ाई, सड़कें बनवाना, घरों को हवादार बनवाना, कुओं और नालियों को साफ़ करवाना और बनवाना आदि बहुत से अच्छे काम कर रही हैं। वास्तव में ऐसी समितियों की आवश्यकता सब प्रान्तों में है।

८—सहकारी गृह-निर्माण समितियां

(Co-op. Housing Societies)

यह समितियां हमारे प्रान्त में तथा अन्य प्रान्तों में भी बहुत हैं, पर यह अधिकतर शहरों में ही काम कर रही है। गांवों में अभी नहीं

हैं। वास्तव में गांवों में इनकी बड़ी आवश्यकता है, पर धनाभाव के कारण वहां इनका खुलना और चलना अभी कठिन है। यह समितियां आधा रुपिया स्वयम् देती हैं और आधा सदस्यों से लेती हैं और मकान बनवाती हैं और उसे उस समय तक गिरवीं रख लेती हैं जब तक मकान के किराए से समिति का आधा, रुपिया अदा नहीं हो जाता। उसके बाद मकान छूट जाता है और सदस्य उसका पूर्णरूप से स्वामी हो जाता है।

हमारे देश में गांवों में रहने वाले घरों का किराया नहीं देते वे अपने बनाए हुए घरों में रहते हैं। इसलिये किराया देना उनके लिये असम्भव है। फिर मकान का आधा खर्च देने के लिये भी उनके पास पैसा नहीं है। यदि गांव में ऐसी समितियां बनें और बैंक या सरकार दीर्घकालीन कर्ज़ा देकर अच्छे हवादार छोटे २ घर कम लागत के बनवा दे तो धीरे २ छोटी २ किस्तों में उनसे रुपिया वसूल किया जा सकता है। गांवों के नीचे दर्जे के लोग बहुत ही खराब मकानों में गुज़र करते हैं। उनके लिये स्वच्छ छोटे २ घर १००), २००) रु० में बनवायें जायं और १० वर्ष में लागत वसूल कर ली जाय।

६—सहकारी-बहु-धंधी या बहु-उद्देशीय-समितियां

(Co-op. Multi-purposes Societies)

अधिकतर अभी तक सहकारी आन्दोलन के अन्तर्गत एक: सहकारी समिति एक ही काम करती थी, जैसे ऋण के लेन देन का कार्य ऋण समिति करती थी, चकबन्दी का दूसरी समिति करती थी, क्रय-विक्रय का तीसरी और सिंचाई का चौथी समिति करती थी। इस का अर्थ यह था कि एक गांव के किसान अपनी आर्थिक व सामाजिक दशा को सुधारने के लिये एक गांव में बहुत सी सहकारी समितियां खोलें और उनके सदस्य बनें। यह बात उनकी वर्त्तमान अवस्था

को देखते हुए असम्भव सी जान पड़ती है, क्योंकि न तो इनके पास इतना पैसा है और न इतनी बुद्धि कि वे इतनी समितियाँ चला सकें और उनसे लाभ उठा सकें। वास्तव में एक समिति का ठीक प्रबन्ध करना और ठीक से चलाना उनके लिये दूभर है। इसलिये कुछ विद्वानों ने बहु धंधी या उद्देश्यीय समितियां गांवों में खोलने का विचार रक्खा है। सन् १६४५ में उत्तर प्रदेश की कांग्रेस सरकार भी इस विचार से सहमत हो गई और उसने किसानों और भारतीय ग्रामीण जनता की भलाई के लिये एक ऐसी योजना बनाई जिसमें बहु-धधी समितियों द्वारा गांवों के निवासियों की सब प्रकार से उन्नति की जा सके। यह योजना सन् १६४७ से कार्य्य रूप में परिणत की जा रही है। इस योजना का मुख्य उद्देश्य यही है कि शीघ्राति शीघ्र गाँव वालों की आर्थिक उन्नति हो सके।

उद्देश्य की पूर्ति के उपाय

हमारी प्रान्तीय सरकार ने अपने विभिन्न राष्ट्रनिर्माण करने वाले विभागों को (जैसे कृषि, सहकारिता, उद्योग तथा ग्राम सुधार) एक में मिला दिया, जिसमें इस योजना को सफल बनाने में सब का सहयोग प्राप्त हो सके और जो कार्यकर्त्ता तथा अफ़सर अलग २ कार्य करते थे वे मिलकर कार्य कर सकें। अब सारा ग्रामोन्नति का कार्य भार केवल सहकारी विभाग पर डाल दिया गया है।

प्रत्येक ज़िले के सहकारी गोदाम-बीज-गोदाम के निकटवर्त्ती १०, १५ गावों को मिलाकर एक मंडल बना दिया गया और प्रत्येक गांव में एक बहु-धंधी समिति खोली गई है। यह सब समितियाँ मिलकर करेंगी और इस प्रकार सब विभागों के सहयोग से सुधार का काम सुगम, सस्ता और तेज़ होगा। किसानों पर भी अधिक भार न पड़ेगा।

इन समितियों के निम्नलिखित कार्य्य होंगे:—

(१) अन्न को पैदावार बढ़ाने के लिये अच्छे बीज, खाद और औज़ारों का प्रबन्ध करना और उन्हें मूल्य पर या किराए पर सदस्यों को देना। आवश्यकतानुसार सिंचाई का भी प्रबन्ध करना।

(२) दूध घी की पैदावार बढ़ाने के लिये यह अच्छी नस्ल की गायों और सांड़ों का प्रबन्ध करती हैं और उनके चारे और खली का भी उचित प्रबन्ध करती है।

(३) गांवों में यह कपास लाने और चरखे के प्रचार का काम करती हैं सूत कातने और कपड़ा बुनने पर जोर देती हैं।

(४) उत्पन्न किये हुये वस्तुओं को अच्छे दामो पर बाहरी बाज़ारों और मडियों में बेचने का प्रबन्ध करती हैं।

समितियों का प्रबन्ध और प्रगति

प्रत्येक गाँव की इस समिति में प्रत्येक पारिवार का एक व्यक्ति सदस्य होगा। इसकी एक प्रबन्धक कमेटी या पंचायत होगी जो सारा काम करेगी। यह समिति भी सहकारी बैंक से आवश्यकतानुसार रुपिया उधार ले सकेगी पर इसका उत्तरदायित्व सीमित या परिमित होगा। प्रत्येक सदस्य को कम से कम एक हिस्सा अवश्य लेना होगा। बीज गोदाम से इन समितियों का घनिष्ट सम्बन्ध रहेगा। और वह इनके कार्य का निरीक्षण भी करेगा और सब प्रकार की सहायता और परामर्श भी देगा।

इस योजना के प्रारम्भ होने के प्रथम वर्ष में ही ६०० उन्नति मंडल और १०,००० ऐसी समितियां प्रतिवर्ष इस प्रान्त में खोली जा रही हैं। आशा है कि इस काय्य में सफलता होगी और किसानों का लाभ होगा।

सहकारी बहु-धंधी समितियों से मुख्य लाभ

(१) किसानों की स्थिति बहुत खराब है। उनके आर्थिक और सामाजिक जीवन में बहुत से दोष आगये हैं। उन सब को एक साथ ही दूर करना होंगा, क्योंकि वे एक दूसरे से सम्बन्धित हैं यह काम एक धंधी समिति नहीं कर सकती, यह बहु-धंधी सहकारी समितियां ही कर सकती हैं।

(२) प्रत्येक समिति के सदस्य होने के लिये किसान को कम से कम एक हिस्सा १), २) का अवश्य खरीदना पड़ेगा। धनाभाव के कारण वह कई समितियों का सदस्य नहीं हो सकता। अतएव बहु-धंधी समिति खुल जाने से वह एक हिस्सा लेकर भी उसका सदस्य हो सकता है और लाभ सारे उठा सकते हैं।

(३) किसानों की जीवन को समस्याएँ एक दूसरे से मिली जुली हैं। अतएव यदि कई समितियां गांव में काम करती हैं तो उनकी सफलता के लिये यह आवश्यक है कि वे मिलजुल कर सहयोग से काम करें और यह अभी ग्रामीणों की दशा देखते हुये सम्भव नहीं है। अतएव एक बहु-धंधी समिति शान्ति पूर्वक सब कामों को कर सकेंगी।

(४) हमारे ग्रामों में शिक्षा की कमी के कारण बहुत सी समितियों को चलाने के लिये कार्य्य कर्त्ताओं का मिलना कठिन है। एक समिति अच्छी तरह से चलाई जा सकती है। कहीं २ उसमें भी कठिनाई पड़ रही है।

(५) गांव के लोग एक गुरू और धर्म के युगों से मानते आये हैं। अतएव अपने सुधार के विषय में भी वे एक ही संस्था में अटल विश्वास और श्रद्धा रख सकते हैं और उससे लाभ उठा सकते हैं।

प्रश्न

(१) सहकारी गैर ऋण-समितियों की क्या उपयोगिता है ? उनके कुछ उदाहरण देकर समझाइये।

(२) सहकारी उपयोगिता-स्टोर का क्या उद्देश्य है ? उनकी प्रगति और सफलता के विषय में आप क्या जानते हैं ?

(३) सहकारी क्रय और विक्रय समितियां कैसे काम करती हैं ? उनसे किसानों को क्या लाभ हैं ?

(४) सहकारी चकबन्दी समिति से किसानों को क्या लाभ हो सकता है ? पंजाब और उत्तर प्रदेश में चकबन्दी समितियों ने क्या उन्नति की है ?

(५) बहु-धन्धी सहकारी समितियों की आवश्यकता और लाभ बताइये और उनके कार्य करने का ढंग समझाइये।

चौंतीसवाँ अध्याय

केन्द्रीय सहकारी संस्थाएं

(Central Co-operative Institutions)

केन्द्रीय सहकारी संस्थाएं प्रारम्भिक सहकारी समितियों की आर्थिक सहायता करती हैं, उनके कार्य का निरीक्षण करती हैं तथा उन्हें उपयोगी परामर्श देती हैं। वे प्रारम्भिक समितियों को अपना सदस्य बना लेती हैं, और उन्हें हिस्से खरीदने होते हैं।

१९०४ के सहकारी कानून में उनका कोई स्थान नहीं था, पर अनुभव ने यह बताया कि प्रारम्भिक समितियों को संगठित करने तथा

उनके धन या पूँजी का प्रबन्ध और निरीक्षण करने के लिये कुछ बड़ी केन्द्रीय संस्थाओं की भी जरूरत है। अतः १९१२ के सहकारी कानून के अनुसार उनका भीं संगठन किया गया। यह संस्थायें तीन प्रकार की हैं।

(१) सहकारी यूनियन (Co.operative Unions)

(२) सहकारी केन्द्रीय बैंक (Co-op. Central Banks)

(३) सहकारी प्रान्तीय बैंक (Co-op. Provincial Banks)

सहकारी यूनियन

(Co-operative Unions)

कुछ प्रारम्भिक सहकारी समितियां मिलकर अपनी एक यूनियन बना लेती हैं।

यह यूनियन मेम्बर समितियों का सम्बन्ध केन्द्रीय बैंक से जोड़ती हैं, उनको बैंक से कर्ज़ दिलवाती हैं। उसके अदायगी की जिम्मेदारी लेती हैं और उनके कामों पर दृष्टि रखती हैं। यह यूनियन दो प्रकार की हैं :—

(१) गारंटी यूनियन (Guarantee Union) यह सदस्य समितियों द्वारा बैंक से लिये हुए कर्जे की अदायगी की गारंटी या जिम्मेदारी लेती है।

(२) सुपर वाइजिंग यूनियन (Supervising Union) यह सदस्य समितियों की निगरानी करती है या उनके कार्य का निरीक्षण करती हैं।

मैकलागन कमेटी के अनुसार (Maclagan Coop. Committee) ये यूनियन्स अपने हेड आफिस से ८ मील के अर्ध व्यास के भीतर की समितियों को अपना सदस्य बनाती हैं, और इन समि-

तियों को अपने प्रतिनिधियों द्वारा यूनियन के कार्य में वोट देने का अधिकार होता है।

(१) गारंटी यूनियन (Guarantee Union)

यह प्रारम्भिक समितियों का एक संगठन है। जिसमें ५ से लेकर ३०, ४० तक समितियां सदस्य होती हैं। इस यूनियन का क्षेत्र अपने दफ्तर से ८ मील के अर्धव्यास के अन्दर होता है। इसकी प्रत्येक सदस्य-समिति यूनियन को यह गारंटी देती है कि उसके (समिति के) दिवालिया हो जाने पर वह अमुक रकम कर्ज़ की अदायगी में दे सकेगी। इस पर सब सदस्य समितियों की गारंटी-रकम को जोड़ने से यूनियन की गारंटी मालूम होती है। उसी सीमा तक यूनियन बैंक को गारंटी देती है।

इन गारंटी यूनियनों को पहले पहल बर्मा में खोला गया था। यहां उन्होंने बहुत अच्छा काम किया और गाँवों में सहकारी आन्दोलन को फैलाते तथा सफल बनाने में बहुत सहायक हुई। मैक लागन कमेटी के जोर देने पर बम्बई, बिहार उड़ीसा और हमारे प्रान्त में भी यूनियन खोली गई।

पर यह यूनियन्स यहां असफल रहीं, क्योंकि यहां ऋण समितियां अपरिमित उत्तर दायित्व के नियम पर संगठित होती हैं और इसलिये गारंटी का कोई अलग प्रश्न नहीं उठता। बर्मा में भी यह कुछ बहुत सफल नहीं हैं और धीरे-धीरे निरीक्षक यूनियन का रूप धारण करती जा रही है। हमारे प्रान्त में भी ऐसा ही हो रहा है।

(२) सुपरवाइजिंग या निरीक्षक यूनियन
(Supervising Unions)

इनका मुख्य काम सदस्य समितियों के कार्य का निरीक्षण करना है। यूनियन की एक प्रबन्ध कमेटी, जो यूनियन कमेटी (Union

Committee) कहलाती है, के हाथ में रहता है, इस कमेटी के सदस्य समितियों के प्रतिनिधि होते हैं। यह कमेटी एक सेक्रेट्री और एक सब-कमेटी (Sub-Commitee) समितियों के कार्य निरीक्षण तथा उन्हें परामर्श देने के लिये नियुक्त करती है।

यूनियन समितियों से ऋण के चिट्ठे बनवाती है, उनका हिसाब देखती है। और उनके सदस्यों को दिये हुए ऋण की वसूलयाबी पर कड़ी दृष्टि रखती है।

यूनियन एक वैतनिक निरीक्षक (Paid Auditor) रखती है, और कभी-कभी कमेटी के सदस्यों को भी समितियों के निरीक्षण के लिये भेजती हैं।

पञ्जाब और उत्तर प्रदेश को छोड़कर और सब प्रान्तों में बहुत अच्छा काम कर रही हैं। पञ्जाब और इस प्रान्त में इस यूनियन के स्थान पर प्राविंशल यूनियन या सहकारी संस्था (Co-operative Institute) यह काम कर रहे हैं।

इस संस्था के काम हैं :—

१—समितियों के संगठन और स्थापन में योग देना।

२—सहकारी सिद्धान्तों को समझाने और प्रचार करने का काम।

३—समितियों के कार्य का निरीक्षण करना।

४—अन्य सब साधनों से सहकारी आन्दोलन की उन्नति करना।

सहकारी केन्द्रीय बैंक

(Co-op. Central Banks)

प्रारम्भिक समितियों का और विशेष कर ऋण-समितियों का काम बिना बाह्य आर्थिक सहायता के चलना असम्भव है, क्योंकि स्वयम् उनके सदस्यों के पास पूँजी नहीं है। अतएव उनके कार्य और सफलता के लिये पूँजी तो कहीं न कहीं से मिलनी ही चाहिये।

गाँवों में किसान महाजन से रुपिया उधार लेता है, क्योंकि उसके पास पूंजी है, पर वह अपनी पूंजी समितियों को क्यों देने लगा। एक तो यह समितियां उसका पेशा छीन रही हैं और उसे हानि पहुँचा रही हैं और दूसरे वह इन समितियों का सदस्य साधारणतया नहीं होता। इसलिये समिति में अपनी बचत को डिपाजिट भी नहीं कर सकता। फिर समिति के डिपाजिट पर व्याज भी बहुत कम मिलता है। अतएव महाजन से कोई आशा समिति को नहीं।

अब रहे शहर के पूंजीपति और बैंक। यह लोग भी समितियों को निम्नलिखित कारणों से रुपिया देना नहीं चाहते :—

१—यह समितियां शहर से दूर गांवों में होती हैं। इसलिये उनसे व्यवहार करना कठिन हो जाता है।

२—वे व्यक्तिगत साख (Individual credit) पर कार्य करते हैं। सम्मिलित साख का उन्हें कोई अनुभव नहीं है।

३—समितियों को हिसाब-किताब रखने की कठिनाई और उनके निरीक्षण की कठिनाई।

१९१२ के सहकारी कानून ने इन कठिनाइयों को समझकर एक एक ऐसी केन्द्रीय सहकारी संस्था खोलने का निश्चय किया था जो शहर के पूंजी पतियों और डिपाजिटरों और प्रारम्भिक समितियों के बीच एक आर्थिक कड़ी बन जाय और समितियों को कम सूद पर आसानी से पूंजी मिल जाय।

यह संस्थाएं ही सेन्ट्रल या केन्द्रीय सहकारी बैंक (Central co-operative Banks) कहलाती हैं।

मैकलागन कमेटी ने प्रत्येक जिले में कम से कम एक ऐसी संस्था खोलने पर जोर दिया था। आज हम देखते हैं कि बहुत से जिलों में, हमारे प्रान्त में, एक से अधिक ऐसे सहकारी बैंक काम कर रहें है।

उनका क्षेत्र न इतना छोटा है कि उनकी कार्य लागत बढ़ जाय और न इतना बड़ा कि उसका प्रबन्ध ठीक न हो सके।

इनके मुख्य कार्य यह है :—

१—शेयर-पूंजी, पूंज़ीपतियों के डिपाज़िट, बड़े बैंको से लिये हुए ऋण से धन एकत्रित करना।

२—समितियों को सदस्य बनाकर उन्हें रुपिया उधार देना।

३—समितियों का संगठन तथा निरीक्षण करना।

यह केन्द्रीय बैंक तीन प्रकार के हैं :—

(१) व्यापारिक केन्द्रीय बैङ्क

यह बैंक साधारण व्यापार के लिये खोले जाते हैं, उनके मालिक व्यक्तिगत पूंजीपति लोग होते हैं। जो उनके शेयर होल्डर्स (Share holders) होते हैं। वे कम सूद पर रुपिया लेकर अधिक सूद पर दूसरों को देते है। और शेष से लाभ उठाते हैं। वे सहकारी नियमों का पालन नहीं करते फिर भी गाँव की प्रारम्भिक समितियों की कुछ सहायता करते हैं। पर इनकी संख्या बहुत ही कम है।

(२) शुद्ध सहकारी बैंङ्क

ये वह सहकारी केन्द्रीय बैंक हैं, जिनके सदस्य केवल प्रारम्भिक समितियाँ ही हो सकती हैं परन्तु ऐसे बैंक भी बहुत ही कम हैं।

(३) मिश्रित केन्द्रीय बैङ्क :—

इस बैङ्क के सदस्य व्यक्ति तथा समितियाँ दोनों होते हैं। इस प्रकार के बैङ्कों को कुशल व्यापारियों और बैङ्करों का अनुभव और ज्ञान का बहुत कुछ लाभ मिल जाता है। यह बहुत कुछ सहकारी सिद्धान्तों पर कार्य करते हैं हमारे देश में केन्द्रीय सहकारी बैङ्क अधिकतर इसी प्रकार के हैं।

इनकी पूँजी निम्नलिखित साधनों से प्राप्त होती है :—

(१) शेयर पूँजी (Share Capital)

(२) सुरक्षित कोष (Reserve Fund)

(३) डिपाजिट

(४) वैङ्कों और सरकार से ऋण।

इन वैङ्कों के पास एक भीतरी पूँजी होती है, जो शेयर पूंजी और सुरक्षित कोष से बनती हैं और उसके आधार पर वे बाहर से ऋण लेते हैं और डिपाजिट स्वीकार करते हैं।

यह उनकी दूसरी और बाहरी पूँजी कही जा सकती है। साधारणतया अपनी भीतरी या निजी पूँजी के बल पर वे उससे आठ दस गुनी पूँजी बाहर से ले लेते हैं। जनता का इन वैङ्कों की आर्थिक स्थिति में काफ़ी विश्वास रहता है।

ऐसे वैङ्कों में जो किसी जिले के हेडक्वारटर पर होते हैं सहकारी जिला वैङ्क (Co-op. District Bank) कहते हैं। और जो जिले के अन्य स्थानों में होते हैं उन्हें केवल सहकारी केन्द्रीय वैङ्क (Co-op. Central Bank कहते हैं।

प्रान्तीय सहकारी वैङ्क

(Provincial co-operative Banks)

लगभग सब बड़े प्रान्तों में एक प्रान्तीय सहकारी वैङ्क काम कर रहा है। हमारे प्रान्तीय सहकारी आन्दोलन का शिर मौर कहा जा सकता है, जिसे अपेक्स वैङ्क (Apex Bank) भी कहते हैं।

यह वैङ्क (प्रान्त के समस्त) सहकारी केन्द्रीय वैङ्कों पर अपना अधिकार और प्रभुत्व रखता है। उन सब को एक सूत्र में बाँधे रहता है। उनकी शेष पूंजी (Surplus capital) को लेता है। और

उनकी पूंजी की कमी को पूरा करता है। उनकी हुंडियों को बट्टे (Discount) पर लेता है; साथ ही यह प्रारम्भिक समितियों के द्वारा ग्रामीण रुपिया बाजार तथा देश के नागरिक रुपिया बाजार में सम्बन्ध जोड़ता है।

केन्द्रीय बैंकों के समान यह भी तीन प्रकार के होते हैं। अर्थात् व्यापारी, शुद्ध सहकारी तथा मिश्रित। अधिकतर यह बैंक हैं, जिनके सदस्य व्यक्ति भी हैं और केन्द्रीय बैंक भी। प्रान्तीय सहकारी बैंक से केन्द्रीय बैंकों तथा प्रारम्भिक समितियों दोनों को बहुत बड़ा आधार मिल जाता है और उनकी आर्थिक नींव दृढ़ हो जाती है।

प्रान्तीय सहकारी बैंकों की पूंजी निम्नलिखित साधनों आता है :—

साधन	प्रतिशत पूंजी
शेयर पूंजी—	५%
सुरक्षित कोष—	५%
डिपाज़िट (व्यक्ति गत्)	५०%
प्रान्तीय तथा केन्द्रीय बैंकों के डिपाजिट—	३०%
समितियों के डिपाजिट—	५%
सरकार के डिपाजिट व अन्य साधन—	५%
	१००%

प्रान्तीय बैंकों के पास पूँजी की कमी नहीं है, वरन् उनके पास बहुत सी पूंजी बेकार रहती है। जिसे वे अन्य बड़े २ बैङ्कों में जमा करते रहते हैं।

अखिल भारत वर्षीय सहकारी बैंक

(All India co-operative Apex bank)

१६१५ में मेक्‌ लगान कमेटी ने एक ऐसे भारती सहकारी बैंक की सिफारिश की थी, परन्तु ऐसा बैंक खोला नहीं गया। १६२६ ई० में अखिल भारतवर्षीय सहकारी प्रान्तीय बैंकों की कान्फ्रेंस ने इस बैंक की कोई विशेष उपयोगिता नहीं समझी क्योंकि प्रान्तीय बैंकों के पास काफी पूंजी थी, और फ़िर १६३५ ई० में भारतीय रिज़र्व बैङ्क के खुल जाने से इसकी कोई आवश्यकता नहीं रह गई।

प्रश्न

(१) केन्द्रीय सहकारी संस्थाए कितने प्रकार की हैं ? उनका महत्व सूक्ष्म रूप से बताइये।

(२) गारन्टी यूनियन क्या है ? क्या यह सफल हुई है ? इसकी असफलता का हमारे प्रान्त में क्या कारण है ?

(३) सहकारी यूनियन से क्या तात्पर्य्य है ? यह कितने प्रकार की हैं ? निरीक्षक यूनियन के क्या लाभ हैं ?

(४) एक केन्द्रीय सहकारी बैङ्क का सहकारी आन्दोलन में क्या महत्व है ?

(५) केन्द्रीय सहकारी बैङ्क कितने प्रकार के हैं ? सहकारी दृष्टि से उनका अपेक्षाकृत मूल्य क्या है ?

(६) प्रान्तीय सहकारी बैंक क्या है ? इसके कार्य्य और पूंजी के साधनों के विषय में क्या जानते हो ? सविस्तार लिखो।

(७) अखिल भारतीय सहकारी बैंक की आवश्यकता पर एक नोट लिखिये।